प्रज्ञोपनिषद

प्रथम मंडल

॥ अथ प्रथमोऽध्यायः ॥

लोककल्याण-जिज्ञासा प्रकरण

लोककल्याणकृद् धर्मधारणा संप्रसारकः।
व्रती यायावरो मान्यो देवर्षिर्ऋषिसत्तमः॥ १॥
अव्याहतगतिं प्राप गन्तुं विष्णुपदं सदा।
नारदो ज्ञानचर्चार्थं स्थित्वा वैकुंठसन्निधौ ॥ २॥
लोककल्याणमेवायमात्मकल्याणवद् यतः।
मेने परार्थपारीणः सुविधामन्यदुर्लभाम् ॥ ३॥
काले काले गतस्तत्र समस्याः कालिकीर्मृशन्।
मतं निश्चित्यस्वीचक्रे भाविनीं कार्यपद्धतिम्॥ ४॥

टीका—लोक कल्याण के लिए जन-जन तक धर्म धारणा का प्रसार-विस्तार करने का व्रत लेकर निरंतर विचरण करने वाले नारद ऋषियों में सर्वश्रेष्ठ गिने गए और देवर्षि के मूर्द्धन्य सम्मान से विभूषित हुए। एकमात्र उन्हीं को यह सुविधा प्राप्त थी कि कभी भी बिना किसी रोक-टोक विष्णुलोक पहुँचें और भगवान् के निकट बैठकर अभीष्ट समय तक प्रत्यक्ष ज्ञानचर्चा करें। यह विशेष सुविधा उन्हें लोक-कल्याण को ही आत्म-कल्याण मानने की परमार्थ परायणता के कारण मिली। वे समय-समय पर भगवान् के समीप पहुँचते और सामयिक समस्याओं पर विचार करके तदनुरूप अपना मत बनाते और भावी कार्यक्रम निर्धारित करते॥ १-४॥

व्याख्या—परमार्थ में सच्ची लगन यदि किसी में हो तो उसे पुण्य अर्जन के अतिरिक्त आत्मकल्याण का लाभ मिलता है। ऐसे व्यक्ति दूसरों को तारते हैं, स्वयं अपनी नैय्या भी जीवन सागर में खे ले जाते हैं।

नारद ऋषि को भगवान् की विशेष अनुकंपा इसी कारण मिली कि उन्होंने परहित को अपना जीवनोद्‌देश्य माना। इसके लिए वे निरंतर भ्रमण करते, जन चेतना जगाते व सत्परामर्श देकर लोगों को सन्मार्ग की राह दिखाते थे। ध्रुव प्रहलाद तथा पार्वती को अपने सामयिक मार्गदर्शन द्वारा उन्होंने लक्ष्य प्राप्ति की ओर अग्रसर किया। इसी विभूति ने उन्हें देवर्षि पद से सम्मानित किया तथा भगवान् के सामीप्य का लाभ भी उन्हें मिला। चूँकि वे सतत जन संपर्क में रहते थे व लोक कल्याण में रत रहते थे इसी कारण सामयिक जन समस्याओं के समाधान हेतु वे परामर्श-मार्गदर्शन हेतु प्रभु के पास पहुँचते थे व अपनी भावी नीति का क्रियान्वयन करते थे ऐसे परमार्थ परायण व्यक्ति जहाँ भी होते हैं, सदैव श्रद्धा सम्मान पाते हैं।

एकदा हृदये तस्य जिज्ञासा समुपस्थिता।
ब्रह्मविद्यावगाहाय कालं उच्चैस्तु प्राप्यते ॥ ५॥
सञ्चितैश्च सुसंस्कारैः कठोरं व्रतसाधनम्।
योगाभ्यासं तपश्चापि कुर्वन्त्येते यथासुखम्॥ ६॥
सामान्यानां जनानां तु मनसः सा स्थितिः सदा।
चंचलास्ति न ते कर्तुं समर्था अधिकं क्वचित्॥ ७॥
अल्पेऽपि चात्मकल्याणसाधनं सरलं न ते।
वर्त्मपश्यंति पृच्छामि भगवंतमस्तु तत्स्वयम्॥ ८॥
सुलभं सर्वमर्त्यानां ब्रह्मज्ञानं भवेद् यथा।
आत्मविज्ञानमेवापि योग-साधनमप्युत ॥ ९॥
नातिरिक्तं जीवचर्यां दृष्टिकोणं नियम्य वा।
सिद्ध्येत् प्रयोजनं लक्ष्यपूरकं जीवनस्य यत्॥ १०॥

टीका—एक बार उनके मन में जिज्ञासा उठी। उच्चस्तर के लोग तो ब्रह्मविद्या के गहन-अवगाहन के लिए समय निकाल लेते हैं। संचित सुसंस्कारिता के कारण कठोर व्रत-साधन, योगाभ्यास एवं तपसाधन भी कर लेते हैं। किंतु सामान्य-जनों की मन:स्थिति-परिस्थिति उथली होती है। ऐसी दशा में वे अधिक कर नहीं पाते। थोड़े में सरलतापूर्वक आत्मकल्याण का साधन बन सके ऐसा मार्गदर्शन उन्हें प्राप्त नहीं होता। अस्तु भगवान् से पूछना चाहिए। सर्वसाधारण की सुविधा का ऐसा ब्रह्मज्ञान, आत्मविज्ञान एवं योग साधन क्या हो सकता है। जिसके लिए कुछ अतिरिक्त न करना पड़े, मात्र दृष्टिकोण एवं जीवनचर्या में थोड़ा परिवर्तन करके ही जीवन लक्ष्य को पूरा करने का प्रयोजन सध जाए॥ ५-१०॥

व्याख्या—जनमानस को स्तर की दृष्टि से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। एक वे जो तत्वदर्शन, साधन तपश्चर्या के मर्म को समझते हैं। उतना कठोर पुरुषार्थ करने योग्य पात्रता भी उन्हें पूर्वजन्म के अर्जित संस्कारों व स्वाध्याय परायणता के कारण मिल जाती है। परंतु देवर्षि नारद ने जन-जन में प्रवेश करके पाया कि दूसरे स्तर के लोगों की संख्या अधिक है, जो जीवन व्यापार में उलझे रहने के कारण अथवा साधना विज्ञान के विस्तृत उपक्रमों से परिचित होने का सौभाग्य न मिल पाने के कारण अध्यात्मविद्या के सूत्रों को समझ नहीं पाते व्यवहार में उतार नहीं पाते तथा ऐसे ही उथली स्थिति में जीते हुए किसी तरह अपना जीवन शकट खींचते हैं।

विशेष लोगों के लिए तो विशेष उपलब्धियाँ हैं। ऐसे असाधारण व्यक्तियों की तो बात ही अलग है उनके जीवन-उपाख्यान यही बताते हैं कि वे विशिष्ट विभूति संपन्न होते हैं।

पिपृच्छां च समाधातुं वैकुंठ नारदो गतः।
गत्वा सम्पूज्य देवेशं देवेनापि तु पूजितः॥ ११॥
कुशलक्षेमचर्चांतेऽभीष्टे चर्चाऽभवद् द्वयोः।
संसारस्य च कलयाणकामना संयुता च या॥ १२॥

टीका—इस पूछताछ के लिए देवर्षि नारद बैकुंठ लोक पहुँचे, नारद ने नमन-वंदन किया, भगवान् ने भी उन्हें सम्मानित किया। परस्पर कुशलक्षेम के उपरांत अभीष्ट प्रयोजनों पर चर्चा प्रारंभ हुई जो संसार की कल्याण-कामना से युक्त थी॥ ११-१२॥

नारद उवाच

देवर्षिः परमप्रीतः पप्रच्छ विनयान्वितः।
नेतुं जीवनचर्यां वै साधनामयतां प्रभो॥ १३॥
प्राप्तुं च परमं लक्ष्यमुपायं सरलं वद।
समाविष्टो भवेद्यस्तु सामान्ये जनजीवने॥ १४॥
विहाय स्वगृहं नैव गन्तुं विवशता भवेत्।
असामान्या जनार्हा च तितिक्षा यत्र नो तपः॥ १५॥

टीका—प्रसन्नचित्त देवर्षि ने विनयपूर्वक पूछा, देव संसार में जीवनचर्या को ही साधनामय बना लेने और परमलक्ष्य प्राप्त कर सकने का सरल उपाय बताएँ, ऐसा सरल जिसे सामान्य जन-जीवन में समाविष्ट करना कठिन न हो। घर छोड़कर कहीं न जाना पड़े और ऐसी तप-तितीक्षा न करनी पड़े जिसे सामान्य स्तर के लोग न कर सकें॥ १३-१५॥

व्याख्या—भगवान् से देवर्षि जो प्रश्न पूछ रहे हैं वे सारगर्भित हैं। सामान्यजन भक्ति-वैराग्य तप का मोटा अर्थ यही समझते हैं कि इसके लिए एकांत साधना के मर्म को नहीं जानते। इसी जीवन साधना, प्रभु परायण करने उपवन जाने की आवश्यकता पड़ती है। पर इस उच्चस्तरीय तपश्चर्या के प्रारंभिक चरण जीवन साधना जीवन के विधि-विधानों को जानने, उन्हें व्यवहार में कैसे उतारा जाए इस पक्ष को विस्तार से खोलने की वे भगवान् से विनती करते हैं।

रामायण में काकभुशुंडि जी ने इसी प्रकार का मार्गदर्शन गरुड़जी को दिया है। जीवन साधना कैसे की जाए इसका प्रत्यक्ष उदाहरण राजा जनक के जीवन में भी देखने को मिलता है।

जिज्ञासां नारदस्याथ ज्ञात्वा सम्मुमुदे हरिः।
उवाच च महर्षे त्वमात्थ यन्मे मनीषितम्॥ १६॥
युगानुरूपं सामर्थ्यं पश्यन्नत्र प्रसंगके।
निर्धारणस्य चर्चाया व्यापकत्वं समीप्सितम्॥ १७॥

टीका—नारद की जिज्ञासा जानकर भगवान् बहुत प्रसन्न हुए और बोले, देवर्षि आप तो हमारे मन की बात कह रहे हैं। समय की आवश्यकता को देखते हुए इस प्रसंग पर चर्चा होना और निर्धारण को व्यापक किया जाना आवश्यक भी था॥ १६-१७॥

व्याख्या—जो जिज्ञासा भक्त के मन में घुमड़ रही थी वही भगवान् के भी अंतः में विद्यमान थी। भक्त हमेशा भगवान् की आकांक्षा के अनुरूप ही विचारते हैं एवं अपनी गतिविधियों का खाका बनाते हैं। सच्चे भक्त की कसौटी पर देवर्षि खरे उतरते हैं, जभी वे जन-सामान्य की समस्या को लेकर प्रभु से मार्गदर्शन माँगते हैं।

ऋषिवर नारद से श्रेष्ठ और हो ही कौन सकता था जो सामयिक आवश्यकतानुसार अपने प्रभु के मन की इच्छा जानें व उनकी प्रेरणाओं-समस्याओं के समाधानों को जन-जन के गले उतार सकें।

अधुनास्ति हि सर्वत्राऽनास्था क्रमपरंपरा।
अदूरदर्शिताग्रस्ता जना विस्मृत्यगौरवम्॥ १८॥
अचिंत्यचिंतना जाता अयोग्याचरणास्तथा।
फलतः रोग शोकार्तिकलहक्लेशनाशजम्॥ १९॥
वातावरणमुत्पन्नं भीषणाश्च विभीषिकाः।
अस्तित्वं च धरित्र्यास्तु संदिग्धं कुर्वतेऽनिशम्॥ २०॥

टीका—इन दिनों सर्वत्र अनास्था का दौर है। अदूरदर्शिता ग्रस्त हो जाने से लोग मानवी गरिमा को भूल गए हैं। अचिंत्य-चिंतन और अनुपयुक्त आचरण में संलग्न हो रहे हैं, फलतः रोग, शोक और कलह, भय, विनाश का वातावरण बन रहा है। भीषण-विभीषिकाएँ निरंतर धरती के अस्तित्त्व तक को चुनौती दे रही हैं॥ १८-२०॥

व्याख्या—यहाँ भगवान आज की परिस्थितियों पर संकेत करते हुए अनास्था की विवेचना करते हैं व वातावरण में संव्याप्त कलुष तथा भयावह परिस्थितियों का कारण श्री श्रद्धा तत्त्व की अवमानना को ही बताते हैं।

मनुष्य के चिंतन और व्यवहार से ही आचरण बनता है। वातावरण से परिस्थिति बनती है और वही सुख-दुःख, उत्थान-पतन का निर्धारण करती है। जमाना बुरा है, कलियुग का दौर है, परिस्थितियाँ कुछ प्रतिकूल बन गई हैं, भाग्य चक्र कुछ उलटा चल रहा है ऐसा कहकर लोग मन को हल्का करते हैं, पर इससे समाधान कुछ नहीं निकलता। जन समाज में से ही तो अग्रदूत निकलते हैं। प्रतिकूलता का दोषी मूर्द्धन्य राजनेताओं को भी ठहराया जा सकता है, पर भूलना नहीं चाहिए कि इन सबका उद्गम केंद्र मानवी अंतराल ही है। आज की विषम परिस्थितियों को बदलने की जो आवश्यकता समझते हैं, उन्हें कारण तक तह तक जाना ही होगा। अन्यथा सूखे पेड़ को

मुरझाते वृक्ष को हरा बनाने के लिए जड़ की उपेक्षा करते पत्ते सींचने जैसी विडंबना ही चलती रहेगी।

आज अंत: के उद्गम से निकलने तथा व्यक्ति त्व व परिस्थितियों का निर्माण करने वाली आस्थाओं का स्तर गिर गया है। मनुष्य ने अपनी गरिमा खो दी है और संकीर्णस्वार्थ परता का विलासी परिपोषण ही उसका जीवन लक्ष्य बन गया है। वैभव संपादन और उद्धत प्रदर्शन, उच्छृंखल दुरुपयोग ही सबको प्रिय है। समृद्धि बढ़ रही है, पर उसके साथ रोग कलह भी प्रगति पर है। प्रतिभाओं की कमी नहीं पर श्रेष्ठता संवर्द्धन व निकृष्टता उन्मूलन हेतु प्रयास ही नहीं बन पड़ते। लोकमानस पर पशु प्रवृत्तियों का ही आधिपत्य है, आदर्शों के प्रति लोगों का न तो रुझान है, न उमंग ही। दुर्भिक्ष संपदा का नहीं आस्थाओं का है। स्वास्थ्य की गिरावट, मनोरोगों की वृद्धि, अपराधवृत्ति तथा उद्दंडता सारे वातावरण में संव्याप्त है और ये ही अदृश्य जगत में उस परिस्थिति को विनिर्मित कर रही हैं, जिसके रहते धरती महाविनाश युद्ध की विभीषिकाओं के बिलकुल समीप आ खड़ी हुई है।

भगवान् ने यहाँ स्पष्ट संकेत युग की समस्याओं के मूल कारण आस्था संकट की ओर किया है। सड़ी कीचड़ में से मक्खी, मच्छर, कृमि कीटक, विषाणु के उभार उठते हैं। रक्त की विषाक्त ता फुंसियों के रूप में ज्वर प्रदाह के रूप में, प्रकट होती है। ऐसे में प्रयास कहाँ हो ताकि मूल कारण को हटाया जा सके। अंत की निकृष्टता को मिटाया जा सके। इसी तथ्य की विवेचना वे करते हैं।

ईदृश्यां च दशायां तु स्वप्रतिज्ञानुसारतः।
जाता नवावतारस्य व्यवस्थायाः स्थितिः स्वयम्॥ २१॥
प्रज्ञावतारनाम्ना तु सर्वेषां हि मनःस्थितौ॥ २२॥
परिस्थितौ च विपुलं चेष्टते परिवर्तनम्।
सृष्टिक्रमे चतुर्विंश एष निर्धार्यतां क्रमः॥ २३॥

टीका—ऐसी दशा में अपनी प्रतिज्ञानुसार नए अवतार की व्यवस्था बन गई। प्रज्ञावतार नाम से इस युग का अवतरण भूलोक के मनुष्य समुदाय की मन:स्थिति एवं परिस्थिति में भारी परिवर्तन करने जा रहा है। सृष्टि क्रम में इस प्रकार का यह चौबीसवाँ निर्धारण है॥ २१-२३॥

व्याख्या—आस्था संकट के दौर में भगवान् हमेशा अपनी प्रतिज्ञा पूरी करते हैं ऐसी परिस्थिति में ईश्वरीय सत्ता के अवतरण का उद्देश्य एक ही रहता है। गीता में कहा है

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे॥

गोस्वामी तुलसीदास के अनुसार

असुर मारि थापहिं सुरन्ह, राखहि निज श्रुति सेतु।
जग विस्तारहिं विशद यश, राम जन्म कर हेतु॥

भावार्थ यह है कि अधर्म का नाश और धर्म की स्थापना अवतार प्रक्रिया का मूलभूत प्रयोजन है। यह संकल्प विराट् है और अनादिकाल से यथावत् चला आ रहा है।

भूतकाल के अवतारों में प्रारंभिक का कार्य क्षेत्र भौतिक परिस्थितियों से जूझना भर था। उसके बाद वालों को अनाचारियों से लड़ना पड़ा। राम को मर्यादा पुरुषोत्तम, कृष्ण को पूर्ण पुरुष और बुद्ध को विवेक का देवता कहा जाता है। प्रज्ञावतार इन सबका उत्तरार्द्ध माना जा सकता है। उसका कार्य अपेक्षाकृत अधिक कठिन और व्यापक है। उसे मात्र सामयिक समस्याओं एवं व्यक्तिगत उद्दंडताओं से ही नहीं जूझना है वरन् लोकमानस में ऐसे आदर्शों का बीजारोपण, अभिवर्द्धन तथा परिपोषण क्रियान्वयन करना है जो सतयुग जैसी भावना और रामराज्य जैसी व्यवस्था के लिए आवश्यक अंत:प्रेरणा व्यापक क्षेत्र में उत्पन्न कर सकें। लक्ष्य और कार्य की गरिमा एवं व्यापकता को देखते हुए प्रज्ञावतार की कलाएँ चौबीस होना स्वाभाविक है।

बदलती परिस्थितियों में बदलते आधार भगवान् को भी अपनाने पड़े हैं। विश्व विकास की क्रम व्यवस्था के अनुरूप अवतार का स्तर एवं कार्यक्षेत्र भी विस्तृत होता चला गया है। मनुष्य जब तक साधन प्रधान और कार्य प्रधान था तब तक शास्त्र और साधनों के सहारे काम चल गया। आज की परिस्थितियों में बुद्धि तत्त्व की प्रधानता है। मन ही सर्वत्र छाया हुआ है। महत्वाकांक्षाओं के क्षेत्र में अनात्म तत्व की भरमार होने से संपन्नता और समर्थता का दुरुपयोग ही बन पड़ रहा है। महामारी सीमित क्षेत्र तक नहीं रही, उसने अपने प्रभाव क्षेत्र में समूची मानव जाति को जकड़ लिया है। विज्ञान ने दुनिया को बहुत छोटी कर दिया है और गतिशीलता को अत्यधिक द्रुतगामी। ऐसी दशा में भगवान् का अवतार युगांतरीय चेतना के रूप में ही हो सकता है। जनमानस के सुविस्तृत क्षेत्र में अपने पुण्य प्रवाह का परिचय देना इसी रूप में संभव हो सकता है, जिसमें कि प्रज्ञावतार के प्रादुर्भाव की सूचना संभावना सामने है।

वरिष्ठता नराणां च श्रद्धाप्रज्ञाऽवलंबिता।
निष्ठाश्रिता च व्यक्तित्वं सर्वेषामत्र संस्थितम्॥ २४॥
न्यूनाधिकत्वहेतोर्हि क्षीयते वर्धते च तत्।
उत्थानसुखजं पातदु:खजं जायते वृतिः॥ २४॥
अधुना मानवैस्त्यक्ता श्रेष्ठताऽऽभ्यंतरस्थिता।
फलत आत्मनेऽन्येभ्यः संकटान् भावयंति ते॥ २६॥

टीका—मनुष्य की वरिष्ठता श्रद्धा, प्रज्ञा और निष्ठा पर अवलंबित है। इन्हीं की न्यूनाधिकता से उसका व्यक्ति त्व

उठता-गिरता है। इसी व्यक्तित्व के उठने-गिरने के कारण उत्थानजन्य सुखों और पतनजन्य दु:खों का वातावरण बनता है। इन दिनों मनुष्यों ने आंतरिक वरिष्ठता गँवा दी है। फलत: अपने तथा सबके लिए संकट उत्पन्न कर रहे हैं॥ २४-२६॥

व्याख्या—श्रद्धा अर्थात् सद्‌भाव, प्रज्ञा अर्थात् सद्ज्ञान एवं निष्ठा अर्थात् सत्कर्म। तीनों का समन्वित स्वरूप ही व्यक्तित्व का निर्माण करता है। श्रद्धा अंत:करण से प्रस्फुटित होने वाले आदर्शों के प्रति प्रेम है। इस गंगोत्री से नि:सृत होने वाली पवित्र धारा ही सद्ज्ञान और सत्कर्म से मिलकर पतिपावनी गंगा का स्वरूप ले लेती है। इन तीनों का विकास-उत्थान ही मानव को महामानव बनाता है तथा इस क्षेत्र का पतन ही उसे निकृष्ट स्तर का जीवनयापन करने को विवश करता है।

मनुष्य अपनी वरिष्ठता का कारण अपने वैभव, पुरुषार्थ, बुद्धिबल, धनबल को मानता है, जबकि यह मान्यता नितांत मिथ्या है। व्यक्तित्व का निर्धारण तो अपना ही स्व-अंत:करण करता है। निर्णय, निर्धारण यहाँ से होते हैं। मन और शरीर स्वामिभक्त सेवक की तरह अंत:करण की आकांक्षा पूरी करने के लिए तत्परता और स्फूर्ति से लगे रहते हैं। उन्नति-अवनति का भाग्य विधान यहीं लिखा जाता है।

अंत:करण से सद्‌भाव न उपजेगा तो सद्ज्ञान व सद्आचरण किस प्रकार फलीभूत होगा? वस्तुत: तीनों ही परस्पर पूरक हैं।

यदा मनुष्यो नात्मानमात्मनोद्धर्तुमर्हति।
कृतावतारोऽलं तस्य स्थितिं संशोधयाम्यहम्॥ २७॥
क्रमेऽस्मिन्सुविधायुक्ता: साधनै: सहिता नरा।
विभीषिकायां नाशस्याऽनास्थासंकटपाशिता:॥ २८॥
तन्निवारणहेतोश्च कालेऽस्मिंश्चलदलोपमे।
प्रज्ञावताररूपेऽवतराम्यत्र तु पूर्ववत्॥ २९॥
त्रयोविंशतिवारं यद्भ्रष्टं संतुलनं भुवि।
संस्थापितं मयैवेतद् भ्रष्टं संतुलयाम्यहम्॥ ३०॥

टीका—जब मनुष्य अपने बलबूते दल-दल से उबर नहीं पाते तो मुझे अवतार लेकर परिस्थितियाँ सुधारनी पड़ती हैं। इस बार सुविधा साधन रहते हुए भी मनुष्यों को जिस विनाश विभीषिका में फँसना पड़ रहा है उसका मूल कारण आस्था संकट ही है। उसके निवारण हेतु मुझे इस अस्थिर समय में इस बार प्रज्ञावतार के रूप में अवतरित होना है। पिछले तेईस बार की तरह इस बार भी बिगड़े संतुलन को फिर सँभालना है॥ २७-३०॥

व्याख्या—मानवी पुरुषार्थ की भी अपनी महिमा महत्ता है लेकिन जब मनुष्य दुर्बुद्धिजन्य विभीषिकाओं के सामने स्वयं को विवश, असहाय अनुभव करता है, तब परिस्थितियाँ अवतार प्रकटीकरण की बनती हैं। भगवान् ने हर बार मानवता के परित्राण हेतु असंतुलन की स्थिति में अवतार लिया है और सृष्टि की डूबती नैय्या को पार लगाया है।

स्रष्टा अपनी अद्‌भुत कलाकृति विश्व वसुधा को, मानवी सत्ता को सुरम्य वाटिका को विनाश के गर्त में गिरने से पूर्व ही बचाता और अपनी सक्रियता का परिचय देता है तथा परिस्थितियों को उलटने का चमत्कार उत्पन्न करता है। यही अवतार है। संकट के सामान्य स्तर से तो मनुष्य ही निपट लेते हैं, पर जब असामान्य स्तर की विपन्नता उत्पन्न हो जाती है तो स्रष्टा को स्वयं ही अपने आयुध सँभालने पड़ते हैं। उत्थान के साधन जुटाना भी कठिन है पर पतन के गर्त में द्रुतगति से गिरने वाले लोकमानस को उलट देना अति कठिन है। इस कठिन कार्य को स्रष्टा ने समय-समय पर स्वयं ही संपन्न किया है। आज की विषम वेला में भी अवतरण की परंपरा को अपनी लीला संदोह प्रस्तुत करते कोई भी प्रज्ञावान प्रत्यक्ष देख सकता है।

अवतार प्रक्रिया आदिकाल से चली आ रही है, और आदिकाल से अब तक मनुष्य जाति ने अनेक प्रकार के उतार-चढ़ाव देखे हैं। स्वाभाविक ही भिन्न-भिन्न कालों मं समस्याएँ और असंतुलन भिन्न-भिन्न प्रकार के रहे हैं।

जब जिस प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं, तब उसी का समाधान करने के लिए एक दिव्य चेतना, जिसे अवतार कहा गया है प्रादुर्भूत हुई है और उसी क्रम से अवतार युग प्रवाह को उलटने के लिए अपनी लीलाएँ रचते रहे हैं। सृष्टि के आरंभ में जल ही जल था। प्राणी जगत में जलचरों की ही प्रधानता थी, तब उस असंतुलन को मत्स्यावतार ने साधा। जब जल और थल पर प्राणियों की हलचलें बढ़ीं तो उनके अनुरूप क्षमता संपन्न कच्छप काया ने संतुलन बनाया। उन्हीं के नेतृत्व में समुद्र मंथन के रूप में प्रकृति दोहन का पुरुषार्थ संपन्न हुआ। हिरण्याक्ष ने समुद्र में छिपी संपदा को ढूँढ़कर उसे अपने ही एकाधिकार में कर लिया तो भगवान् का वाराह रूप ही उसका दमन करने में समर्थ सक्षम हो सका। जब मनुष्य अपनी आवश्यकता से अधिक कमाने में समर्थ हो गया तो संकीर्ण स्वार्थपरता से प्रेरित संचय की प्रवृत्ति भी बढ़ी। संचय और उपभोग की पशु प्रवृत्ति को उदारता में परिणत करने के लिए भगवान् वामन के रूप में छोटे बौने और पिछड़े लोग उठ खड़े हुए और बलि जैसे संपन्न व्यक्तियों को स्वेच्छापूर्वक उदारता अपनाने के लिए सहमत कर लिया गया।

उच्छृंखलता जब उद्धत और उद्दंड हो जाती है तब शालीनता से उसका शमन नहीं हो सकता। प्रत्याक्रमण द्वारा ही उसका दमन करना पड़ता है। ऐसे अवसरों पर नरसिंहों

की आवश्यकता पड़ती है और उन्हीं का पराक्रम अग्रणी रहता है। उन आदिम परिस्थितियों में भगवान् ने नर और व्याघ्र का समन्वय आवश्यक समझा तथा नृसिंह अवतार के रूप में दुष्टता के दमन एवं सज्जनता के संरक्षण का आश्वासन पूरा किया।

इसके बाद परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध के अवतार आते हैं। इन सभी का अवतरण बढ़ते हुए अनाचरण के प्रतिरोध और सदाचरण के समर्थन पोषण के उद्देश्य के लिए हुआ। परशुराम ने शस्त्रबल से सामंतवादी निरंकुश आधिपत्य को समाप्त किया। राम ने मर्यादाओं के पालन पर जोर दिया तो कृष्ण ने अपने समय की धूर्तता और छल-छद्म से घिरी हुई परिस्थितियों का दमन विषस्य विषमौषधम् की नीति अपना कर किया। कृष्ण चरित्र में कूटनीतिक दूरदर्शिता की इसीलिए प्रधानता है कि इस समय की परिस्थितियों में सीधी उँगली से घी नहीं निकल पा रहा था इसीलिए काँटे से काँटा निकालने का उपाय अपनाकर अवतार प्रयोजन को पूरा करना पड़ा।

बुद्ध के बुद्धवाद का स्वरूप विचार क्रांति था। पूर्वार्द्ध में धर्म चक्र का प्रवर्तन हुआ था। धर्म धारणा का सम्मान करते हुए लाखों व्यक्तियों ने उसमें भाव भरा योगदान दिया था। आनंद जैसे मनीषी, हर्षवर्द्धन जैसे प्रतिभाशाली बड़ी संख्या में उस अभियान के अंग बने थे। इससे पिछले अवतारों का कार्यक्षेत्र सीमित रहा था, क्योंकि समस्याएँ छोटी और स्थानीय थीं। बुद्धकाल तक समाज का विस्तार बड़े क्षेत्र में हो गया था इसलिए बुद्ध का अभियान भी भारत की सीमाओं तक सीमित नहीं रहा और उन दिनों जितना व्यापक प्रयास संभव था उतना अपनाया गया। धर्मचक्र प्रवर्तन भारत से एशिया भर में फैला और उससे भी आगे बढ़कर उसने अन्य महाद्वीपों तक अपना आलोक बाँटा।

प्रज्ञावतार, बुद्धावतार का उत्तरार्द्ध है। बुद्धि प्रधान युग की समस्याएँ भी चिंतन प्रधान होती हैं। मान्यताएँ, विचारणाएँ, इच्छाएँ ही प्रेरणा केंद्र होती हैं और उन्हीं के प्रवाह में सारा समाज बहता है। ऐसे समय में अवतार का स्वरूप भी तदनुरूप ही हो सकता है। लोकमानस को अवांछनीयता, अनैतिकता एवं मूढ़ मान्यता से विरत करने वाली विचारक्रांति ही अपने समय की समस्याओं का समाधान कर सकती है।

आज आस्था संकट के कारण मनुष्य सुख-समृद्धि सं संपन्न होने के बावजूद जिस जंजाल में स्वयं फँसा हुआ है एवं अन्यों के लिए विपत्ति बना हुआ है, उसका निवारण आस्था प्रज्ञारूपी अस्त्र द्वारा ही संभव है।

परस्पर संवाद में वर्तमान स्थिति का विश्लेषण कर भगवान् इसीलिए प्रज्ञावतार के प्रकटीकरण की परिस्थितियाँ देवर्षि को समझाते हैं और पिछले अवतारों का स्मरण दिलाते हुए इस बार भी विभीषिका निवारण हेतु अपनी शक्तियों का संतुलन स्थापना के लिए आवश्यक प्रतिपादित करते हैं।

निराकारत्वहेतोश्च प्रेरणां कर्तुमीश्वरः।
शरीरिणश्च गृह्णामि गतिसंचालने ततः॥ ३१॥
अपेक्ष्यंते वरिष्ठाश्च आत्मनः कार्यसिद्धये।
अग्रदूतानिमान्कर्तुं पुष्णाम्यविन्ध्य सर्वथा॥ ३२॥
ततो निजप्रभावेण वर्चस्वेन च ते समम्।
समुदायं दिशां नेतुं भिन्नां कुर्युर्वृतिं पराम्॥ ३३॥

टीका—निराकार होने के कारण मैं प्रेरणा ही भर सकता हूँ। गतिविधियों के लिए शरीरधारियों का आश्रय लेना पड़ता है इसके लिए वरिष्ठ आत्माएँ चाहिए। इन दिनों अग्रदूत बनाने के लिए उन्हीं को खोजना, उभारना और सामर्थ्यवान् बनाना है। जिससे कि अपने प्रभाव, वर्चस्व से वे समूचे समुदाय की दिशा बदल सकें। समूचे वातावरण में परिवर्तन प्रस्तुत कर सकें॥ ३१-३३॥

व्याख्या—अवतार प्रकटीकरण का हमेशा यही स्वरूप रहा है। भगवान् प्रेरणा देते हैं एवं उस आदर्शवादी प्रेरणा को शरीरधारी क्रिया में परिणत करते हैं। ईश्वरीयसत्ता जब भी अवतरित होती है, उसके साथ लोक कल्याण की भावनाओं से संपन्न देवात्माएँ भी धरती पर अवतरित होती हैं। वरिष्ठ अग्रगामी अवतारों के पार्षदगण ही इस प्रेरणा संचार को ग्रहण करते हैं।

संयुक्तश्च प्रयासोऽयं कर्त्तव्यो नारद शृणु।
प्रेरयामि तु संपर्कं कुरु साधय पोषय॥ ३४॥
वरिष्ठात्मान एवं च व्यक्त्वा सर्वाः प्रसुप्तिकाः।
युगमानवकार्यं च साधयिष्यंति पोषिताः॥ ३५॥
अनेनागमनं ते तु ममामंत्रणमेव च।
द्वयोः पक्षगतं सिद्धं प्रयोजनमिदं ततः॥ ३६॥

टीका—हे नारद इसके लिए हम लोग संयुक्त प्रयास करें। हम प्रेरणा भरें, आप संपर्क साधें और उभारें। इस प्रकार वरिष्ठ आत्माओं की प्रसुप्ति जागेगी और वे युग मानवों की भूमिका निभा सकने में समर्थ हो सकेंगे। इससे आपके आगमन और हमारे आमंत्रण का उभयपक्षीय प्रयोजन पूरा होगा॥ ३४-३६॥

व्याख्या—संयुक्त प्रयास ही हमेशा फलदायी होते हैं। प्रेरणा निराकार सत्ता की तथा उसका सुनियोजित क्रियान्वयन दोनों मिलकर प्रयोजन को समग्र सफल बनाते हैं।

रामकृष्ण परमहंस तथा विवेकानंद समर्थ गुरु रामदास तथा शिवाजी, श्रीकृष्ण और अर्जुन, राम और हनुमान, स्वामी विरजानंद जी तथा दयानंद ऐसे संयुक्त प्रयासों के उदाहरण हैं। प्रेरणा हमेशा इसी रूप में आती है और पार्षद उसे क्रियान्वित करते हैं।

भगवान् की चेतना और जाग्रत आत्माओं का सहयोग इस उदाहरण से समझा जा सकता है जिसमं कम शक्ति सामर्थ्य होते हुए भी दो व्यक्ति मिलकर परस्पर पूरक बन गए।

सोत्सुकं नारदोऽपृच्छद्देवात्र किमपेक्ष्यते।
कथं ज्ञेया वरिष्ठास्ते किं शिक्ष्याःकारयामि किम्॥ ३७॥
येन युगसंधिकाले ते मूर्द्धन्या यांतु धन्यताम्।
समयश्चापि धन्यः स्यात्तात् तत्सृज युगविधिम्॥ ३८॥
पूर्वसंचितसंस्काराः श्रुत्वा युगनिमंत्रणम्।
मौनाः स्थातुं न शक्ष्यंति चौत्सुक्यात् संगतास्ततः॥ ३९॥

टीका—तब नारद ने उत्सुकतापूर्वक पूछा हे देव इसके लिए क्या करने की आवश्यकता है? वरिष्ठों को कैसे ढूँढ़ा जाए? उन्हें क्या सिखाया जाए और क्या कराया जाए? जिससे युग-संधि की वेला में अपनी भूमिका से मूर्द्धन्य आत्माएँ स्वयं धन्य बन सकें और समय को धन्य बना सकें। भगवान् बोले, तात युग सृजन का अभियान आरंभ करना चाहिए, जिनमें पूर्व संचित संस्कार होंगे, वे युग निमंत्रण सुनकर मौन बैठे न रह सकेंगे, उत्सुकता प्रकट करेंगे, समीप आवेंगे और परस्पर संबद्ध होंगे॥ ३७-३८॥

व्याख्या—जागृत आत्माएँ कभी चुप बैठी ही नहीं रह सकतीं। उनके अर्जित संस्कार व सत्साहस युग की पुकार सुनकर उन्हें आगे बढ़ने व अवतार के प्रयोजनों हेतु क्रियाशील होने को बाध्य कर देते हैं।

सत्पात्रतां गतास्ते च तत्त्वज्ञानेन बोधिताः।
कार्याः संक्षिप्तसारेण यदमृतमिति स्मृतम्॥ ४०॥
तुलना कल्पवृक्षेण मणिना पारदेन च।
यस्य जाता सदा तत्त्वज्ञानं तत्ते वदाम्यहम्॥ ४१॥
तत्त्वचिंतनतः प्रज्ञा जागर्त्यात्मविनिर्मितौ।
प्राज्ञः प्रसज्जते चात्मविनिर्माणे च संभवे॥ ४२॥
तस्यातिसरला विश्वनिर्माणस्यास्ति भूमिका।
कठिना दृश्यमानापि ज्ञानं कर्म भवेत्ततः॥ ४३॥
प्रयोजनानि सिद्ध्यंति कर्मणा नात्र संशयः।
सद्ज्ञान देव्यास्तस्यास्तु महाप्रज्ञेति यास्मृता॥ ४४॥
आराधनोपासना संसाधनाया उपक्रमः।
व्यापकस्तु प्रकर्तव्यो विश्वव्यापी यथा भवेत्॥ ४५॥

टीका—ऐसे लोगों को सत्पात्र माना जाए और उन्हें उस तत्वज्ञान को सार संक्षेप में हृदयगंम कराया जाए, जिसे अमृत कहा गया है। जिसकी तुलना सदा पारसमणि और कल्पवृक्ष से होती रही है, वही तत्वज्ञान तुम्हें बताता हूँ। तत्व-चिंतन से प्रज्ञा जगती है। प्रज्ञावान आत्मनिर्माण में जुटता है। जिसके लिए आत्मनिर्माण कर पाना संभव हो सका है, उसके लिए विश्व निर्माण की भूमिका निभा सकना अति सरल है, भले ही वह बाहर से कठिन दीखती हो। ज्ञान ही कर्म बनता है। कर्म से प्रयोजन पूरे होते हैं, इसमें संदेह नहीं। उस सद्ज्ञान की देवी महाप्रज्ञा है। जिनकी इन दिनों उपासना साधना और आराधना का व्यापक उपक्रम बनना चाहिए॥ ४०-४५॥

व्याख्या—सत्पात्रों को गायत्री महाविद्या का अमृत, पारस, कल्पवृक्ष रूपी तत्व ज्ञान दिया जाना इस कारण भगवान् ने अनिवार्य समझा ताकि वे अपने प्रसुप्ति को जगा प्रकाशवान हों ऐसे अनेकों के हृदय को प्रकाश से भर सकें। अमृत अर्थात् ब्रह्मज्ञान वेदमाता के माध्यम से पारस अर्थात् भावना, प्रेम। विश्वमाता के माध्यम से एवं कल्पवृक्ष अर्थात् तपोबल देवत्व की प्राप्ति देवमाता के माध्यम से। ये तीनों ही धाराएँ एक ही महाप्रज्ञा के तीन दिव्य प्रवाह हैं। अज्ञान, अभाव एवं आशक्ति का निवारण प्रत्यक्ष कामधेनु गायत्री के अवलंबन से ही संभव है।

गायत्री ब्रह्मविद्या है। उसी को कामधेनु कहते हैं। स्वर्ग के देवता इसी का पयपान करके सोमपान का आनंद लेते और सदा निरोग, परिपुष्ट एवं युवा बने रहते हैं। गायत्री को कल्पवृक्ष कहा गया है। इसका आश्रय लेने वाला अभावग्रस्त नहीं रहता। गायत्री ही पारस है। जिसका आश्रय, सान्निध्य लेने वाला लोहे जैसी कठोरता कालिमा खोकर स्वर्ण जैसी आभा और गरिमा उपलब्ध करता है। गायत्री ही अमृत है। इसे अंतराल में उतारने वाला अजर-अमर बनता है। स्वर्ग और मुक्ति को जीवन का परम लक्ष्य माना गया है। यह दोनों ही गायत्री द्वारा साधक को अजस्त्र-अनुदान के रूप में अनायास ही मिलते हैं। मान्यता है कि गायत्री माता का सच्चे मन से अंचल पकड़ने वाला कभी कोई निराश नहीं रहता। संकट की घड़ी में वह तरण-तारिणी बनती है। उत्थान के प्रयोजनों में उसका समुचित वरदान मिलता है। अज्ञान के अंधकार का भटकाव दूर करने और सन्मार्ग का सही रास्ता प्राप्त करके चरम प्रगति के लक्ष्य तक जा पहुँचना गायत्री माता का आश्रय लेने पर सहज संभव होता है।

प्रज्ञा व्यक्ति गत जीवन को अनुप्राणित करती है, इसे ऋतंभरा अर्थात् श्रेष्ठ में ही रमण करने वाली कहते हैं। महाप्रज्ञा इसे ब्रह्मांड में संव्याप्त है। उसे दूरदर्शिता, विवेकशीलता, न्यायनिष्ठा, सद्भावना, उदारता के रूप में प्राणियों पर अनुकंपा बरसाती और पदार्थों को गतिशील सुव्यवस्थित एवं सौंदर्य युक्त बनाती देखा जा सकता है। परब्रह्म की वह धारा जो मात्र मनुष्य के काम आती एवं आगे बढ़ाने, ऊँचा उठाने की भूमिका निभाती है महाप्रज्ञा है। ईश्वरीय अगणित विशेषताओं एवं क्षमताओं से प्राणिजगत एवं पदार्थ जगत उपकृत होते हैं, किंतु मनुष्य को जिस आधार पर ऊर्ध्वगामी बनने परमलक्ष्य तक पहुँचने का अवसर मिलता है उसे महाप्रज्ञा ही समझा जाना चाहिए। इसका

जितना अंश जिसे, जिस प्रकार भी उपलब्ध हो जाता है वह उतने ही अंश में कृतकृत्य बनता है। मनुष्य में देवत्व का दिव्य क्षमताओं का उदय उद्भव मात्र एक ही बात पर अवलंबित है कि महाप्रज्ञा की अवधारणा उसके लिए कितनी मात्रा में संभव हो सकी। महाप्रज्ञा का ब्रह्म विद्या पक्ष अंत:करण को उच्चस्तरीय आस्थाओं से आनंद विभोर करने के काम आता है। दूसरा पक्ष साधना है, जिसे विज्ञान या पराक्रम कह सकते हैं, इसके अंतर्गत आस्था को उछाला और परिपुष्ट किया जाता है। मात्र ज्ञान ही पर्याप्त नहीं होता। कर्म के आधार पर उसे संस्कार, स्वभाव, अभ्यास के स्तर तक पहुँचाना होता है। साधना का प्रयोजन श्रद्धा को निष्ठा में निर्धारण की अभ्यास की स्थिति में पहुँचाना है। इसलिए अग्रदूतों, तत्वज्ञानियों, जीवन मुक्तों एवं जागृत आत्माओं को भी साधना का अभ्यास क्रम नियमित रूप से चलाना होता है।

प्राह नारद इच्छाया: स्वकीयाया भवान् मम।
जिज्ञासायाश्च प्रस्तौति यं समन्वयमद्भुतम्॥ ४६॥
आत्मा पुलकितस्तेन स्पष्टं निर्दिश भूतले।
प्रतिगत्य च किं कार्यं येन सिद्ध्येत्प्रयोजनम्॥ ४७॥

टीका—नारद ने कहा, हे देव अपनी इच्छा और मेरी जिज्ञासा का आप जो अद्भुत समन्वय प्रस्तुत कर रहे हैं, उससे मेरी अंतरात्मा पुलकित हो रही है। कृपया स्पष्ट निर्देश कीजिए कि पुन: मृत्युलोक में वापस जाकर मुझे क्या करना चाहिए, ताकि आपका प्रयोजन पूर्ण हो॥ ४६-४७॥

उवाच भगवांस्तात दिग्भ्रांतान् दर्शयाग्रत:।
यथार्थताया आलोकं सन्मार्गे गंतुमेव च॥ ४८॥
तर्कतथ्ययुतं मार्गं त्वं प्रदर्शय सांप्रतम्।
उपायं च द्वितीयं तं तदाधारसमुद्भवम्॥ ४९॥
उत्साहं सरले कार्ये योजयाभ्यस्ततां यत:।
परिचितं युगधर्मे च गच्छेयुर्मानवा: समे॥ ५०॥
चरणौ द्वाविमौ पूर्णावाधारं प्रगतेर्मम।
अवतारक्रियाकर्त्ता चेतना सा युगांतरा॥ ५१॥

टीका—भगवान् बोले, हे तात सर्वप्रथम दिग्भ्रांतों को यथार्थता का आलोक दिखाना और सन्मार्ग अपनाने के लिए तर्क और तथ्यों सहित मार्गदर्शन करना है, दूसरा उपाय इस आधार पर उभरे हुए उत्साह को किसी सरल कार्यक्रम में जुटा देना है, ताकि युग धर्म से वे परिचित और अभ्यस्त हो सकें। इन दो चरणों के उठ जाने पर आगे की प्रगति का आधार मेरी अवतरण प्रक्रिया युगांतरीय चेतना स्वयमेव संपन्न कर लेगी॥ ४८-५१॥

व्याख्या—युग परिवर्तन का कार्य योजनाबद्ध ढंग से ही किया जा सकता है। सबसे पहले तो सुधारकों अग्रगामियों को अपने सहायक ढूँढ़ने के लिए निकालना होता है उन्हें उँगली पकड़कर चलना-सिखाना पड़ता है। जब वे अपनी दिशा समझ लेते हैं, उच्चस्तरीय पथ पर चलने के लिए वे सहमत हो जाते हैं, तब उन्हें सुनियोजित कार्यपद्धति समझाकर उनके उत्साह को क्रियारूप देना होता है। यही नीति हर अवतार की रही है। इतना बन पड़ने पर शेष कार्य वह चेतन सत्ता स्वयं कर लेती है।

समस्या तब उठ खड़ी होती है, जब व्यक्ति ईश्वरीय सत्ता की इच्छा, आकांक्षा जानते हुए भी व्यामोह में फँसे दिशा भूले की तरह जीवन बिताते हैं अथवा उद्देश्य को जानते हुए भी अपने उत्साह को सही नियोजित नहीं कर पाते।

नारद उवाच

पप्रच्छ नारदो भगवन् स्पष्टतो विस्तरादपि।
किं नु कार्यं मया ब्रूहि मानवै: कारयामि किम्॥ ५२॥

श्री भगवानुवाच

उवाच भगवाँस्तात हिमाच्छादित एकदा।
उत्तराखंड संशोभिन्यारण्यक शुभस्थले॥ ५३॥
तत्वावधाने प्राज्ञस्य पिप्पलादस्य नारद।
प्रज्ञासत्रसमारंभो जात: पञ्चदिनात्मक:॥ ५४॥
अष्टावक्र: श्वेतकेतुरुद्दालकशृंगिणौ।
दुर्वासाश्चेति जिज्ञासा: पञ्चाकुर्वन् क्रमादिमे॥ ५५॥
तत्त्वदर्शी महाप्राज्ञस्तेषां संमुख एव स:।
संक्षिप्तं ब्रह्मविद्याया: प्रास्तौत्सारं सममृषि:॥ ५६॥
सर्वसाधारणोऽप्येनं ज्ञातं बोधयितुं क्षम:।
इह लोके परे चायमृद्धिसिद्धिप्रद: स्मृत:॥ ५७॥
तं प्रसंगं, स्मारयामि ध्यानेन हृदये कुरु।
प्रज्ञापुराणरूपे च योजितं यत्नतस्तु तम्॥ ५८॥
वरिष्ठानामात्मानं तु पूर्वं साधारणस्य च।
हृदयंगममेनं, त्वं कारयाद्य महामुने॥ ५९॥

टीका—नारद ने पूछा भगवन् और भी स्पष्ट करें कि क्या करना और क्या कराना है। भगवान बाले, हे तात एक बार उत्तराखंड के हिमाच्छादित एक शुभ आरण्यक में महाप्राज्ञ पिप्पलाद के तत्वावधान में पाँच दिवसीय प्रज्ञा-सत्र हुआ था। उसमें क्रमश: अष्टावक्र, श्वेतकेतु, शृंगी, उद्दालक और दुर्वासा ने पाँच जिज्ञासाएँ की थीं। तत्वदर्शी महाप्राज्ञ ऋषि ने उनके समक्ष ब्रह्मविद्या का सार संक्षेप प्रस्तुत किया था, वह सर्वसाधारण के समझने समझाने योग्य है, साथ ही लोक-परलोक में उभयपक्षीय ऋद्धि-सिद्धियाँ प्रदान करने वाला भी है। उस प्रसंग का तुम्हें स्मरण दिलाता हूँ। ध्यानमग्न होकर हृदयंगम करो, सुनियोजित करो और प्रज्ञापुराण के रूप में सर्वप्रथम वरिष्ठ आत्माओं को तदुपरांत सर्वसाधारण को हृदयंगम कराओ॥ ५२-५९॥

व्याख्या—अध्यात्म विज्ञान के व्यावहारिक शिक्षण की

विस्तृत कार्य प्रणाली जानने को उत्सुक देवर्षि को भगवान् एक विशिष्ट प्रज्ञासत्र का स्मरण दिलाते हैं। यह ऋषि प्रणाली है कि किसी भी तथ्य का समर्थन, प्रतिपादन प्रत्यक्ष उदाहरणों द्वारा किया जाए। ध्यानमग्न नारद को भगवान ने ज्ञान सत्रों में हुई चर्चा को संक्षेप में अपनी परावाणी विचार संप्रेषण द्वारा समझा दिया एवं अग्रदूतों तक इसे पहुँचाने उन्हें इस ज्ञान आलोक से प्रकाशित करने का निर्देश भी दिया।

समाधिस्थो नारदोऽभूत्तस्मिन्नेव क्षणे प्रभुः।
प्रज्ञापुराणमेतत्तद्हृदयस्थमकारयत् ॥ ६० ॥
उवाच च महामेघमंडलीव समंततः।
कुरु त्वं मूसलाधारं वर्षां तां युगचेतनाम् ॥ ६१ ॥
अनास्थाऽऽतपशुष्कां च महर्षे धर्मधारणाम्।
जीवयैतदिदं कार्यं प्रथमं ते व्यवस्थितम्॥ ६२ ॥

टीका—नारद समाधिस्थ हो गए। भगवान् ने उस समय प्रज्ञापुराण कंठस्थ करा दिया और कहा। इसे युगचेतना की वर्षा मेघों की तरह सर्वत्र बरसाओ। अनास्था के आतप से सूखी धर्मधारणा को फिर से हरी-भरी बना दो। तुम्हारा प्रथम काम यही है ॥ ६०-६२ ॥

व्याख्या—बादलों का काम है बरसना तथा जल अभिसिंचन द्वारा सारी विश्व मानवता को तृप्त करना जहाँ अकाल पड़ा हो वहाँ वर्षा की थोड़ी-सी बूँदें गिरते ही चारों ओर प्रसन्नता का साम्राज्य छा जाता है कुछ ही समय में हरियाली फैली दिखाई पड़ती है। समुद्र से उठने वाली भाप जब बादल बनती है तो उसका एक ही उद्देश्य रहता है वनस्पति जगत तथा सारे जीव जगत में प्राण भर देना।

चेतना विस्तार की यही भूमिका अवतार, महामानव, अग्रदूत, जागृत आत्माएँ निभाती हैं। उनका उद्देश्य भी यही होता है। आस्था संकट का जो मूल उद्गम है अंत:करण वहाँ वे व्यक्ति-व्यक्ति तक पहुँचकर उसके अंदर हलचल मचाते हैं। मरुस्थल बन गए अंत:स्थल में संवेदनाएँ उभारते हैं, आदर्शवादी उत्कृष्टता के प्रति समर्पण की भावना जगाते हैं अवतार की प्रक्रिया यही है। भगवान ने नारद ऋषि को वही काम सौंपा ताकि प्रस्तुत परिस्थितियों में प्रव्रज्या द्वारा वे जन-जन में प्रज्ञावतार की प्रेरणा भर सकें। परिवर्तन-विचारणा में परिष्कार तथा संवेदनाओं में उत्कृष्टता परायण उभार की ही परिणति है। युग परिवर्तन की प्रक्रिया जो अगले दिनों संपादित होने जा रही है, उसका प्रथम चरण यही है।

महाकाल ने हमेशा बीज रूप में उपयुक्त पात्र को यह संदेश दिया है वही कालांतर में फला और मेघ की भूमिका उसने निभाई है। इसी तथ्य को रामायणकार ने इस तरह समझाया है।

राम सिंधु घन सज्जन धीरा।
चंदन तरु हरि संतसमीरा॥

अर्थात् भगवान् समुद्र हैं तो सज्जन व्यक्ति बादल के समान। चंदन वृक्ष यदि भगवान् हैं तो संत पवन की तरह मलयज सुगंध को फैलाने वाले। भगवान् से अर्थ है आदर्शवादिता का समुच्चय। मेघ व पवन की ही भाँति संत व सज्जन उस युगचेतना को विस्तारित करते हैं, असंख्यों को धन्य बनाते हैं।

उवाच नारदो देव, वाच्यः श्राव्यस्त्वयं मतः।
ज्ञानपक्षः पूरकं तं कर्मपक्षं विबोधय ॥ ६३ ॥
कर्त्तव्यं यद्यदन्यैश्चाप्यनुष्ठेयं, समग्रता।
उत्पद्यते द्वयोर्ज्ञानकर्मणोस्तु समन्वयात्॥ ६४ ॥

टीका—नारद बोले, यह ज्ञान पक्ष हुआ। जिसे कहा या सुना जाता है। अब इसका पूरक कर्मपक्ष बताइए, जो करना और कराना पड़ेगा। ज्ञान और कर्म के समन्वय से ही समग्रता उत्पन्न होती है॥ ६३-६४॥

व्याख्या—कोई सिद्धांत अपने आप में अकेला पूर्ण नहीं। प्रयोगपक्ष जाने बिना सारा ज्ञान अधूरा है। क्रिया पक्ष, ज्ञान पक्ष का पूरक है। ब्रह्म ज्ञान तत्व चिंतन अपनी जगह है, अनिवार्य भी है, परंतु उसका व्यवहार पक्ष जिसे साधना तपश्चर्या के रूप में जाने बिना वह मात्र मानसिक श्रम और ज्ञान वृद्धि तक ही सीमित रहेगा, उद्देश्य की पूर्ति नहीं होगी। चिकित्सकों को अध्ययन भी करना होता है एवं व्यवहारिक ज्ञान भी प्राप्त करना होता है। यह समग्रता लाए बिना वे चिकित्सक की पात्रता पदवी नहीं पाते।

ऐसा अधूरापन अध्यात्म क्षेत्र में बड़े व्यापक रूप में देखने को मिलता है। ब्रह्म की, सद्गुणों की, आदर्शवादिता की, चर्चा तो काफी लोग करते पाए जाते हैं, परंतु उसे व्यवहार में उतारने, जीवन का अंग बना लेने वाले कम ही होते हैं।

उवाच विष्णुर्ज्ञानार्थं कथा प्रज्ञापुराणजा।
विवेच्या, कर्मणे प्रज्ञाभियानस्य विधिष्वलम्॥ ६५ ॥
विधयोऽस्य च स्वीकर्तुं प्रगल्भान् प्रेरयानिशम्।
युगस्य सृजने सर्वे सहयोगं ददत्वलम्॥ ६६ ॥
यथातथा विबोध्यास्ते भावुका अंशदायिनः।
समयस्य च दातारः सोत्साहा उत्स्फुरंतु यत्॥ ६७ ॥
संयुक्तशक्त्या श्रेष्ठानां दुर्गावतरणोज्वला।
प्रचंडता समुत्पन्ना समस्या दूरयिष्यति ॥ ६८ ॥

टीका—विष्णु भगवान ने कहा ज्ञान के लिए प्रज्ञा पुराण का कथा विवेचन उचित होगा और कर्म के लिए प्रज्ञा अभियान की बहुमुखी गतिविधियों में से प्रगल्भों को उन्हें अपनाने की प्रेरणा निरंतर देनी चाहिए। युग सृजन में सहयोग करने के लिए सभी भावनाशीलों को समयदान, अंशदान की उमंग

उभारनी चाहिए। वरिष्ठों की इस संयुक्त शक्ति से ही दुर्गावतरण जैसी प्रचंडता उत्पन्न होगी और युग समस्याओं के निराकरण में समर्थ होगी॥ ६५-६८॥

व्याख्या—युग चेतना को व्यापक करने के बाद कर्म में प्रवृत्त होने के लिए भगवान प्रगल्भों की चर्चा करते हैं। प्रगल्भ अर्थात् साहसी। ऐसे शूरवीर जो सत्प्रयोजनों के लिए कमर कसकर तैयार हो जाएँ।

अवतारों में उच्चस्तरीय वे ही माने जाते हैं जिनमें संत की पवित्रता, सुधारक की प्रखरता के साथ ऋषियों जैसी तत्व दृष्टि होती है। वे उत्कृष्टता को समर्पित होते हैं। अहंता के परिपोषण में लगने वाली शक्ति समर्पण के बाद उनके पास इतनी अधिक मात्रा में बच जाती है जिसके आधार पर सामान्य व्यक्ति भी असामान्य काम कर दिखाते हैं। भगवान कृष्ण, राम, ईसा, दयानंद, गाँधी, गुरुगोविंदसिंह, बुद्ध, मीरा, शंकराचार्य, ज्ञानेश्वर, समर्थ रामदास ऐसे जीते-जागते प्रमाणों में से हैं जिन्होंने प्रतिकूलता से जूझने का साहस दिखाया व सत्प्रयोजन में लगने के लिए असंख्यों को प्रेरित किया। ऐसे व्यक्तियों का संगठन तो वह प्रचंड चमत्कार कर दिखाता है जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

धर्मस्य चेतनां भूयो जीवितां कर्तुमद्य तु।
अधिष्ठात्रीं युगस्यास्य महाप्रज्ञामृतंभराम्॥ ६९॥
गायत्रीं लोकचित्ते तां कुरु पूर्णप्रतिष्ठिताम्।
पराक्रमं च प्रखरं कर्तुं सर्वत्र नारद॥ ७०॥
पवित्रतोदारतां तु यज्ञजां च प्रचंडताम्।
प्रखरां कर्तुमेवाद्यानिवार्यं मन्यतां त्वया॥ ७१॥

टीका—आज धर्मचेतना को पुनर्जीवित करने के लिए इस युग की अधिष्ठात्री महाप्रज्ञा ऋतंभरा गायत्री को लोकमानस में प्रतिष्ठित किया जाए। हे नारद, पराक्रम की प्रखरता के लिए सर्वत्र यज्ञीय पवित्रता, उदारता एवं प्रचंडता को प्रखर करने की आवश्यकता है॥ ६९-७१॥

व्याख्या—महाप्रज्ञा को अध्यात्म की भाषा में गायत्री कहते हैं। इसके दो पक्ष हैं, एक दर्शन अर्थात् तत्वचिंतन अध्यात्म, दूसरा व्यवहार अर्थात् शालीनता युक्त आचरण-धर्म। महाप्रज्ञा की परिणति अंत:क्षेत्र में प्रतिष्ठित होने पर साधक के व्यक्ति त्व में आमूलचूल परिवर्तन ला देती है। आत्मिक विभूतियाँ ऋद्धियाँ तथा लोक व्यवहार में प्राप्त संपदा सिद्धियाँ इसी के तत्व चिंतन का प्रतिफल हैं।

प्रज्ञापीठस्वरूपेषु युगदेवालया भुवि।
भवंतु तत एतासां सृज्यानामथ नारद॥ ७२॥
सूत्रं संस्कारयोग्यानां प्रवृत्तीनां च सञ्चलेत्।
नृणां येन स्वरूपं च भविष्यत्संस्कृतं भवेत्॥ ७३॥
सहैव पृष्ठभूमिश्च परिवर्तनहेतवे।
निर्मिता स्याद् युगस्यास्तु संधिकालस्तु विंशतिः॥ ७४॥
वर्षाणां, सुप्रभातस्य वेलाऽऽवर्तन हेतुका।
अवाञ्छनीयताग्लानिः सदाशयविनिर्मितिः ॥ ७५॥

टीका—हे नारद युग देवालय, प्रज्ञापीठों के रूप में बनें। वहाँ से सृजनात्मक और सुधारात्मक सभी प्रवृत्तियों का सूत्र-संचालन हो, जिससे मनुष्य का स्वरूप एवं भविष्य सुधरे, साथ ही महान् परिवर्तन के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि भी बनने लगे। युग संधि के बीस वर्ष प्रभात की परिवर्तन वेला की तरह हैं। इसमें अवांछनीयता की गलाई और सदाशयता की ढलाई होगी॥ ७२-७५॥

व्याख्या—नए युग में इन्हीं प्रज्ञा की अधिष्ठात्री गायत्री के मंदिर और यज्ञशालाएँ बननी चाहिए उन्हीं के माध्यम से रचनात्मक कार्य चलने चाहिए। महामना मदनमोहन मालवीय कहा करते थे।

ग्रामे ग्रामे सभाकार्या ग्रामे ग्रामे कथाशुभाः।
पाठशाला, मल्लशाला, प्रतिपर्वा महोत्सवाः॥

अर्थात् गाँव-गाँव ऐसे देवमंदिर रहें जहाँ से न्याय, पर्व संस्कार मनाने, विद्याध्ययन, आरोग्य संवर्द्धन के क्रियाकृत्य चलते रहें, केवल मंदिरों से काम चलेगा नहीं।

आद्य शंकराचार्य ने जब मान्धाता से यही बात कही तो उन्होंने चार धामों की स्थापना के लिए अपना अक्षय भंडार खोल दिया। इन तीर्थों के माध्यम से धर्म-धारणा विस्तार की कितनी बड़ी सेवा हुई है इसका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता।

मंदिर मात्र पलायनवादी श्रद्धा नहीं, कर्मयोगी निष्ठा जगाएँ तो ही उनकी सार्थकता है।

जब इन देवालयों से जनजागृति केंद्रों के माध्यम से सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन की गतिविधियाँ चलने लगेंगी, तो जन-जन में प्रखरता का उदय होगा तथा परिवर्तन के दृश्य सुनिश्चित रूप से दिखाई पड़ने लगेंगे। प्रस्तुत समय संधि वेला का है। आज संसार के सभी विद्वान, ज्योतिर्विद, अतींद्रिय दृष्टा इस संबंध में एक मत हैं कि युग परिवर्तन का समय आ पहुँचा। परिस्थितियों की विषमता अपनी चरम सीमा पर है। ऐसे में इन युग देवालयों की भूमिका अपनी जगह बड़ी महत्त्वपूर्ण है। सूरदास ने लिखा है।

एक सहस्त्र नौ सौ के ऊपर ऐसौ योग परै।
सहस्त्र वर्ष लौंसतयुग बीते धर्म की बेलि चढ़े॥

अर्थात् २०वीं शताब्दी के अंत में ऐसा ही परिवर्तन होगा जिसके बाद सहस्त्रों वर्षों के लिए धर्म का सुख-शांति का राज्य स्थापित होगा।

संक्रमण वेला में किस प्रकार की परिस्थितियाँ बनतीं और कैसे घटनाक्रम घटित होते हैं इसका उल्लेख महाभारत

के वनपर्व में इस प्रकार आता है।

ततस्तु मूले संघाते वर्तमाने युग क्षये।
यदा चंद्रस्यसूर्यस्यतथा तस्य बृहस्पतिः॥
एकराशौ समेष्यंति प्रयत्स्यति तदा कृतम्।
कालवर्षी च पर्जन्यो नक्षत्राणि शुभानि च।
क्षेमं सुभिक्षामारोग्यं भविष्यति निरामयम्॥

अर्थात् जब एक युग समाप्त होकर दूसरे युग का प्रारंभ होने को होता है, तब संसार में संघर्ष और तीव्र हलचल उत्पन्न हो जाती है। जब चंद्र, सूर्य, वृहस्पति तथा पुष्य नक्षत्र एक राशि पर जाएँगे तब सतयुग का शुभारंभ होगा। इसके बाद शुभ नक्षत्रों की कृपा वर्षा होती है। पदार्थों की वृद्धि से सुख-समृद्धि बढ़ती है। लोग स्वस्थ और प्रसन्न होने लगते हैं।

इस प्रकार का ग्रहयोग अभी कुछ समय पहले ही आ चुका है। अन्यान्य गणनाओं के आधार पर भी यही समय है।

विशिष्ट अवसरों को आपत्तिकाल कहते हैं और उन दिनों आपत्ति धर्म निभाने की आवश्यकता पड़ती है। अग्निकांड, दुर्घटना, दुर्भिक्ष, बाढ़, भूकंप, युद्ध, महामारी जैसे अवसरों पर सामान्य कार्य छोड़कर भी सहायता के लिए दौड़ना पड़ता है। छप्पर उठाने, धान रोपने, शादी-खुशी में साथ रहने, सत्प्रयोजनों का समर्थन करने के लिए भी निजी काम छोड़कर उन प्रयोजनों में हाथ बँटाना आवश्यक होता है। युग संधि में जागरुकों को युग धर्म निभाना चाहिए। व्यक्तिगत लोभ, मोह को गौण रखकर विश्व संकट की इन घड़ियों में उच्चस्तरीय कर्त्तव्यों के परिपालन को प्रमुख प्राथमिकता देनी चाहिए। यही है परिवर्तन की इस प्रभात वेला में दिव्य प्रेरणा, जिसे अपनाने में हर दृष्टि से हर किसी का कल्याण है।

विभीषिकास्तु विश्वस्य दूरीकर्तुं पुनर्भुवि।
स्वर्ग्यवातावृतिं कर्तुं क्षमानां देवतात्मनाम्॥ ७६॥
मानावानां तु संभूतिः कठिना किंतु तत्र ये।
योगदानरतास्तेषां श्रेयः सौभाग्यसंभवः॥ ७७॥

टीका—विश्व विभीषिकाओं को निरस्त करने और धरती पर पुनः स्वर्गीय वातावरण उत्पन्न कर सकने वाले देवमानवों का सृजन करने का कार्य कठिन तो है, पर उसमें योगदान देने वालों का श्रेय-सौभाग्य भी कम न मिलेगा॥ ७६-७७॥

व्याख्या—दैवी प्रकोपों विभीषिकाओं के मूल में जितना दोष भौतिक रूप से मानव द्वारा उससे उद्धत रूप से छेड़छाड़ करने का है उससे भी अधिक भ्रष्ट चिंतन और निकृष्ट कर्त्तव्य का आश्रय लेने वाली मानवी प्रकृति का है। नियति इसी से रुष्ट होती है एवं मानव जाति को सामूहिक रूप से विभीषिकाओं के रूप में उभर कर त्रास देती है।

परिवर्तन की घड़ियाँ असाधारण उलट-पुलट की होती हैं। असुरता जीवनमरण की लड़ाई लड़ती है और देवत्व उसे पदच्युत कर धरती पर स्वर्ग लाने के दुष्कर कार्य में कई अवरोधों का सामना करता है। यह कार्य कठिन तो है पर असंभव नहीं। भूतकाल में भी ऐसे अवसरों पर यही दृश्य उपस्थित हुए हैं जैसे कि इन दिनों सामने हैं। ऐसे अवसरों पर ही जो देवमानव आगे आते हैं स्वयं श्रेय पाकर धन्य बनते हैं, सारी मानवता को कृतार्थ कर देते हैं।

प्रज्ञावतार की दिव्यसत्ता ही प्रमुख है और इन दिनों वही युग परिवर्तन के सरंजाम जुटा रही है। तो भी समय कर्तृत्व का वहन उसे अकेले नहीं करना है। सेनापति अकेला नहीं लड़ता, सैनिक भी साथ चलते हैं। हाथ अकेला पुरुषार्थ नहीं करता, दस अगुलियाँ व चौबीस पोर भी अपनी क्षमता के अनुरूप अपने ढंग से उस कर्म कौशल में जुड़े रहते हैं।

जागृतात्मवतामेतं संदेशं प्रापयास्तु मे।
नोपेक्ष्योऽनुपमः कालः क्रियतां साहसं महत्॥ ७८॥
महान्तं प्रतिफलं लब्ध्वा कृतकृत्या भवंतु ते।
जन्मन इदमेवास्ति फलमुद्देश्यरूपकम्॥ ७९॥
अग्रगामिन एवात्र प्रज्ञासंस्थान निर्मितौ।
प्रज्ञाभियान सूत्राणां योग्याः संचालने सदा॥ ८०॥

टीका—अस्तु जाग्रत आत्माओं तक मेरा यह संदेश पहुँचाना कि वे इस अनुपम अवसर की उपेक्षा न करें, बड़ा साहस करें, बड़ा प्रतिफल अर्जित करके कृतकृत्य बनें। यही उनके जन्म का उद्देश्य है। जो अग्रगामी हों उन्हें प्रज्ञा संस्थानों के निर्माण तथा प्रज्ञा अभियान के सूत्र संचालन में जुटाना॥ ७८-८०॥

व्याख्या—जाग्रत आत्माएँ कभी अवसर नहीं चूकतीं। वे जिस उद्देश्य को लेकर अवतरित होती हैं, उसे पूरा किए बिना उन्हें चैन नहीं पड़ता। जागृत वे जो अदृश्य जगत में बह रहे प्रकृति प्रवाह को पहचानते हैं, परिवर्तन में सहायक बनते हैं। दूसरे जब आगे चलकर उन परिणामों को देखते हैं तो पछताते हैं कि हमने अवसर की उपेक्षा क्यों कर दी।

साहसादर्शरूपा ये चेतनामुच्चभूमिकाम्।
निजेन बलिदानेन त्यागेनोद्भावयंति ये॥ ८१॥
आत्मसंतोषमासाद्य लोकसम्मानमेव च।
देवानुग्रहलाभं च कृतकृत्या भवंति ते॥ ८२॥

टीका—आदर्श और साहस के धनी अपने त्याग-बलिदान से उच्चस्तरीय चेतना उत्पन्न करते हैं और आत्म संतोष, लोक सम्मान तथा दैवी अनुग्रह के तीन लाभ एक साथ प्राप्त करते तथा धन्य बनते हैं॥ ८१-८२॥

व्याख्या—नवसृजन में अपना सब कुछ लुटा देने वाले कभी घाटे में नहीं रहते। भगवान के काम में लग जाने वाले तीन असामान्य लाभ सहज पा लेते हैं जो एक दूसरे की

प्रतिक्रियाएँ ही हैं। जाग्रत आत्माएँ आदर्शवादिता अपनाकर सत्साहस दिखाती हैं और अंत: में संतोष, बहिरंग में सम्मान सहयोग पाती हैं और ऐसों पर ही दैवी अनुदान बरसते हैं, जो उन्हें कृतकृत्य कर जाते हैं।

पेड़ अपने पत्ते गिराते, जमीन को खाद देते और बदले में जड़ों के लिए उपयुक्त खुराक उपलब्ध करते हैं। फल-फूलों से दूसरों को लाभान्वित करते हैं। यह परमार्थ व्रत आज की चिंतन धारा के अनुसार तो मूर्खता ही ठहराया जाएगा और व्यंग्य उपहास का ही कारण बनेगा। किंतु पर्यवेक्षकों को इस निष्कर्ष पर पहुँचने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि विश्व-व्यवस्था में ऐसी परिपूर्ण गुंजाइश है कि परमार्थ परायणों को लोक सम्मान ही नहीं दैवी अनुदान भी अजस्र परिमाण में मिलते रहें। पेड़ों को बार-बार नए पल्लव और नए फल-फूल देते रहने में प्रकृति कोताही नहीं बरतती। उदारमना घाटा उठाते लगते भर हैं वस्तुत: वे जो देते हैं उसे ब्याज समेत वसूल कर लेते हैं।

इतिहास के पृष्ठों पर स्वर्णाक्षरों में अंकित महामानवों में से प्रत्येक ने परमार्थ-परायणता की दूरदर्शितापूर्ण नीति अपनाई है। वे बीज की तरह गले और वृक्ष की तरह फले हैं। इस मार्ग पर चलने के लिए उन्हें प्राथमिक पराक्रम यह करना पड़ा कि संचित कुसंस्कारों की पशु प्रवृत्तियों से जूझे और उन्हें सुसंस्कारी बनने के लिए पूरी तरह दबाया दबोचा और तब छोड़ा जब वे चीं बोल गईं और संकीर्ण स्वार्थपरता से ऊँचे उठकर आदर्शवादी परमार्थ प्रवृत्ति को अंगीकार करने के लिए सहमत हो गईं।

भगवन्तं ततो नत्वा वांछा साम्यं विचार्य च।
प्रज्ञापुराणसंदेशमुपदेष्टुं जनं जनम्॥ ८३॥
जागृतात्मन प्रज्ञाभियान मार्गे नियोजितुम्।
संकल्प्य धरणीमायात् प्रसन्नहृदयस्तदा॥ ८४॥
सप्तर्षीणां तपोभूमौ विरम्याथ गतक्लमः।
युगांतरचिते रूपे विश्वव्यापी बभूव च॥ ८५॥

टीका—नारद ने भगवान् को नमन किया और उनकी इच्छा में अपनी इच्छा मिलाते हुए जन-जन को प्रज्ञा पुराण का संदेश सुनाने जागृत आत्माओं को प्रज्ञा अभियान प्रयासों में लगाने का संकल्प लेकर, प्रसन्न हृदय धरती पर उतरे। सप्त ऋषियों की तपोभूमि में थोड़ा विराम-विश्राम करके वे युगांतरीय चेतना के रूप में विश्वव्यापी बन गए॥ ८३-८५॥

व्याख्या—नारद ने भगवान को नमन किया और उनकी इच्छा में अपनी इच्छा मिलाते हुए जन-जन को प्रज्ञा पुराण का संदेश सुनाने जागृत आत्माओं को प्रज्ञा-अभियान प्रयासों में लगाने का संकल्प लेकर, प्रसन्न हृदय धरती पर उतरे। सप्त ऋषियों की तपोभूमि में थोड़ा विराम-विश्राम करके वे युगांतरीय चेतना के रूप में विश्वव्यापी बन गए॥ ८३-८५॥

व्याख्या—भक्त की स्वयं की कोई इच्छा नहीं होती। वह भगवान का काम करने का संकल्प लेकर जन्मता है व अपने स्व को चेतन शक्ति में घुला देता है। देवर्षि नारद ने अपनी इच्छा को भगवान की प्रेरणा के साथ मिलाया। एक बार नारद स्वयं मोह में पड़े थे और अपने अहंकार के मद में प्रभु प्रेरणा को समझने में असफल रहे। भगवान ने उनका मोह भंग किया, उन्हें वास्तविकता से अवगत कराया तब से उन्होंने संकल्प ले लिया कि अब आगे से कभी भी अपनी इच्छा को प्रभु से अलग नहीं रखेंगे।

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः
श्री विष्णु-नारद-संवादे ''लोककल्याणजिज्ञासा'' इति प्रकरणो नाम
॥ प्रथमोऽध्यायः॥

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

अध्यात्मदर्शन प्रकरण

एकदा तु हिमाच्छन्ने ह्युत्तराखंडमंडने।
अभयारण्यके ताण्डयशमीकोद्दालकास्तथा॥ १॥
ऋषयः ऐतरेयश्च ब्रह्मविद्या विचक्षणाः।
तत्त्वजिज्ञासवो ब्रह्मविद्यायाः संगताः समे॥ २॥
तत्त्वचर्चारतानां तु प्रश्न एक उपस्थितः।
महत्त्वपूर्णः स प्रश्नः सर्वेषां मन आहरत्॥ ३॥
पिप्पलादं पप्रच्छातो महाप्राज्ञमृषीश्वरम्।
अष्टावक्रो ब्रह्मज्ञानी लोककल्याणहेतवे॥ ४॥

टीका—हिमाच्छादित उत्तराखंड के अभयारण्यक में एक बार ताण्ड्य, शमीक, उद्दालक तथा ऐतरेय आदि ऋषि ब्रह्मविद्या के गहन तत्व पर विचार करने के उद्देश्य से एकत्रित हुए। तत्वदर्शन के अनेकानेक प्रसंगों पर विचार करते-करते एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न सामने आया। उसकी महत्ता ने सबका ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया। महाप्राज्ञ

ऋषि पिप्पलाद से, लोक-कल्याण की दृष्टि से ब्रह्मज्ञानी अष्टावक्र ने पूछा॥ १-४॥

व्याख्या—ऋषि धर्मतंत्र के प्रहरी माने जाते हैं, सदैव जागरूक एवं सामयिक मानवी समस्याओं का समाधान ढूँढ़ने व उन्हें जन-जन तक पहुँचाने वाले।

ब्रह्मज्ञान को जनमानस तक पहुँचाने के उद्देश्य से ही कुंभ मेलों एवं अन्य पर्वों पर ऋषिगण एकत्र होते व परस्पर परामर्श द्वारा दैनंदिन समस्याओं का हल निकालते थे। सूत-शौनक, शिवजी-काकभुशुंडि, जनक-याज्ञवल्क्य, भारद्वाज-याज्ञवल्क्य संवाद इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं।

ऐसे समागम सत्संग ज्ञान गोष्ठियों में सदा-सदा से महामानवों के कृत्यों आचरण को आधार बनाकर जीवनक्रम की रूपरेखा बनाई जाती रही है। परस्पर चर्चा में मात्र ब्रह्म विद्या के गूढ़ तात्विक विवेचन को ही स्थान न देकर ऋषिगण हर ऐसी जिज्ञासा में रुचि लेते थे जो उस समय की परिस्थितियों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हों। भले वे साधारण जनमानस से संबंधित चर्चा क्यों न हो, हर मनीषी उसमें उतनी ही रुचि रखता था, जितनी कि मुक्ति, योग, साधना जैसे विषयों में।

अष्टावक्र उवाच

ईश्वरः भूपतिः साक्षाद् ब्रह्मांडस्य महामुने।
मानवं राजपुत्रं स्वं कर्तुं सर्वगुणान्वितम्॥ ५॥
विभूतीः स्वा अदाद् बीजरूपे सर्वा मुदान्वितः।
सृष्टिसंचालकोऽप्येष श्रेयसा रहितः कथम्॥ ६॥

टीका—ब्रह्मांड के सम्राट् ईश्वर ने मनुष्य को सर्वगुण संपन्न उत्तराधिकारी राजकुमार बनाया। अपनी समस्त विभूतियाँ उसे बीजरूप में प्रसन्नतापूर्वक प्रदान कीं। उसे सृष्टि संचालन में सहयोगी बन सकने के योग्य बनाया, फिर भी वह उस श्रेय से गौरव से वंचित क्यों रहता है?॥ ५-६॥

व्याख्या—ब्रह्मज्ञानी अष्टावक्र की जिज्ञासा मानव मात्र से संबंधित है। नित्य देखने में आता है ईश्वर का मुकुटमणि कहलाने वाला सुर दुर्लभ मानव योनि पाने वाला यह सौभाग्यशाली जीव अपने परम पिता से दो विशेष विभूतियाँ पाने के बावजूद दिग्भ्रांत हो दीन-हीन जैसा जीवन जीता है। ये दो विभूतियाँ हैं, बीज रूप में ईश्वर के समस्त गुण तथा सृष्टि को सुव्यवस्थित बनाने में उसकी ईश्वर के साथ साझेदार जैसी भूमिका। बीज फलता है तब वृक्ष का स्वरूप लेता है। इसका बहिरंग स्वरूप उसी जाति का होता है जिस जाति का वह स्वयं है। लघु से महान्, अणु से विभु बनने की महत् कार्य सामर्थ्य अपने आप में एक अलभ्य विरासत है। इसे पाने के लिए उसे न जाने कितनी योनियों में कष्ट भोगना पड़ा।

सहयोग, सहकार भी सुसंचालन के लिए न कि संतुलन को बिगाड़ने के लिए। ऐसे में जब गुण, कर्म रूपी बीज भी गलने से इंकार कर दे एवं मानव संतुलन व्यवस्था के स्थान पर विग्रह असहयोग करने लगे तो असमंजस होना स्वाभाविक है।

सामर्थ्यन्यूनतायां तु साधनाभाव एव वा।
प्रतिकूलस्थितौ वापि नरस्त्वसफलो भवेत्॥ ७॥
यत्रैतन्नास्ति तत्रापि सृष्टिरत्नं नरः कथम्?
दैन्येन ग्लपितेनाथ जीवतीह घृणास्पदः॥ ८॥

टीका—सामर्थ्य की न्यूनता, साधनों का अभाव, प्रतिकूल परिस्थितियाँ होने पर तो सफल न हो सकने की बात समझ में आती है, किंतु जहाँ ऐसा कुछ भी न हो, वहाँ मनुष्य जैसा सृष्टि का मुकुटमणि हेयस्तर का जीवन क्यों जिएँ? और क्यों घृणास्पद बनें? ॥ ७-८॥

व्याख्या—यदि वह सब न होता जिससे मानव समृद्ध-संपन्न बन सका है तो मानव के उपरोक्त दो प्रयोजनों सृष्टि उत्पत्ति, सृष्टि संचालन में असफल रहने की बात स्वीकार्य भी होती, पर ऐसा तो कुछ है नहीं। इसके स्थान पर जन्म देने के बाद उसे तो साधन, सामर्थ्य एवं सहयोगकारी परिस्थितियों का अनुदान भी परम पिता ने उसे दिया है। फिर वह सदैव प्रतिकूलताओं का रोना क्यों रोता है? यह ब्रह्मज्ञानी जिज्ञासु के लिए एक ऊहापोह बना हुआ है।

सत्ये युगे नराः सर्वे सुसंस्कृतसमुन्नतम्।
देवजीवनपद्धत्या जीवंति स्म, धरामिमाम्॥ ९॥
स्वर्ग्येणैव तु दिव्येन वातावरणकेन ते।
भरितां विदधानाश्च विचरंति, कथं पुनः?॥ १०॥
कारणं किं समुत्पन्नं पातगर्ते यथाऽपतन्।
साम्प्रतिकीं स्थितिं दीनां गताः सर्वेयतो मुने॥ ११॥
दुर्धर्षायां विपत्तौ तु विग्रहे वाप्युपस्थिते।
उत्पद्यते विवशता नैतदस्ति तु सांप्रतम्॥ १२॥
सामान्यं दिनचर्यायाः क्रमश्चलति मानवाः।
शक्तिसाधनसंपन्नाः पातगर्ते पतंति किम्?॥ १३॥

टीका—सतयुग में सभी मनुष्य समुन्नत और सुसंस्कृत स्तर का देव जीवन जीने थे और इस धरती को स्वर्ग जैसा दिव्य वातावरण से भरा-पूरा रखते थे। फिर क्या कारण हुआ, जिससे लोग पतन के गर्त में गिरे और आज जैसी दयनीय स्थिति में जा पहुँचे। कोई दुर्धर्ष-विपत्ति-विग्रह आने पर विवशता उत्पन्न हो सकती है, किन्तु सामान्य क्रम चलते रहने पर भी शक्ति साधनों से सम्पन्न मनुष्य अध:पतन के गर्त में क्यों गिरते जा रहे हैं॥ ९-१३॥

व्याख्या—ऐसी बात नहीं कि जब से मनुष्य को यह जन्म मिला है-सृष्टि की उत्पत्ति व विकास हुआ है- वह हेय स्तर का ही जीवन जीता आया है। मानव सतयुग मं सभ्य

सुसंस्कृत जीवन भी जी चुका है। श्रेष्ठता की उस ऊँचाई पर पहुँच कर फिर नीचे गिर पड़ना कहाँ तक उचित माना जायेगा? होना तो यह था कि आज स्थिति सतयुग से भी श्रेष्ठ स्तर की स्वर्गोपम होती। परन्तु ऋषि पाते हैं कि प्रस्तुत परिस्थितियाँ तो नारकीय स्थिति से भी गयी बीती है।

उच्चादर्शाय संसृष्टौ मानवो यदि जीवति।
तिरश्चां प्राणिनां हेयस्तरेण मनसा तथा॥१४॥
अनात्माचरणं कुर्यात्सृष्टिसन्तुलनं तथा।
विकुर्याद् महादश्चर्यं चिन्ताया विषयास्तथा॥१५॥

टीका—उच्च प्रयोजनों के लिए सृजा गया मनुष्य तिर्यक् योनियों में रहने वाले प्राणियों से भी अधिक हेय स्तर की मन:स्थिति रखे, अनात्म आचरण करे और सृष्टि संतुलन बिगाड़े तो सचमुच ही यह बड़े आश्चर्य और चिंता की बात है॥ १४-१५॥

व्याख्या—सोचा तो यह था कि मनुष्य अपने को श्रेष्ठता से जोड़े रहेगा, आज जीवधारियों के लिए एक आदर्श उदाहरण बनेगा पर स्थिति कुछ विचित्र एवं चिंताजनक भी है।

विवेक चूड़ामणि में यह स्पष्ट करते हुए कि मनुष्य भ्रष्ट आचरण की ओर कब प्रवृत्त होता है, संकेत करते हुए कहा गया है।

शब्दादिभिः पञ्चभिरेव पञ्च, पञ्चत्वमापुः स्वगुणेनबद्धाः।
कुरंगमातंगपतंगमीनभृंगा नरः पञ्चभिरञ्चितः किम्॥

अर्थात्—हरिण, हाथी, पतिंगा, मछली और भौंरा ये अपने-अपने स्वभाव के कारण शब्दादि पाँच विषयों में से केवल एक-एक से आसक्त होने के कारण मृत्यु को प्राप्त होते हैं, तो फिर इन पाँचों विषयों से जकड़ा हुआ, असंयमी पुरुष कैसे बच सकता है। उसकी तो दुर्गति सुनिश्चित ही है।

अन्य जीवधारियों के समान यदि मनुष्य भी शिश्नोदार परायण रहकर अपना आचरण व चिंतन बिगाड़ ले तो फिर यह मानना चाहिए कि वह धरती पर इस योनि में अवतरित होकर भी दुर्भाग्यशाली ही बना रहा। आज मानव की उपभोग की ललक व सुख साधना अर्जित करने की एकांगी घुड़दौड ने यह भुला दिया कि इस तथाकथित प्रगति और सभ्यता का सृष्टि संतुलन पर क्या असर पड़ेगा। उच्छृंखल भौतिकवाद अनियंत्रित दानव की तरह अपने पालने वाले का ही भक्षण कर रहा है। पर्यावरण असंतुलन और अदृश्य जगत में संव्याप्त हाहाकार मानव की स्वयं की सरंचना है जो आस्था संकट के रूप में प्रकट हुआ है और जिसकी प्रतिक्रिया विभिन्न विभीषिकाओं के रूप में मानव जाति को भुगतनी पड़ रही है। इतिहास का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि ऐसे उदाहरण पहले भी हुए हैं।

साश्चर्यस्यासमञ्जस्य कारणं किं भवेदहो।
न सामान्यधियामेतज्ज्ञातव्यं तु प्रतीयते॥ १६॥
हेतुना सरहस्येन भवितव्यमिह ध्रुवम्।
हेतुमेनं तु विज्ञातुमिच्छास्माकं प्रजायते॥ १७॥
महाप्राज्ञो भवाँस्तत्त्ववेत्ता कालत्रयस्य च।
द्रष्टाऽविज्ञातगुह्यानां ज्ञाता ग्रन्थिं विमोचय॥ १८॥
इदं ज्ञातुं वयं सर्वे त्वातुराश्च समुत्सुकाः।
अष्टावक्रस्य जिज्ञासां श्रुत्वा तु ब्रह्मज्ञानिनः॥ १९॥
महाप्राज्ञः पिप्पलादः गम्भीरं प्रश्नमन्वभूत्।
प्रशशंस च प्रश्नेऽस्मिन्नवदच्च ततः स्वयम्॥ २०॥

टीका—इस आश्चर्य भरे असमंजस का क्या कारण हो सकता है, यह सामान्य बुद्धि की समझ से बाहर की बात है। इसके पीछे कोई रहस्यमय कारण होना चाहिए। इस कारण को जानने की हम सबको बड़ी इच्छा है। आप महाप्राज्ञ हैं, तत्ववेत्ता हैं, त्रिकालदर्शी हैं, अविज्ञात रहस्यों को समझने वाले हैं। कृपया इस गुत्थी को सुलझाइए। हम सब यह जानने के लिए आतुरतापूर्वक इच्छुक हैं। ब्रह्मज्ञानी अष्टावक्र जी की जिज्ञासा सुनकर महाप्राज्ञ पिप्पलाद ने प्रश्न की गंभीरता अनुभव की। प्रश्न उभारने के लिए उन्हें सराहा और कहा॥१६-२०॥

व्याख्या—यदि यह प्रकरण सामान्य चर्चा से सुलझने जैसा होता तो प्रज्ञासत्र में इस जिज्ञासा को उठाए जाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। यह ऋषिकालीन परंपरा है कि ऐसे असाधारण मानवी गरिमा से जुड़े प्रश्नों पर तत्वज्ञान के मर्मज्ञ महाप्राज्ञों से समाधान पूछे जाते रहे हैं एवं तदनुसार अदृश्य सूक्ष्म जगत में वातावरण बनाया जाता रहा है। जनक एवं याज्ञवल्क्य तथा काशुभुंडि एवं गरुड़ संवाद भी इसी प्रयोजन से संपन्न हुए हैं। सूत शौनक संवाद के माध्यम से आर्ष ग्रंथकार ने कथोपकथन से अनेकानेक समस्याएँ उभारी व सुलझाई हैं।

पिप्पलाद उवाच

महाभाग न ते प्रश्नः केवलं दीपयत्यहो।
अध्यात्मतत्वज्ञानस्य सारतथ्यान्युतापि तु ॥२१॥
लोककल्याणकृच्चापि, श्रोष्यन्त्येनं तु ये जनाः।
सत्यं यास्यंति यास्यंति श्रेयो मार्गेऽविपत्तया॥ २२॥
भवंतः सर्व एतस्याः समस्यायास्तु कारणम्।
समाधानं च शृण्वंतु सावधानेन चेतसा॥ २३॥

टीका—हे महाभाग आपका प्रश्न न केवल अध्यात्म तत्वज्ञान के सार तथ्यों पर प्रकाश डालता है, वरन् लोक कल्याणकारी भी है। जो इस शंका समाधान को सुनेंगे, वे सभी सत्य को समझेंगे, विपत्ति से बचेंगे और श्रेय पथ पर चल सकने में समर्थ होंगे। आप सब लोग इस समस्या का कारण और समाधान ध्यानपूर्वक सुनें॥ २१-२३॥

व्याख्या—महाप्राज्ञ पिप्पलाद प्रश्न की गंभीरता को अनुभव करते हुए कहते हैं कि ऐसी जिज्ञासा का समाधान हर सुनने वाले को सत्य का बोध कराता है। वस्तुतः सुनते तो अनेकों हैं पर वे अंदर तक उसमें प्रवेश कर उसे जीवन में कहाँ उतार पाते हैं। सुनने वाले जिज्ञासु वृतित के हों, जन कल्याण ही जिनका उद्देश्य हो, वे कथा श्रवण सार्थक कर देते हैं।

भगवान्निर्ममे नृ न्यछक्तिसौविध्य संयुतान्।
सुविधां तत्र स्वातंत्र्याच्चयनस्य च संददौ॥ २४॥
दिशां धारां जीवनं च प्राप्तुं गतिविधिं तथा।
स्वतंत्रमकरोदन्ये प्राणिनः प्रकृतिं श्रिताः॥ २५॥

टीका—भगवान ने मनुष्य को जहाँ शक्ति और सुविधा से भरपूर बनाया वहाँ उसे एक विशेष सुविधा स्वतंत्र चयन करने की भी दी है। अपनी दिशाधारा, जीवनक्रम और गतिविधि अपनी इच्छानुसार अपनाने की छूट दी। अन्य सभी प्राणी तो प्रकृति का अनुसरण भर पाते हैं॥ २४-२५॥

व्याख्या—मनुष्य शक्ति साधन संपन्न है, इतना कि जितने सृष्टि के अन्य प्राणी नहीं। शरीर बल तो उनके पास भी है पर बुद्धि कौशल तथा अपना मार्ग स्वयं चुनने की छूट ने उसे विशिष्ट विभूति संपन्न जीव बना दिया है। इस स्वतंत्र चयन में भी भगवान भी कभी हस्तक्षेप नहीं करते।

अस्याः स्वतंत्रतायास्तूपयोगं कः कथं मुने।
करोति संमुखे सेयं परीक्षा पद्धतिः स्थिता॥ २६॥

टीका—हे मुने इस स्वतंत्रता का कौन किस प्रकार उपयोग करता है, यही परीक्षा पद्धति हर मनुष्य के सामने है॥ २६॥

व्याख्या—विधाता ने मनुष्य को विभूतियाँ तो दे दीं पर साथ ही यह अधिकार भी कि वह उनका जैसा चाहे वैसा उपयोग करे। पर यह भी स्पष्ट कर दिया कि इस चयन की छूट का दुरुपयोग जो करता है वह दुर्गति को प्राप्त होता है। दूसरी ओर अपना लक्ष्य जानते हुए जो मानवोचित गरिमा का निर्वाह कर सुनिश्चित योजना बनाकर जीवन व्यतीत करते हैं, अपने कल्याण व परमार्थ को साथ जोड़ते हुए जीवन शकट खींचते हैं, वे सद्गति को प्राप्त होते हैं। यह एक चुनौती हर व्यक्ति के समक्ष है कि वह श्रेय पथ को स्वीकार करे अथवा प्रेय को।

विस्मरंति स्वरूपं ये त्यक्ता चोत्तरदायिता।
पतंति पातगर्ते ते, कर्मणा निश्चितं नराः॥

टीका—जो आत्मस्वरूप को भूलते और उत्तरदायित्वों से विमुख होते हैं, वे पतन के गर्त में गिरते हैं॥ २७॥

व्याख्या—आत्मगरिमा को हर कोई नहीं समझता। आत्मतत्व एक अंगारे के समान है जिस पर कषाय कल्मषों के आवरण चढ़े होते हैं। जो उन्हें हटाने का प्रयास करते हैं वे उसकी चमक व ताप से परिचित प्रभावित होते हैं। बहुसंख्य ऐसे होते हैं जो अपने अंदर छिपी सामर्थ्य को पहचान नहीं पाते, जिम्मेदारी का निर्वाह न कर उलटे अपना पतन और कर लेते हैं। जिन्हें आत्मबोध हो जाता है वे अपना स्वरूप समझकर तदनुसार अपनी जीवन योजना का निर्धारण करते व कृतकृत्य होते हैं।

सदुपयुञ्जते ये तु सौभाग्यं प्रस्तुतं क्रमात्।
उद्गच्छंति तथा यांति पूर्णतां लक्ष्यगां सदा॥ २८॥

टीका—जो प्रस्तुत सौभाग्य का सदुपयोग करते हैं, वे क्रमशः अधिक ऊँचे उठते और पूर्णता के लक्ष्य तक जा पहुँचते हैं॥ २८॥

व्याख्या—सामने आया समय बार-बार नहीं आता। मानव जीवन एक सौभाग्य है जो बार-बार नहीं मिलता। विडंबना यही है कि इसका सदुपयोग करने वाले कम ही होते हैं। जो जीवन का समुचित उपयोग करना जानते हैं वे क्रमिक गति से ऊँचे उठते हुए चरम ध्येय को अंततः प्राप्त करके ही रहते हैं।

प्रत्यक्षं देवता नूनं जीवनं यत्तु दृश्यते।
देवानुग्रहरूपं च ये तदाराधयंति तु॥ २९॥
तेऽधिकाः प्राप्नुवन्त्युच्चा उपलब्धीः शनैः शनै।
दुरुपयुञ्जते ये ते नरा निघ्नंति स्वां गतिम्॥ ३०॥
आत्महंतार इव च दुर्गतिं प्राप्नुवंति ते।
नहि तान् कश्चिदन्योऽपि समुद्धर्तुं भवेत्प्रभुः॥ ३१॥

टीका—जीवन प्रत्यक्ष देवता है, वह ईश्वरीय अनुकंपा का दृश्यमान स्वरूप है। जो उसकी आराधना करते हैं, उपलब्धियों का सदुपयोग करते हैं, उन्हें अधिकाधिक मात्रा में उच्चस्तरीय उपलब्धियाँ धीरे-धीरे मिलती जाती हैं। दुरुपयोग करने वाले अपने पैरों आप कुल्हाड़ी मारते हैं और आत्महत्यारों की तरह दुर्गति का दुःख भोगते हैं, उनका उद्धार कोई नहीं कर सकता है॥ २९-३१॥

व्याख्या—जीवन को एक सहज उपहार मानकर चलने वाले उसके साथ खेलते ही हैं। यदि उसे देवता मानकर चला गया होता तो प्रभु की कृपा का ऐसा दुरुपयोग न होता। और देवताओं की तो मनुष्य अभ्यर्थना याचना अपनी कामना पूर्ति के लिए करते रहते हैं, पर कभी आत्मदेव पर ध्यान नहीं देते। जो सदुपयोग करना जानते हैं वे कभी उपलब्धियों से वंचित नहीं रहते, परंतु दूसरी ओर जो उसका दुरुपयोग करते हैं, वे उसका दंड भी भुगतते हैं। इसी तथ्य को इस प्रकार भी कहा है

मानुष जन्म अमोल है, होय न दूजी बार।
पक्का फल जो गिर पड़ा, लगे न दूजी बार॥

पर इस अमोल मानुष काया का उपयोग कितने कर पाते

हैं यह विचारणीय है।

आत्मज्ञानं नरस्यास्ति गौरवं महदुन्मुखः।
यो दिशां तां प्रति, प्रैतिगतिमंतर्मुखीं स तु॥ ३२॥
भूतं यश्च भविष्यच्च विचार्य वर्तते पुमान्।
आत्मावलंबी स याति द्रुतं प्रगतिपद्धतिं॥ ३३॥
नात्र काठिन्यमाप्नोति ये त्यजंत्यवलंबनम्।
उपेक्षयात्महंतारो दुःखदारिद्र्यभागिनः ॥ ३४॥
पदे पदे तिरस्कारं सहंते यंत्रणा भृशम्।
नारक्यः प्राप्नुवन्त्येव न यांति परमां गतिम्॥ ३५॥

टीका—आत्मज्ञान ही मनुष्य का सबसे बड़ा गौरव है। जो उस दिशा में उन्मुख होता, अंतर्मुखी बनता, अपने भूत और भविष्य को ध्यान में रखते हुए वर्तमान का निर्धारण करता है वह आत्मावलंबी मनुष्य प्रगति पथ पर द्रुतगति से बढ़ चलता है। इसमें उसे फिर कोई कठिनाई शेष नहीं रहती। जो इस अवलंबन की उपेक्षा करते हैं, वे आत्महंता लोग दुःख-दारिद्र्य के भागी बनते हैं। पद-पद पर तिरस्कार सहते और नारकीय यंत्रणाएँ भुगतते हैं, साथ ही सद्‌गति को प्राप्त नहीं कर पाते॥ ३३-३५॥

व्याख्या—मनुष्यों को औरों की अपेक्षा अधिक बुद्धि, विद्या, वैभव, बल, विवेक मिला है। यह बात तो समझ में आती है, किंतु इन शक्तियों का संपूर्ण उपयोग बाह्य जीवन तक ही सीमित रखने में उसने बुद्धिमत्ता से काम नहीं लिया। अर्जित कौशल एवं ज्ञान को उसने मात्र शारीरिक सुखोपभोग तक सीमित रखा है। सारे दुःखों का कारण भी यही है कि हम अपने शाश्वत स्वरूप आत्मतत्व को जानने का कभी प्रयास भी नहीं करते। अपने शरीर को भी नहीं पहचान पाए तो इस शरीर का, बौद्धिक शक्तियों का क्या सदुपयोग रहा?

जो भी व्यक्ति आत्मतत्व का अवलंबन लेने के लिए अपने अंदर की गुफा में झाँकता है तो उसे अपार वैभव-संपदा सामग्री बिखरी दिखाई पड़ती है। आत्मावलंबन का ही चमत्कार है कि मनुष्य अपने विगत के घटनाक्रमों को दृष्टिगत रख भविष्य की योजना बनाता व वर्तमान का निर्धारण सफलतापूर्वक कर पाता है।

भौतिकीः सुविधाः प्रादान्मनुष्येभ्यः प्रभुः स्वयम्।
दिव्यानां च विभूतीनां निधिं वपुषि दत्तवान्॥ ३६॥
किंतु कार्यमिदं तस्याधीनं च कृतवान् प्रभुः।
यद् विवेकयुतां बुद्धिं स्वतंत्रां परिदर्शयेत्॥ ३७॥
उपयोगं साधनानां दुरुपयोगमथाश्रयन् ।
सहभाक् स्वर्ग्यधाराया नारक्याः वापि संभवेत्॥ ३८॥

टीका—ईश्वर ने मनुष्य को भौतिक सुविधाओं का बाहुल्य प्रदान किया, भीतर दिव्य विभूतियों का भंडार भर दिया। पर इतना काम उसे ही सौंपा कि स्वतंत्र विवेक बुद्धि का परिचय दे और साधनों का सदुपयोग या दुरुपयोग करके स्वर्ग या नरक की दिशाधारा का सहभागी बने॥ ३६-३८॥

व्याख्या—मनुष्य में ये दो विशेषताएँ एक साथ पाई जाती हैं। (१) बाह्य जगत में प्रचुर मात्रा में उपभोग हेतु सुख-साधन, प्रतिकूल को भी अनुकूल बना सकने योग्य सामर्थ्य तथा (२) अंतःजगत में देवताओं को भी अप्राप्य आत्मिक संपदा जो उपयुक्त होने पर उसे ऋषि-देव मानव-महामानव स्तर का बनाती है। सृष्टि में अन्य ऐसा कोई भी जीवधारी नहीं, जिसमें इन दोनों का समन्वय हो। उसे सृष्टा का पक्षपात नहीं कहेंगे, क्योंकि उसने इसके साथ एक उत्तरदायित्व उसी के ऊपर छोड़ दिया है कि वह अपनी विवेक शक्ति, दूरदर्शिता का उपयोग कर इन साधनों को किस सीमा तक, किस प्रयोजन में लगा पाता है? इस विवेकशक्ति का जागरण जिसमें जितनी मात्रा में हुआ समझना चाहिए वह उतना ही आध्यात्मिक होता चला गया। सदुपयोग ही स्वर्ग को ले जाने वाली तथा दुरुपयोग नरक की ओर ले जाने वाली पगडंडी है।

प्रगतिर्मानवानां या दुर्गतिर्वाऽपि दृश्यते।
तस्य संरचना स्वस्य तात! जानीहि निश्चितम्॥ ३९॥
मानवः स्वस्य भाग्यस्य विधाता स्वयमेव हि।
तथ्यमेतद् विजानंति ये ते तु निजचिंतनम्॥ ४०॥
प्रयासं साधुभावाय योजयंति न ते पुनः।
पतनं पराभवं वापि सहंते न च यंत्रणाम्॥ ४१॥

टीका—हे तात मनुष्य की जो भी प्रगति दुर्गति दृष्टिगोचर होती है, वह उसकी स्वयं की सरंचना है, यह निश्चित समझो। मनुष्य अपने भाग्य का विधाता आप है जो इस तथ्य को समझते हैं, वे अपने चिंतन और प्रयास को सदाशयता के लिए नियोजित करते हैं। ऐसे लोगों में से किसी को भी पतन-पराभव की यंत्रणा नहीं सहनी पड़ती॥ ३९-४०॥

व्याख्या—आत्मज्ञान की सबसे बड़ी उपलब्धि है यह बोध हो जाना कि हम अपने आप में सर्व-समर्थ शक्तिमान सत्ता हैं व अपना भविष्य स्वयं बना सकते हैं। सृष्टा का यही तो सबसे बड़ा अनुदान है। पुरुषार्थी आत्मबल संपन्न व्यक्ति कभी भाग्य के भरोसे बैठे नहीं रहते। इसीलिए वे हमेशा अपने चिंतन और प्रयासों को उत्कृष्टता से जोड़कर अपनी परिस्थितियाँ स्वयं विनिर्मित करते हैं। भाग्यवादी तो इसी प्रतीक्षा में अवसर गँवाते चले जाते हैं कि उपयुक्त परिस्थितियाँ हों व बिना श्रम-प्रयास के सब अनुकूल होता चला जाए। शास्त्रों में लिखा है

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठँस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन्॥
चरैवेति, चरैवेति।

अर्थात् सोते रहना ही कलियुग है, जागरणोपरांत जँभाई लेना द्वापर है, उठ पड़ना ही त्रेता है, उठकर अपने लक्ष्य के लिए गतिशील हो जाना ही सतयुग है। अतएव लक्ष्य प्राप्ति के लिए चलते रहो, आगे बढ़ते रहो।

वयं यद् ब्रह्मतत्त्वस्य मुने! कुर्मोऽवगाहनम्।
न विवेच्यो विराट् तत्र परमेतदवेहि यत्॥ ४२॥
मानवानामंतराले सत्ता या विद्यते प्रभोः।
तस्या महन्महत्तां तु कथं ज्ञातुं क्षमा वयम्॥ ४३॥
कथं पश्याम एवं च कथं कुर्मस्तथात्मसात्।
प्रयोजनमिदं सर्वं ब्रह्मविद्यां प्रचक्षते॥ ४४॥

टीका—हे ऋषिश्रेष्ठ हम लोग जिस ब्रह्मतत्व का अवगाहन करते हैं, उसमें उद्देश्य विराट् की विवेचना नहीं, वरन् यह है कि मानवी अंतराल में विद्यमान ईश्वरीय सत्ता की महान महत्ता को किस प्रकार समझा जाए एवं उसे कैसे देखा, उभारा व अपनाया जाए। इस संपूर्ण प्रयोजन को ही ब्रह्मविद्या कहते हैं॥ ४२-४४॥

व्याख्या—महाप्राज्ञ पिप्पलाद विषय की गूढ़ता को देखते हुए उसे अधिक स्पष्ट करने का प्रयास करते हुए ब्रह्मविद्या एवं विराट् विश्वपुरुष परब्रह्म की विवेचना में अंतर बताते हैं। सृष्टि का व्यापक विस्तार और उसमें संव्याप्त जड़-चेतन का सम्मिश्रित लीला जगत तो वह पक्ष हुआ जिसे विराट् के नाम से ऋषिवर ने संबोधित किया है। इसी तथ्य को ऋग्वेद में ऋषि ने समझाते हुए कहा है हे मनुष्यो बर्फ से आच्छादित पहाड़, नदियाँ, समुद्र जिसकी महिमा का गुणगान करते हैं, दिशाएँ जिसकी भुजाएँ हैं, हम उस विराट् विश्वपुरुष परमात्मा को कभी नहीं भूलें॥ ४२-४४॥

व्याख्या—ब्रह्मविद्या वह विज्ञान है जिसके अंतर्गत परमपिता के अंशरूप में विद्यमान अपने अंदर अवस्थित सत्ता की महत्ता को समझा, उभारा एवं विकसित किया जाता है। उपासना ईश्वर के इसी रूप की, कि जाती है। पर ब्रह्म तो अचिंत्य अगोचर है, उसके क्रिया-कलापों को जड़ चेतन में गतिविधियों तथा सृष्टि विज्ञान के विभिन्न स्वरूपों में देखा जा सकता है पर जिस ईश्वर, परमात्मा, भगवान, इष्ट की उपासना-साधना अभ्यर्थना करने की चर्चा की जाती है वह तो मनुष्य के अंदर ही बीज रूप में विद्यमान है। इसे पहचान कर, आच्छादित आवरणों को हटाकर जो विकसित कर लेता है वह महामानव देवदूत, ऋषि स्तर तक जा पहुँचता है। ऋद्धि-सिद्धियाँ इसी आत्मतत्व के अनुदान रूप में बरसती हैं कहीं बाहर से नहीं टपकतीं।

भगवान श्रीकृष्ण ने गीता के मोक्ष संन्यासयोग विषयक अध्याय में इस गुह्यज्ञान को और भी अधिक अच्छी तरह स्पष्ट किया है। ईश्वर सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति इस प्रकार कहते हुए भगवान अर्जुन को समझाते हैं हे अर्जुन यत्र पर आरूढ़ हुए के समान सब भूतों को अपनी शक्ति से घुमाता हुआ ईश्वर सब जीवधारियों के हृदय में वास करता है। हे भरत पुत्र तू उसी ईश्वर की शरण में समर्पित हो जा। उसके प्रसाद से तुझे परमशांति और शाश्वत आनंद मिलेगा। यह गुह्य से गुह्यज्ञान मैंने तुझे कहा है, इस पर अच्छी तरह विचार कर।

मीरा, चैतन्य महाप्रभु, रैदास तथा कबीर आदि संतों महामानवों ने अपनी इसी ईश्वर को तो पूजा है। उनकी साधना उपासना अंतजर्गत में विराजमान ईश्वर की थी। प्रतीक उसका कुछ भी हो। ब्रह्मविद्या की साधना किस व्यक्ति को कितना ऊँचा उठा सकी यह इसी पर निर्भर करता है कि किसने आत्मतत्व को समझने का प्रयास किया व उसे विकसित किया।

सुविधासंपदा पूर्णं जगदेतत्तु भौतिकम्।
संपद्भिरात्मिकं तृप्तितुष्टिशांतिभिराप्लुतम्॥ ४५॥
सुविधाः साधनेष्वेव रमंते मंदबुद्धयः।
यथा क्रीडनकैर्बालास्तथा ते संति निश्चितम्॥ ४६॥
आध्यात्मिकस्य जगतः स्वर्ग्यां प्राप्तुं तु संपदाम्।
रुचिर्येषां महाभाग्या धन्यं तेषां हि जीवनम्॥ ४७॥

टीका—भौतिक जगत में सुविधा सामग्री भरी पड़ी है, तो आत्मिक क्षेत्र तृप्ति, तुष्टि और शांतिरूपी संपदा से संपन्न है। जो व्यक्ति सुविधा साधनों में रमते हैं, वे खिलौनों से खेलने वाले बालकों की तरह मंदबुद्धि हैं। जिन्हें आत्मिक जगत की स्वर्गीय संपदा को प्राप्त करने में रुचि है, उन्हें बड़भागी कहा जाना चाहिए, उन्हीं का मानव जीवन धन्य है॥ ४५-४७॥

व्याख्या—मनुष्य को बाह्यजगत में भौतिक उपलब्धियाँ मिली हैं जो अंत:जगत में चेतन शक्ति प्रवाह के रूप में आत्मिक संपदा भी। अज्ञानवश मनुष्य भौतिक उपलब्धियों को ही उन्नति सफलता का प्रतीक मान लेता है। मनुष्य शरीर बल, बुद्धि, धन, वैभव, यश, ऐश्वर्य, पद-प्रतिष्ठा के क्षेत्र में भले ही हिमालय की तरह ऊँचा व सागर की तरह गहरा क्यों न हो, आत्म संपदा के अभाव में वह निम्न कोटि का ही जीवन जिएगा, सुख तो होंगे पर शांति न होगी, साधन तो होंगे पर तृप्ति न होगी।

भौतिक जगत की मृग-मरीचिका आत्मा की प्यास को कभी बुझा नहीं सकती। ऐसी बात नहीं कि जीवन में भौतिक पदार्थों का कोई मूल्य नहीं। निर्वाह हेतु कुछ सीमा तक वे आवश्यक तो हैं पर दिग्भ्रांत मनुष्य साधनों को ही साध्य मानकर उनमें भटक जाता है। वस्तुत: जीवन में दोनों का ही समुचित समन्वय करना पड़ता है। एक चित्रकार अपनी रचना में कला एवं सौंदर्य का समावेश कर ही उसे सर्वश्रेष्ठ

बना पाता है। भौतिक जगत यदि कला है तो आत्मिक जगत सौंदर्य। पहला पक्ष तो वहाँ तक जरूरी है जहाँ तक शरीर निर्वाह के लिए साधनों की आवश्यकता है। दूसरा पक्ष अपने आपको समग्र बनाने, आत्मिक उत्कर्ष द्वारा चरम लक्ष्य पाने के लिए आवश्यक है। जिन्हें आत्मिक जगत की संपदा को पाने में रुचि बढ़ती है वे ही धन्य होते हैं और शरीर की दृष्टि से तृप्ति, ज्ञान की दृष्टि से तुष्टि और आत्मा की दृष्टि से शांति का अमूल्य वैभव पाने में सफल होते हैं।

बहिर्मुखाः जनाः सर्वे भ्रमजालेषु पाशिताः।
अंतर्मुखाश्च तथ्यज्ञा सत्यं श्रेयः श्रयंत्यलम्॥ ४८॥

टीका—बहिर्मुखी भ्रम जंजालों में उलझते हैं। अंतर्मुखी तथ्यों को समझते सत्य को अपनाते और श्रेय को पाते हैं॥ ४८॥

व्याख्या—जैसा कि पहले ऋषि श्रेष्ठ ने स्पष्ट किया है भौतिक जगत और आत्मिक जगत दोनों ही क्षेत्रों में समुचित समन्वय स्थापित कर मनुष्य आत्मोत्थान का पथ प्रशस्त कर सकता है। परंतु ऐसे व्यक्ति जो बाह्य आकर्षणों से विरत हो अपने आपको आत्मिक पुरुषार्थ में नियोजित कर दें, कम ही होते हैं। इसी आधार पर वे बहिर्मुखी और अंतर्मुखी दो समूहों में जन समुदाय को विभाजित करते हैं। पहले भटकते हैं, दूसरे राह खोजते हैं व अनेकों को दिखाते हैं। एक संत ने इनकी बड़ी सुंदर व्याख्या प्रस्तुत उपाख्यान में की है।

अंतर्जगत उत्थानं पर्यवेक्षणमेव च।
आत्मविज्ञानमस्त्यस्मिन्नुपलब्धिर्यथा-यथा॥ ४९॥
यस्य तत्क्रमतोगृह्णन्नृषीणां भूमिकामपि।
देवदूतावताराणां महामानवरूपिणाम्॥ ५०॥
सफलं मानवं जन्म स्वं करोति तथा च सः।
कल्याणमार्गं जगतः प्रशास्ति च महामुने॥ ५१॥

टीका—अंतर्जगत का पर्यवेक्षण और अभ्युत्थान ही आत्मविज्ञान है। जिसे यह उपलब्धि जितनी मिल सकी, वह उसी क्रम में महामानवों, ऋषियों, देवदूतों और अवतारियों की भूमिका निभाते हुए मनुष्य जन्म को सार्थक करता है तथा जगत् के कल्याण का मार्ग भी प्रशस्त करता है॥ ४९-५१॥

व्याख्या—आत्मविवेचन ऋषि प्रणीत विद्या है। अपने अंदर झाँककर आत्म निरीक्षण, विश्लेषण तथा तदुपरांत विकास का पथ खोज लेना ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। मात्र निरीक्षण ही काफी नहीं, उस क्षेत्र में आगे कैसे बढ़ा जाए? यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। हममें से अधिकांश ऐसे हैं जो बहिरंग तक ही उलझे रहते हैं कभी अंदर झाँकते भी नहीं।

जिज्ञासायाः समाधानं त्वेकमेवास्ति तात यत्।
स्वतंत्रो मानवः स्वस्यां प्रगतौ दुर्गतौ भृशम्॥ ५२॥
वृत्वा स्वयमनौचित्यमात्मने स विषद्रुमम्।
स्थिरयत्यात्मनो यस्य गौरवे विपुला रुचिः॥ ५३॥
आत्मनिर्माणरूपे यः पुरुषार्थे रतस्तथा।
सन्मार्गे साहसं गन्तुं तस्य पातो न संभवः॥ ५४॥

टीका—हे तात आपकी जिज्ञासा का समाधान एक ही है कि मनुष्य को अपनी प्रगति और दुर्गति की पूरी छूट मिली है। अनौचित्य का वरण करके वह अपने लिए स्वयं ही विष वृक्ष रोपता है। जिसे आत्मगौरव का चाव है, जो आत्मनिर्माण रूपी पुरुषार्थ में रत रहता है, जिसमें सन्मार्ग पर चलने का साहस है, उसका कभी पतन-पराभव नहीं होता॥ ५२-५४॥

व्याख्या—जिसे वास्तव में आत्मगरिमा के प्रति रुझान होता है, वही सत्साहस अपनाता है और प्रगति की दिशा में आगे बढ़ पाता है। यह छूट पूरी तरह से ईश्वर की ओर से मिली है कि मनुष्य किस मार्ग पर चले। अपना पतन रोकना अपने ही बस की बात है। वरण जिसने जो किया वह वैसा ही बन गया।

आत्मगरिमा के श्रेयाधिकारी किन्हीं भी परिस्थितियों में अपनी आंतरिक महानता भूलती नहीं। वह प्रवाह सहज ही उन्हें उत्कृष्टता की ओर खींच ले जाता है।

सामान्यास्तु जनाः सर्वे गृह्णंतो दूरदर्शिताम्।
विवेकं संत्यजंतश्चाकर्षणेषु भ्रमद्धियः॥ ५५॥
कुमार्गगामिनो भूत्वा दुरूहां दुःखसंततिम्।
सहंते, मौढ्यामायया यदि मोक्तुं समे तु ते॥ ५६॥
आत्मावलंबिनां यादृक् साहसं तु विवेकिनाम्।
लभ्येरंस्तेऽपि कुत्रापि ता विपत्ति विभीषिकाः॥ ५७॥
द्रष्टुं नैव तु शक्ष्यामो दृष्टा मग्नास्तु यत्र ते।
समाप्तिं नरकस्यायं हाहाकारो गमिष्यति॥ ५८॥

टीका—सामान्य जन अदूरदर्शिता अपनाते, विवेक को छोड़ आकर्षणों में भटकते हैं। कुमार्गगामी बनकर दुरूह दुःख सहते हैं, यदि उन्हें इस मूढ़ता की माया से छूटने का और विवेकवान आत्मावलंबियों जैसा साहस मिल सके तो कहीं भी उन विपत्ति-विभीषिकाओं के दर्शन न हों जिनमें वे बुरी तरह धँसे-फँसे दृष्टिगोचर होते हैं, साथ ही नारकीय वातावरण का यह हाहाकार समाप्त हो जाए॥ ५५-५८॥

व्याख्या—विवेक का आश्रय छोड़ना सबसे बड़ी भूल है। बौद्धिक परावलंबन व्यक्ति को सामयिक आकर्षणों में ही रस ढूँढ़ने आनंद खोजने को विवश करता है, जबकि दूरगामी परिणामों की उसे कभी कल्पना भी नहीं होती।

महामनीषिणस्तत्त्वज्ञानिन एतदेव हि।
आत्मतत्त्वं तु विज्ञातुमुद्बोद्धुं चास्य मूर्च्छनाम्॥ ५९॥
प्रौढं परिष्कृतं कर्तुं भजंते योग-साधनाम्।
तपस्यायां रता हेम्नः परिष्कार इवास्ति-यत्॥ ६०॥

टीका—तत्वज्ञानी महामनीषी इसी आत्मतत्व को समझने,

उसकी मूर्च्छना जगाने और उसे प्रौढ़ परिष्कृत करने के लिए योग-साधना करते और तपश्चर्या में निरत होते हैं। यह कार्य स्वर्ण को परिष्कृत करने जैसा है॥ ५९-६०॥

व्याख्या—चूँकि जन समुदाय मूढ़ता की माया से छूट नहीं पाता, प्रसुप्त स्थिति में पड़ा जीवन शकट खींचता रहता है, तत्वदर्शीगण उन्हें आत्मतत्व की गरिमा जानने का मार्ग बताते हैं। सोये को जगा लेना सबसे बड़ी उपलब्धि है। मात्र जागना ही काफी नहीं, साधना पुरुषार्थ भी किया जाना जरूरी है और शोधन हेतु तपश्चर्या भी। इससे कम में उन्हें कुसंस्कारों से मुक्ति पाना संभव नहीं, जो कुहासे के रूप में, काली घटाओं के रूप में आत्मतत्व पर छाए रहते हैं।

पात्रताया विकासोऽयं ह्यनेकानेक संपदाम्।
उपलब्धेर्विभूतीनां पंथाश्च केवलः स्मृतः॥ ६१॥

टीका—पात्रता का विकास ही अनेकानेक विभूतियों और संपदाओं की उपलब्धि का एकमात्र मार्ग है॥ ६१॥

व्याख्या—आत्मतत्व को जगाने व तप पुरुषार्थ को करने के अतिरिक्त भी एक और पक्ष ऐसा रह जाता है जिसे छुए बिना आत्मिक संपदा प्राप्त नहीं होती। पात्रता वह पारस है जो अनगढ़ सी धातु को स्वर्ण बना देती है। इसी के बदले दैवी अनुग्रह बरसता है बिना माँगे मिलता है।

भौतिक क्षेत्र की तुलना में अध्यात्म के प्रतिफल कई गुने अधिक महत्त्वपूर्ण सामर्थ्यवान और चमत्कारी हैं। किन्हीं-किन्हीं महापुरुषों में उन चमत्कारी विशेषताओं को देख एवं सुनकर हर व्यक्ति के मुँह में पानी भर आता है तथा उन्हें प्राप्त करने के लिए मन ललचाता है, पर अभीष्ट स्तर का आत्मिक पुरुषार्थ न कर पाने के कारण उस ललक की आपूर्ति नहीं हो पाती। पात्रता के अभाव में अधिकांश को दिव्य आध्यात्मिक विभूतियों से वंचित रह जाना पड़ता है जबकि पात्रता विकसित हो जाने पर बिन माँगे ही वे साधक पर बसरती हैं। उन्हें किसी प्रकार का अनुनय-विनय नहीं करना पड़ता है। दैवी शक्तियाँ परीक्षा तो लेती हैं, पर पात्रता की कसौटी पर खरा सिद्ध होने वालों को मुक्तहस्त से अनुदान भी देती हैं। मिलता उन्हें ही है जो लौकिक कामनाओं, ऐषणाओं से मुक्त हैं, निस्पृह और उदार हैं।

आत्मनिरीक्षणं चात्मनिर्माणः सर्वतो महान्।
पुरुषार्थो मतो नास्ति साधना याचनाऽथ च॥ ६२॥
परावलंबनं नैव विद्यते विद्धि तामतः।
आत्मनस्तु परिष्कारस्याधारः सुनियोजितः॥ ६३॥

टीका—आत्म निरीक्षण और आत्म निर्माण ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। साधना न तो परवलंबन है, न याचना। उसे आत्म परिष्कार का सुनियोजित आधार ही माना गया है॥ ६२-६३॥

व्याख्या—इसमें कोई संदेह नहीं कि जीवन कल्पवृक्ष की तरह असंख्यों सत्परिणामों से भरा पूरा है। पर उसका लाभ तभी मिलता है, जब उसे ठीक तरह साधा, सँभाला जाए। जीवन क्षेत्र को सुव्यवस्थित बनाने के लिए किए गए पुरुषार्थ को ही साधना कहते हैं। अपने अंदर की वृत्तियों का निरीक्षण उन पर नियंत्रण तथा सत्प्रवृत्तियों को उनका अंग बना लेने से ही व्यक्तित्व निर्माण का प्रयोजन सधता है।

आत्मनस्तु विकास यः कर्तुं शक्तः स एव हि।
सुसंस्कृतश्च सफलस्तथ्यस्यास्य महामुने॥ ६४॥
प्रत्यक्षायै क्रियंतेऽनुभूत्यै च साधनात्मकाः।
पराक्रमा वयं नैवमृषयो हे मनीषिणः॥ ६५॥
अध्यात्मामृतपानस्य सीम्नि बद्धा भवेम तु।
उपलब्धिभिरेताभिर्बोद्ध्याः सर्वे जना सदा॥ ६६॥
जिज्ञासानां न चैवासां संभवेदनिवार्यता।
समर्थो ना कथं दीनहीनवद् विविधा इमाः॥ ६७॥
यातनाः पतनस्याथ पराभूतेश्च संततिम्।
सहते पातगर्ताच्च बहिरेतुं न हि क्षमः॥ ६८॥

टीका—हे महर्षे जो आत्म विकास कर सका, वही सफल सुसंस्कृत बनता है। इस तथ्य की प्रत्यक्ष अनुभूति के लिए ही साधनात्मक पराक्रम किए जाते हैं। हे ऋषि मनीषियो हम सब इस अध्यात्म अमृत का पान कराने तक ही सीमित न रहें, वरन् अपनी उपलब्धियों से जन-जन को अवगत कराएँ। इस स्थिति में ऐसी जिज्ञासा की आवश्यकता ही न पड़े कि समर्थ मनुष्य दीन हीनों की तरह विविध पतन-पराभव की यातनाएँ क्यों सहता है, पतन के गर्त से बाहर क्यों नहीं निकल पाता॥ ६४-६८॥

व्याख्या—साधना एक पराक्रम है, संघर्ष है जो अपनी ही दुष्प्रवृत्तियों से करना होता है। जो इस संग्राम में जितना सफल होता है वह उतना ही बहिरंग में सुसंस्कृत एवं अंतरंग की दृष्टि से महान बनता चला जाता है।

साधना में सभ्यता और संस्कृति दोनों का ही समावेश रहता है। इसमें संस्कृति को उद्गम और सभ्यता को प्रवाह कहा गया है। संस्कृति विचारणा, मान्यता, आस्था, निष्ठा में उत्कृष्टता के समावेश को कहते हैं। इसी पृष्ठभूमि की प्रेरणा से गतिविधियों का निर्धारण संभव होता है। शालीनता की पक्षधर जीवनचर्या को सभ्यता कहते हैं सभ्य बन सकना उसी के लिए संभव है जो सुसंस्कृत हो। संस्कृति मन:संस्थान में उगाई और बढ़ाई जाती है। सभ्यता अपनाने के लिए शरीर को सधाया जाता है। जंगली जानवरों को सरकस में कलाकारिता दिखाने के लिए जिस प्रकार प्रशिक्षित किया जाता है उसी प्रकार साधनात्मक अनुशासन में जकड़कर अनगढ़ मनुष्य को सुगढ़, सुसंस्कृत बनाया जाता है। इसी प्रयास को सभ्यता

संवर्द्धन कहते हैं।

यथार्थज्ञानसंयुक्तं श्रुत्वा तु प्रतिपादनम्।
आरण्यकस्थिताः सर्वे तुष्टास्ते तु महर्षयः॥ ६९॥
समाधानं च लब्धुं तत्सन्दर्भेऽधिकं ततः।
ज्ञातुमन्या च जिज्ञासा प्रचंडावेगतोऽवहत्॥ ७०॥
आरण्यकस्थिताः सर्व ऋषयो ये मनीषिणः।
सन्दर्भे प्रष्टुमन्यच्च यद्यप्यासन् समुत्सुकाः॥ ७१॥
सायंकाले समायाते संध्यावंदन कर्म च।
सम्मुखे प्रस्तुतं, सत्रं समाप्तं दैनिकं ततः॥ ७२॥
महाप्राज्ञः पिप्पलादो जगाद हे महर्षयः।
भवंतोऽधिकमुत्सुकाज्ञा तुं प्रत्यक्षमस्ति हि॥ ७३॥
सत्रमद्यतनं यातु विश्रमं श्वः पुनश्चलेत्।
समाधास्याम्यलं ज्ञानसत्रे जिज्ञासितं भृशम्॥ ७४॥
उत्थितास्ते प्रसन्नायां मुद्रायां तु महर्षयः।
नत्वा तं तु महाप्राज्ञं परस्परमथापि च ॥ ७५॥
ऋषयो दैनिकं कर्तुं साधनाकृत्यमुत्थिताः।
द्वितीयेऽह्नि ततोऽप्युग्राजातोत्कंठा तु बोधितुम्॥ ७६॥
चलतां हृदये तेषां सर्वेषामेव या भृशम्।
झंझावात महावेग विजृंभण पराऽभवत्॥ ७७॥

टीका—इस यथार्थता से भरे प्रतिपादन को सुनकर आरण्यक में उपस्थित ऋषियों को संतोष भी हुआ और समाधान भी मिला। पर साथ ही इस संदर्भ में अधिक जानने की दूसरी जिज्ञासा और भी प्रचंड वेग से उठ पड़ी। आरण्यक में उपस्थित ऋषि-मनीषी इस संदर्भ में और कुछ पूछना चाहते थे, पर सायंकाल हो जाने और संध्या वंदन का अनिवार्य नित्य नियम सामने होने के कारण उस दिन का सत्र समाप्त कर दिया गया। महाप्राज्ञ पिप्पलाद ने कहा, मनीषियों आप लोग इस संबंध में अधिक जानना चाहते हैं, ऐसा प्रत्यक्ष दिखाई पड़ रहा है। आप लोग आज के सत्संग को विराम दें। कल पुनः यह ज्ञानसत्र चलेगा, तब आपकी अन्य जिज्ञासाओं का विस्तारपूर्वक समाधान करेंगे। सभी प्रसन्न मुद्रा में उठे। महाप्राज्ञ को अभिवंदन और नमन करके ऋषिगण अपने नियमित साधना कृत्य के लिए चले गए। दूसरे दिन और भी अधिक जानने की प्रबल उत्कंठा चलते-चलाते उन सबके मन में आँधी-तूफान जैसी मचल रही थी॥ ६९-७०॥

व्याख्या—अध्यात्म दर्शन संबंधी प्रस्तुत समाधान जिस रोचक शैली में महाप्राज्ञ द्वारा किया गया उससे ऋषि समुदाय को न केवल अपने इस ज्ञान सत्र के प्रथम दिन में उपस्थिति से संतोष व तृप्ति मिली, वहाँ इसी विषय से संबंधित अन्य कई प्रश्न भी अंदर जन्म लेने लगे। परंतु जैसा कि आश्रम व्यवस्थानुसार गायत्री महाप्रज्ञा की संध्या उपासना का समय आ चुका था, इस समागम को विराम दे दिया गया। एक ओर जिज्ञासा, दूसरी ओर अध्यात्मज्ञान के व्यावहारिक पक्ष नित्य कर्म की अनिवार्यता को दृष्टिगत रख महाप्राज्ञ ने उन्हें अगले दिन इसी विषय के विस्तार में जाकर पुनः मंथन-परामर्श का क्रम चलाने का आश्वासन दिया व सभी ऋषिगण उल्लास भरे वातावरण में परस्पर नमन कर विसर्जित हो गए।

इति श्री मत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरण्योः
श्री पिप्पलाद-अष्टावक्र ऋषि-संवादे अध्यात्मदर्शन इति प्रकरणो नाम
॥ द्वितीयोऽध्यायः॥

॥ अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

अजस्र अनुदान उपलब्धि प्रकरण

आरण्यकस्य सत्रस्य द्वितीयेऽह्नि मनीषिणः।
ऋषयः कृतनित्यास्ते प्रभातसमये शुभे॥ १॥
देवदारुतरूणां ते संगताः सघने शुभे।
उपवने तं महाप्राज्ञं व्यासपीठसुशोभितम्॥ २॥
नत्वा पिप्पलादं ते, क्रमशः स्वं स्वमासनम्।
यथाक्रमं व्यराजंत तत्त्वजिज्ञासवः समे॥ ३॥
स्मारयन् प्रथमं तत्त्वचिन्तनं निर्गताह्निकम्।
श्वेतकेतुः समाधातारं पप्रच्छ तु वाग्मिनम्॥ ४॥

टीका—आरण्यक सत्र के दूसरे दिन प्रातःकाल की वेला में नित्य नैमित्तिक कर्मों से निवृत्त होकर सभी ऋषि-मनीषी पुनीत देवदारु वृक्षों के सघन सुंदर उद्यान में एकत्रित हुए। व्यासपीठ पर विराजमान महाप्राज्ञ पिप्पलाद को नमन-वंदन करने के उपरांत वे सभी तत्वजिज्ञासु अपने-अपने नियत स्थान पर यथाक्रम विराजमान हो गए। पिछले दिन के तत्व-चिंतन का स्मरण दिलाते हुए विचारवान श्वेतकेतु ने समाधानी प्रवक्ता से पूछा॥ १-४॥

श्वेतकेतु उवाच—

देव! किं सर्वथा मर्त्यः स्वतंत्रोऽथ च सर्वथा।
परिपूर्णोऽनपेक्ष्योऽन्यैः प्रगतेः पथि संचरन्॥ ५॥
स्वतंत्रातायां तस्यास्ति बाधको नहि कोऽपि किम्।
यद् यद् वांछति तत्तत् सक्षमः कर्तुमृषीश्वरः॥ ६॥
सर्वस्वं किं तदिच्छास्ति सामर्थ्यं च तदीयकम्।
भवता मानवस्यालं गरिम्णो यद्विनिर्मितौ॥ ७॥
ईश्वरानुग्रहः प्रोक्तो व्यक्तिसौभाग्यमेव च।
यथार्थमपि तत्रालं, काठिन्यं व्यावहारिकम्॥ ८॥
क्षममाणो बालबुद्धिं कृपया वद मानवः।
सन्मार्गप्रस्थितोऽन्यस्यापेक्षां कुरुते न वा॥ ९॥

टीका—देव क्या मनुष्य सर्वथा स्वतंत्र और सर्वथा परिपूर्ण है? क्या उसे प्रगति क्रम पर अग्रसर होते हुए किसी की सहायता अपेक्षित नहीं होती। हे ऋषि श्रेष्ठ क्या उसकी स्वतंत्रता में कोई बाधक नहीं है? क्या वह जो चाहे सो कर सकता है? क्या उसकी इच्छा एवं सामर्थ्य ही सब कुछ है? आपने मनुष्य की गरिमा बताते हुए ईश्वर के अनुग्रह और व्यक्ति के सौभाग्य की चर्चा की थी वह यथार्थ होते हुए भी उसमें कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ जान पड़ती हैं। हमारी बाल-बुद्धि को क्षमा करते हुए कृपया यह कहें कि मनुष्य को सन्मार्ग पर अग्रसर होने के लिए अन्य किसी की सहायता अपेक्षित है या नहीं॥ ५-९॥

व्याख्या—जिज्ञासु श्रोता श्वेतकेतु अध्यात्म दर्शन प्रकरण की चर्चा को आगे बढ़ाते हुए मनुष्य की स्वतंत्रचयन क्षमता पर अपना असमंजस व्यक्त करते हैं। प्रजासत्र के प्रथम दिन के स्पष्टीकरण में महाप्राज्ञ पिप्पलाद ने यह कहा था कि मनुष्य सृष्टि का सिरमौर है, विशिष्ट विभूतियों से संपन्न है व उसे विधाता की ओर से अपनी दिशाधारा तथा जीवन की गतिविधियाँ अपनाने की पूरी छूट है। अपनी शंका व्यक्त करते हुए वे कहते हैं क्या इसका यह अर्थ है कि मनुष्य को बाह्य क्षेत्र से किसी प्रकार की कोई सहायता अभीष्ट नहीं है? अंतर्मुखी बन अपने ही अंदर से प्रगति की दिशाधारा चुनकर मनुष्य महान बनता है, यह तथ्य सही है, अनुभूत तथ्य है। फिर भी यह जिज्ञासा उनके मन में अभी भी शेष है कि मनुष्य को आत्मावलंबन व स्वतंत्र निर्णय बुद्धि के अतिरिक्त भी परम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए कौन-सा ऐसा पक्ष शेष रह जाता है जिसकी व्याख्या मुनिवर ने नहीं की है।

श्वेतकेतु ने बड़ी बुद्धिमत्ता पूर्वक इस तथ्य को व्यक्त किया है कि ज्ञान मात्र सौभाग्य व ईश्वरीय कृपा की व्याख्या तक सीमित न रहे वरन् उसके व्यावहारिक पक्ष को भी खोला जाए ताकि सामान्य जन उससे लाभ उठा सकें।

यदि थोड़ा गहराई में प्रवेश करें तो हम अपने चारों ओर देखते हैं कि सिद्धांत तो कईयों को ज्ञात हैं। तत्वज्ञान, ब्रह्मविद्या की दृष्टि से वे विद्वान भी माने जाते हैं पर जब व्यावहारिकता की बात आती है तो वहाँ वे शून्य पाए जाते हैं। ज्ञान का श्रवण तो अच्छा है पर यदि उसे व्यवहार में उतारना आया नहीं तो ऐसा अधूरा ज्ञान किस काम का? लक्ष्य तक पहुँचने के लिए अध्यात्म विज्ञान के क्षेत्र में भी यही सिद्धांत लागू होता है। एक चरण सिद्धांत का, एक व्यवहार का। सिद्धांत अपनी जगह अटल व यथार्थ होते हुए भी व्यावहारिक न हो तो प्रगति रुकी ही रहेगी।

प्रश्नं श्रुत्वा महाप्राज्ञः प्रसन्नः प्रशशंस सः।
जिज्ञासूनां मतिं सूक्ष्मां कथयामास तात हे॥ १०॥
सारयुक्ता व आशंका समाधानं च श्रूयताम्।
तस्याः सर्वैः बुधैः सार्धं सावधानेन चेतसा॥ ११॥

टीका—प्रश्न को सुनकर महाप्राज्ञ बहुत प्रसन्न हुए, जिज्ञासुओं की सूक्ष्म बुद्धि को सराहा और कहा तात तुम्हारी आशंका सारगर्भित है। उसका समाधान ध्यानपूर्वक अन्य विद्वानों के साथ श्रवण करें॥ १०-११॥

व्याख्या—प्रज्ञा संपन्न समर्थ तत्वदर्शी के पूछे गए उन प्रश्नों की सराहना करते हैं जिनसे संशय का निवारण होता हो तथा आत्म कल्याण और लोक कल्याण के सदुद्देश्य को लेकर पूछे गए होते हैं। जिज्ञासा से युक्त उचित प्रश्नों का समर्थों द्वारा समय-समय पर समाधान किया जाता रहा है। अर्जुन को उठाए गए प्रश्नों को सुनकर श्रीकृष्ण ने उनकी सूक्ष्म बुद्धि की प्रशंसा की। महाभारत में गीता का उपदेश ऐसे ही जिज्ञासा से युक्त प्रश्नों तथा उत्तरों से भरा पड़ा है। भारत की यह आर्षकालीन परंपरा रही है। आरण्यकों का संचालन ऐसे ब्राह्मण करते थे जो अध्यात्म विद्या के मर्मज्ञ होते थे। विविध प्रसंगों पर उठाए गए अध्यात्म प्रश्नों का वे युगानुरूप उत्तर देते थे। जिज्ञासु उनका श्रवण करते तथा भावी रीति-नीति निर्धारित करते थे। इसी कारण यहाँ का जीवन सदैव प्रसन्न, संतुष्ट, सद्गति शील और स्वर्गीय रहा है।

जीवोंऽश ईश्वरस्याति तेनैवास्ति च संयुतः।
श्रेष्ठमार्गे प्रयातुं चेद् याचते शक्तिमेष तु॥ १२॥
उदारः सददात्येनां प्राप्य चैवं सहायताम्।
कृतकृत्या भवंत्येते भक्तास्तेजस्विनोऽपि च॥ १३॥
सिद्धींस्ता अद्भुतास्ते तु वृतुं शक्ता भवंति च।
अग्रगानां सुरूपाश्च प्राप्यभूतीः गताः श्रमम्॥ १४॥

टीका—जीव ईश्वर का अंश है, उसके साथ जुड़ा हुआ भी है। श्रेष्ठता के मार्ग पर चलने के लिए जब शक्ति माँगी जाती है, तो वह उसे उदारतापूर्वक देता भी है। इस प्रकार की सहायता पाकर अनेकों भक्त जन कृतकृत्य हुए हैं, तेजस्वी बने हैं, अद्भुत सफलताएँ वरण करने में समर्थ हुए हैं तथा अग्रगामियों के अनुरूप विभूतियाँ प्राप्त करते हुए परम लक्ष्य

तक पहुँचे हैं॥ १२-१४॥

व्याख्या—जिज्ञासा का समाधान विषयानुरूप करते हुए महाप्राज्ञ कहते हैं कि मनुष्य उस परमसत्ता का एक अंश होने के नाते उससे अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। मनुष्य अपने निर्णय के लिए पूर्ण रूपेण स्वतंत्र है। इसमें कहीं वह कोई हस्तक्षेप नहीं करता। विवेक का अवलंबन लेकर मनुष्य जब भी उत्कृष्टता की ओर बढ़ता है तो फिर उसकी मदद के लिए अनुदान लुटाने के लिए भी वह सहर्ष तैयार हो जाता है। यही परब्रह्म की विशेषता है। चयन की स्वतंत्रता, औचित्य-अनौचित्य का वरण, यह काम उसने जीव के जिम्मे छोड़ा है तथा भटकने पर सीख, दंड आदि के रूप में वापस नहीं मार्ग पर लाना एवं सन्मार्ग पर चलने पर मुक्त हस्त से अनुदान लुटाना यह अपने जिम्मे रखा है। जीव ब्रह्म की एकता व परस्पर संबंधों की यह विशेषता ही मनुष्य रूपी जीवधारी को अन्यों की तुलना में वरिष्ठ ठहराती है।

जिस प्रकार किसी वनस्पति की विशेषताएँ उसका गुण-दोष, जड़-तनेत्वक् यहाँ तक कि फूल पत्ती आदि के अंश-अंश में ओत-प्रोत हैं, उसी प्रकार निश्चय ही ईश्वर के सारे गुण विशेषताएँ जीव में हैं, उसका अंश, उसका पुत्र प्रतिनिधि होने के नाते ओत-प्रोत हैं।

अनन्तं तत्परं ब्रह्मतदचिन्त्यमगोचरम्।
समग्रं तत्तु विज्ञातुं न हि शक्यं कथञ्चन॥ १५॥
मनुष्येण सहैवास्ति सत्ता तु परमात्मनः।
संयुक्तोत्कृष्टतादर्शवादिता परमात्मना॥ १६॥
सघनता तस्य जीवेन सह संयुज्यतेऽतः।
अनुग्रहेण तस्यापुर्भक्ता भूतीर्वरानलम्॥ १७॥

टीका—परब्रह्म अनंत, अचिंत्य, अगोचर एवं अद्‌भुत है, उसे समग्ररूप में जान सकना किसी के लिए भी शक्य नहीं। मनुष्य के साथ उसकी परमात्म सत्ता ही जुड़ती है। उत्कृष्ट आदर्शवादिता का समुच्चय ही परमात्मा है जीव के साथ उसी की सघनता जुड़ती है, उसी के अनुग्रह से वैभव वरदान का भंडार भक्तजनों को हस्तगत होता है॥ १५-१७॥

व्याख्या—परमात्मसत्ता का एक विराट् असीम स्वरूप वह है जो हमारे चारों ओर दिग-दिगंत में व्याप्त है। सामान्य बुद्धि इसे समझ नहीं पाती, न इसे परिपूर्ण रूप में जाना जा सकता है। दूसरा स्वरूप यह है जिससे जीव जुड़ा हुआ है। एक को परब्रह्म एवं दूसरे को परमात्मा कहते हैं। पहला सृष्टि की नियम व्यवस्था, गतिचक्र इत्यादि का नियंत्रणकर्त्ता है, स्फुल्लिंगों के रूप में इसी दिव्य ज्योति का प्रकाश भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई पड़ता है।

आदर्शभूतसत्ता तु परमात्मन एव सा।
युज्यते मानवैर्योग्यैरनुरूपैरलं मुदा ॥ १८॥
अनुरूपत्वमेवैतदनुकूलत्वमेव च।
उच्यते पात्रता तां च प्राप्तुमेवाप्त पूरुषाः॥ १९॥
उपासनासाधनानां विधानानि व्यधुर्न तु।
स्तवनोपक्रमस्यास्ति प्रभोर्वोपहृते रतिः॥ २०॥
पात्रतां विकसितां कृत्वा मनुष्यः परमात्मनः।
अनेकानेकदिव्यानुदानान्यासादयत्ययम्॥ २१॥

टीका—आदर्शों की प्रतीक परमात्म सत्ता उन्हीं मनुष्यों के साथ जुड़ती प्रसन्न होती है, जो उसके अनुरूप हैं। इस अनुरूपता, अनुकूलता को ही पात्रता कहते हैं। पात्रता विकसित करने के लिए ही आप्तजनों ने उपासना और साधना का विधान बनाया है। ईश्वर को किसी स्तवन उपक्रम या उपहार की आवश्यकता नहीं है। पात्रता विकसित करके ही मनुष्य परमात्मा से अनेकानेक दिव्य अनुदान प्राप्त करता है॥ १८-२१॥

व्याख्या—परमात्मा उपयुक्त पात्र के साथ ही जुड़ता, सघनता स्थापित करता है और अनुदान वर्षा के माध्यम से अपनी प्रसन्नता उल्लास व्यक्त करता है। इसके लिए उन्हीं गुणों को अपने जीवन में उतारना होता है जिनका समुच्चय परमात्मसत्ता में है। इतना करने भर से वह पात्रता पा लेता है जो उसे ईश्वर के साथ बैठने योग्य अधिकार दे देती है। पात्रता अर्थात् वह गठबंधन जो आत्मसत्ता को परमात्मसत्ता से जोड़कर आदान-प्रदान का क्रम आरंभ कर देता है। भक्त की गुण कर्मों की उत्कृष्टता व आदर्शों के प्रति समर्पण तथा भगवान की अनुकंपा यह प्रवाह फिर सतत चलने लगता है।

गुणकर्मस्वभावेषूत्कृष्टत्वस्याभिवृद्धिका ।
परमेशस्य मुख्या साऽनुकंपा विद्यते ध्रुवम्॥ २२॥
एतदाश्रित्य व्यक्तित्वं परिष्कृतमथो भवेत्।
फलतोऽन्तः प्रखरतां बाह्ये स साधु भावनाम्॥ २३॥
वर्धमानां सदा पश्यत्यलं द्वे यस्य चागते।
विभूती वस्तुनस्तस्य नास्ति कस्यापि न्यूनता॥ २४॥

टीका—गुण, कर्म, स्वभाव में उत्कृष्टता की अभिवृद्धि निश्चित ही परमेश्वर की प्रमुख अनुकंपा है। इसी के सहारे व्यक्तित्व परिष्कृत होता है। फलतः उपलब्धकर्त्ता अंतःक्षेत्र में प्रखरता और बाह्यक्षेत्र में सद्‌भावना बढ़ती देखता है। जिन्हें ये दो विभूतियाँ मिलीं, उन्हें किसी भी वस्तु की कमी नहीं रहती॥ २२-२४॥

व्याख्या—जब भी प्रभु की कृपा बरसती है तो ये साधक के अंतरंग में सद्‌गुणवृद्धि के रूप में तथा बहिरंग में स्वभाव में सुसंस्कारिता के समावेश के रूप में। यदि इतना परिवर्तन न दिखाई पड़े तो समझना चाहिए कि साधक ने साधना नहीं मात्र समयक्षेप किया, उसकी आवाज ईश्वर तक नहीं पहुँची। साधना की सच्ची फलश्रुति है मनुष्य की अपने आंतरिक

दुर्गुणों से संघर्ष लेने योग्य प्रचंडता और अपने व्यवहार क्षेत्र में सद्भाव का विस्तार। हम पाते यह हैं कि मनुष्य अंतः के प्रति अपने दुर्गुणों स्वभाव में बैठी दुष्प्रवृत्तियों कुसंस्कारों के प्रति तो दयालु होता है परंतु बाह्यक्षेत्र में कड़ा एवं कटु। जब यह स्थिति उलटने लगे तो मानना चाहिए कि साधक की साधना सफल रही व्यक्तित्व का परिष्कार हुआ और यही प्रभु की अनुकंपा विभूति वर्षा है।

ईश्वरस्य तु सद्भक्तिः साधकं मान्य सद्गुणैः।
परिपूर्णं विनिर्माति सहैवोदारतां तथा ॥ २५ ॥
ददाति येन कार्यं स्वं पूरयन्यूनतस्तथा।
उपलब्धेर्लाभयुतं कर्तुं शक्येत भूतलम्॥ २६ ॥
एतादृशास्तु भक्ता ये भूसुरास्ते तु निश्चितम्।
अयाचितमजस्रं ते लभंते योगमैश्वरम्॥ २७॥

टीका—सच्ची ईश्वर भक्ति साधक को मानवी सद्गुणों से परिपूर्ण बनाती है। साथ ही ऐसी उदारता प्रदान करती है कि अपना काम न्यूनतम में चलाकर उपलब्धि से विश्व-वसुधा को लाभांवित किया जा सके। ऐसे भक्तजन इस धरती के देवता होते हैं। उन्हें बिना माँगे ही ईश्वर का अजस्र सहयोग मिलता है॥ २५-२७॥

व्याख्या—भक्ति का प्रमाण यह नहीं कि कौन क्या-क्या सिद्धि पा सका। अपितु ईश्वर भक्ति मनुष्य में ऐसी उदारमना वृत्ति का समावेश करती है कि व्यक्ति अपनी नहीं सारी मानवता की पीड़ा को अपनी पीड़ा समझता है। इसके लिए अपने अंतः में सद्गुणों की वृद्धि कर वह स्वयं औसत नागरिक का जीवन जीता है ताकि सृष्टि के सभी प्राणी उपलब्ध साधनों का आवश्यकतानुसार उपभोग कर सकें।

ईश्वरानुग्रहमात्मविश्वासं योऽधिगच्छति।
समर्थः स तथा मन्ये कुबेरेंद्रानुकंपितः॥ २८॥
इमान्याप्तुमेकमात्रमुपायो योग्यतोदयः।
सघनात्मीयता चास्य हेतोर्योज्येश्वरेण तु॥ २९॥
अनुशासनं प्रभोस्तस्य स्वीकर्त्तव्यं भवत्यपि।
महते समर्पितात्मानस्तद्रूपसमतां गताः॥ ३०॥

टीका—आत्मा विश्वास और ईश्वर अनुग्रह उपलब्ध कर लेने वाला व्यक्ति इतना समर्थ संपन्न होता है, मानो उसे इंद्र कुबेर का सहयोग मिल गया। इन्हें प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है अपनी प्रामाणिकता विकसित करना। इसके लिए ईश्वर के साथ सघन आत्मीयता जोड़नी होती है, उसका अनुशासन अपनाना होता है। महान के साथ समर्पण विसर्जन करने वाले तद्रूप होते देखे गए हैं॥ २८-३०॥

व्याख्या—सद्गुणों की अभिवृद्धि व्यक्ति में आत्म विश्वास बढ़ाती है। अपने पर विश्वास ही ईश्वरीय सत्ता में विश्वास है इसे ही सच्ची आस्तिकता कह सकते हैं। ऐसे व्यक्ति प्रभु की कृपा सामर्थ्य के रूप में इंद्र का सहयोग तथा संपन्नता के रूप में कुबेर का सहयोग पाते हैं, अपनी विभूतियों का सदुपयोग कर स्वयं धन्य बनते हैं, अनेकों को कृतार्थ कर जाते हैं।

साधनाऽऽराधनोपासनानां तु त्रिभिरीश्वरः।
उपायैर्जीवसत्तायां प्रवेशं लभते ध्रुवम्॥ ३१॥
देवोपमचरित्रं च निर्मातुं प्रेरयत्यसौ।
मनुष्यमेतदालोकानुरूपं ये चलंति ते॥ ३२॥
भक्ता असीम सामर्थ्यं प्राप्नुवंति यथा च ते।
आश्रयं कंचनान्यं तु न भजंति मुनीश्वराः॥ ३३॥
सर्वाभ्यश्च दिशाभ्यस्तु वर्षतीव तथांजसा।
सहयोगोऽनुकूलायां स्थितौ सौभाग्यसंपदा॥ ३४

टीका—उपासना, साधना, आराधना के तीन उपायों से ईश्वर, जीवसत्ता में प्रवेश करता है तथा मनुष्य को देवोपमचिंतन चरित्र विनिर्मित करने की प्रेरणा देता है। इस आलोक के अनुरूप साहसपूर्वक चलने वाले, भक्त जन इतनी असीम सामर्थ्य प्राप्त करते हैं कि हे मुनीश्वरो फिर उन्हें अन्य किसी का सहारा लेना नहीं पड़ता। उन पर हर दिशा से सहयोग अनायास ही बरसता है, जैसे अनुकूल परिस्थितियों में सौभाग्य संपत्ति आदि॥ ३१-३४॥

व्याख्या—अपने गुण, कर्म स्वभाव का परिष्कार, अंदर विद्यमान दिव्य सत्ता पर विश्वास तथा प्रामाणिकता का परिचय देकर मनुष्य इस योग्य बन जाता है कि ईश्वरीय आलोक उसके अंदर प्रवेश कर सकें। इसके लिए जो उपाय अपनाने होते हैं वे भी अपने स्थान पर अनिवार्य हैं, उपासना-साधना-आराधना के रूप में जो विविध उपक्रम अपनाते होते हैं वे इसी निमित्त होते हैं।

(१) उपासना-उपासना अर्थात् आदर्शों के समुच्चय परब्रह्म के साथ अधिकाधिक समीपता स्थापित करना। उसकी प्रेरणाएँ अधिकाधिक मात्रा में आत्मसात करना। सान्निध्य की भक्ति भावना उभारना और चंदन वृक्ष के समीप उगने वाले वृक्षों की तरह अधिकाधिक सुरभित बनते जाना। क्रमशः अग्नि और ईंधन जैसी एकात्मता स्थापित करना।

उपासना का अर्थ है समीपता। यों तो भगवान कण-कण में संव्याप्त हैं, ओत-प्रोत हैं पर यह समीपता उथली है, गहरी नहीं। अपने को ईश्वर के समकक्ष तद्रूप बनाने के लिए उसकी समीपता का उपक्रम बनाना पड़ता है। सामीप्य संगति का माहात्म्य सर्वविदित है। यदि ईश्वर के पास बैठकर भी मानव जीवन घिनौना रहा तो यह उपासना नहीं बाह्योपचार भर है। ईश्वर उत्कृष्टताओं का भंडार है। उसकी समीपता से भी वैसी ही विशेषताएँ अंदर बढ़नी चाहिए। चंदन के समीप उगे झाड़-झंखाड़ तक सुगंधित हो जाते हैं। कीट-भृंग का, टिड्डे का हरी घास में रहने से हरे होने का उदाहरण सर्वप्रसिद्ध

है। उपासना सच्ची तभी है जब जीवन में ईश्वर घुल जाए।

(२) साधना-साधना का अर्थ है जीवन-साधना। आत्मनिरीक्षण, आत्मशोधन, आत्मनिर्माण एवं आत्मविकास की अंत:चेतना उत्पन्न करने के लिए स्वाध्याय, सत्संग, चिंतन, मनन का नियमित प्रबंध करना। इस माध्यम से अंत:जगत का पर्यवेक्षण कर अभ्युदय का पथ-प्रशस्त करना। अन्तरंग में सुसंस्कारिता का अभिवर्द्धन और व्यवहार में सज्जनोचित सभ्यता का अभ्यास करना। इन निर्धारणों का संकल्पपूर्वक स्वभाव अभ्यास का अविच्छिन्न अंग बनाने हेतु प्रयत्नरत रहना। संक्षेप में यही है जीवन साधना जिसमें अनगढ़ को सुदृढ़ बनाया जाता है इसी प्रयास से नर को नारायण बनने का सौभाग्य मिलता है।

वन्य पशुओं के सधने से पालतू हो जाने, किसान की साधना द्वारा ऊबड़-खाबड़ ऊसर जमीन के उर्वर हरीतिमा युक्त हो जाने के उदाहरण ऐसे हैं जो बताते हैं कि साधना के माध्यम से मानव जीवन को एक उद्यान की तरह पुष्पित-पल्लवित किया जा सकता है। साधना में अपने चिंतन को उत्कृष्ट और कर्तृत्व को आदर्श बनाने के लिए हर पल प्रयत्नशील रहने की सुनिश्चित योजना बनाकर चला जाता है। उपासना कुछ क्षणों की हो सकती है पर साधना अनवरत चलनी चाहिए।

(३) आराधना-लोकमंगल के लिए समाज को अपने उपार्जन श्रम समय संपदा का अंश अर्पित करना। सेवा धर्म द्वारा समाज ऋण से मुक्ति, ईश्वरीय अपेक्षा की पूर्ति एवं सर्वतोमुखी प्रगति के तीनों ही उद्देश्य इस उदार परमार्थ परायणता के बदले ही खरीदे जाते हैं।

तमुवाच महाप्राज्ञः श्वेतकेतो समर्चना।
प्रभुसंपर्किणी वाग्भिरुपचारोपहारकैः ॥ ३५ ॥
सदृशैः साधनैर्हीनैः संभवेत्किंतु तस्य ताम्।
लब्धुं दयामपेक्ष्योऽयमात्मोत्साही च पावनः॥ ३६ ॥

टीका—महाप्राज्ञ ने कहा हे श्वेतकेतु ईश्वर से संपर्क जोड़ने वाला, भजन पूजा तो वचन, उपचार, उपहार जैसे नगण्य साधनों से भी हो सकता है, पर उसकी अनुकंपा प्राप्त करने के लिए अपने को पवित्र-प्रखर बनाना होता है ॥ ३५-३६ ॥

व्याख्या—महाप्राज्ञ ईश्वर जीव के परस्पर सम्मिलन संयोग के दर्शन व प्रक्रिया को समझाते हुए श्वेतकेतु से कहते हैं कि जान-पहचान वाला संबंध तो स्थापित कर लेना आसान है, पर ऐसा संपर्क जिसके बदले में दैवी अनुदान बरसने लगें, ईश्वरीय कृपा अपने अंदर प्रवेश करने लगे तभी संभव है जब स्वयं को निश्छल व तेजस्वी बना लिया जाए। बाह्योपचार तथा स्तवन-भजन पूजन ईश्वर से संपर्क स्थापित कर लेने के माध्यम भर हैं। इसके साथ यदि अन्तरंग वैसा ही दीन मलीन तथा दुर्बल बना रहा तो यह संपर्क एकांगी और अधूरा ही है। हमारी आवाज पहुँचे पर उसका उत्तर न मिले तो समझना चाहिए यह प्रयास असफल है। पवित्रता अर्थात् निश्चलता एवं प्रखरता अर्थात् तेजस्विता ये दो शर्तें पूरी होने पर विद्युत घर से ऊर्जा प्रवाहित होने की तरह प्राण प्रवाह साधक के अंदर होने लगता है। सच्ची भक्ति यही है, शेष तो मात्र कलेवर है।

तथोदारमना एवं परमार्थे रतो भवेत्।
सर्वेष्वात्मानमेवं ये पश्यंत्यात्मनि तानपि॥ ३७॥
वण्टयंति सुखं दुःखं स्वयं गृह्णन्ति पूरुषाः।
वसुधैव कुटुंबं च येषामेतच्चराचरम् ॥ ३८॥
उदारचेतसस्त्वेवं मनुष्याः सत्तया प्रभोः।
घनत्वं यांति स्वीयाभिः साधनाभिस्तु कर्मणाम्॥ ३९ ॥

टीका—साथ ही उदारमना एवं परमार्थरत रहना पड़ता है। जो सबमें अपने को, अपने में सबको देखते हैं जो दुःख बँटाते और सुख बँटाते हैं, जिनके लिए समस्त संसार अपना कुटुंब है ऐसे उदारचेता मनुष्य अपनी कर्म साधना से परमात्म सत्ता के साथ घनिष्ठ होते जाते हैं॥ ३७-३९ ॥

व्याख्या—भगवान की दृष्टि में वही सच्चा भक्त है जो दूसरों के कष्ट में सहभागी बनता है व अपना सुख औरों को बाँटता है। भले ही वह पूजा अर्चा न कर पाए, अपनी इस परमार्थयुक्त कर्म साधना से ही वह ईश्वर का प्रिय पात्र बन जाता है।

सद्भावैश्च सुसंपन्नाः सत्कर्मनिरताश्च ये।
आत्मानस्तुल्यरूपास्ते ज्ञेयास्तु परमात्मनः॥ ४० ॥

टीका—सद्भाव संपन्न सत्कर्म परायण आत्माएँ, परमात्मा के ही समतुल्य होती हैं॥ ४० ॥

व्याख्या—जो कर्म सद्भाव से प्रेरित होकर किए जाते हैं, वे ही फलित होते हैं। कर्म साधनारत ऐसे ही व्यक्ति देव मानव कहलाते हैं और परमात्म सत्ता का अनुग्रह तथा जन-सम्मान पाते हैं।

आत्मशक्तेः पूरिका तु शक्तिः सा परमात्मनः।
अपेक्ष्यं बाह्यसाहाय्यं महाभाग ततः शृणु॥ ४१ ॥
एतत्साधनया सर्वं सिद्ध्यत्यात्मनि सौम्य तु।
परमात्मनि संप्रीते प्रीताः सर्वेऽलमञ्जसा॥ ४२ ॥
अयाचितं च साहाय्यं कुर्वते येन चार्जिताः।
भक्तश्रद्धा विप्रप्रज्ञा साधुनिष्ठा परार्थगा ॥ ४३ ॥
ज्ञातव्यं स्त्रोत एवैतत्सामर्थ्यस्य समागतम्।
तस्य, नास्ति किमप्यत्र दुर्लभं ज्ञायतामिदम्॥ ४४ ॥

टीका—हे महाभाग आत्मबल का पूरक परमात्मबल है। बाहरी सहायता अपेक्षित हो तो, इसी एक साधना से और

सब सध जाता है। आत्मा और परमात्मा दो को प्रसन्न कर लेने पर और सब अनायास ही प्रसन्न हो जाते हैं तथा बिना माँगे ही सहायता करते हैं। जिसने भक्त जैसी श्रद्धा, ब्राह्मण जैसी प्रज्ञा और साधु जैसी परमार्थ निष्ठा अर्जित कर ली, समझना चाहिए उसे सामर्थ्य और संपन्नता का स्रोत हस्तगत हो गया, अब उसे कुछ भी दुर्लभ नहीं ऐसा समझना चाहिए॥ ४१-४४॥

व्याख्या—मानवी बल सीमित है। अपना पुरुषार्थ तो पूरा किया जाना चाहिए पर जब इसकी साधना पूरी हो तब ही परमात्मा से अनुदान पाने की बात सोचनी चाहिए। आत्मा से वरिष्ठ केवल एक ही शक्ति है परमात्मा। और किसी से माँगना, याचना करना मनुष्य को शोभा नहीं देता। मनुष्य को अपनी पात्रता अर्जित कर परमात्म सत्ता से स्वत: ही अनुदान बरसाने की आशा करनी चाहिए।

अपेक्ष्यंते लघूनां तु साहाय्यं महतां किमु।
उपकुर्याल्लघुस्त्वात्मा महत: परमात्मन:॥ ४५॥
तेनैव घनसंबंध: कर्त्तव्यस्तोष्य एव स:।
अनुकम्पां च तस्यैव प्राप्तुं तत्क्रियतां मन:॥ ४६॥

टीका—छोटों को बड़ों की सहायता अपेक्षित होती है। छोटा बड़े की क्या सहायता करेगा। आत्मा से वरिष्ठ केवल परमात्मा है। उसी के साथ घनिष्ठता जोड़ने, संतुष्ट करने और अनुकंपा अर्जित करने की बात सोचनी चाहिए॥ ४५-४६॥

व्याख्या—जिस प्रकार पूर्व में ऋषि ने कहा आत्मबल का पूरक परमात्म बल है उसी प्रकार यहाँ भी इसी तथ्य को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि मनुष्य सहायता का पात्र है तो भी मात्र अपने से वरिष्ठ परमात्मसत्ता से। इन दोनों आत्मा-परमात्मा के बीच और कोई पद नहीं है। मनुष्य को माँगना चाहिए तो अपने से वरिष्ठ मूल उद्गम स्रोत परमात्म शक्ति से। उसी से अपना संबंध साधना, उपासना, आराधना आदि उपक्रम अपनाकर जोड़ा और सशक्त किया जाता है॥ ४५-४६॥

प्राणिनां दानसेवाभि: साधनाभिश्च श्रेष्ठताम्।
प्राप्येश्वरात्तु संप्राप्ति: प्राणिभ्यश्च विभाजनम्॥ ४७॥
सत्या संपन्नता ह्यत्र सामर्थ्यं चापि विद्यते।
जीवनस्य च सर्वस्य सार्थक्यं मन्यतामये॥ ४८॥

टीका—प्राणियों को तो देने की, सेवा-साधना करते हुए उनसे वरिष्ठ ही बनना चाहिए। ईश्वर से पाना और प्राणियों को बाँटना इसी में सच्ची संपन्नता, समर्थता एवं जीवन की सार्थकता है॥ ४७-४८॥

व्याख्या—मनुष्य को जिस प्रकार अपने वरिष्ठ परमपिता से अनुदान मिलते हैं, उसी प्रकार उसे भी मिली वैभव साधन गुणकर्म रूपी संपदा को अपने पास संचित न रख निरंतर वितरित करते रहना चाहिए। वरिष्ठ बनने की पहली शर्त यही है कि अपने को जो मिला उसे अन्यों को बाँटा, कि नहीं? जो देने की उदारता दिखाता है वह पाता भी है। बादल समुद्र से भाप बनकर उठते हैं और उस जल को वापस पृथ्वी को लौटा देते हैं। वे अपने पास संचित रखते तो सृष्टि का संतुलन ही नष्ट हो जाता।

ईश्वरे दृढविश्वासा ये ते कर्मफलस्य हि।
विधाने विश्वसंत्येवं क्रियाया या: प्रतिक्रिया:॥ ४९॥
उत्पद्यंते विलंबेन ततो विचलिता न ते।
सन्मार्गे प्रस्थितानां सध्रीचिविश्वास ईश्वरे॥ ५०॥
चिन्तयंति न तेऽनिष्टं भीता नैव विरोधिन:।
असहाया हताशा न बलिष्ठा ईश्वराश्रिता:॥ ५१॥
न याचंते न कामंते भक्तास्ते क्षुद्रतां निजाम्।
महत्तया तु युञ्जंति तत्साम्यं प्राप्नुवंति च॥ ५२॥
स्तवोपचारपणनमनंता: कामनास्तत:।
वञ्चकास्तु प्रकुर्वंति नहि भक्ता: कदाचन॥ ५३॥

टीका—ईश्वर विश्वासी उसके कर्मफल विधान पर भी विश्वास करते हैं। अस्तु वे क्रिया की प्रतिक्रिया उत्पन्न होने में देर लगने से भी विचलित नहीं होते। सन्मार्ग पर चलते हुए जिन्हें ईश्वर के साथ होने का विश्वास रहता है, वे न अनिष्ट की बात सोचते हैं, न विरोधी से भयभीत होते, न एकाकी होने की बात सोचकर हताश ही होते हैं। ईश्वर भक्त सच्चे अर्थों में बलिष्ठ होते हैं। भक्त न याचना करते हैं, न कामना वे अपनी क्षुद्रता को महानता के साथ जोड़ते और तत्सम बन जाते हैं। स्तवन उपचार के बदले असीम मनोकामनाएँ पूरी करने की बात प्रबंचक करते हैं भक्त जन नहीं॥ ४९-५३॥

व्याख्या—आस्तिकता का अर्थ है ईश्वर के नियम अनुशासन में दृढ़ विश्वास। वे जानते हैं कि कर्म का परिपाक, परितोषिक बनता है। इसमें समय अवश्य लग सकता है पर उसके लिए धैर्य खोने की आवश्यकता नहीं। वे जानते हैं कि हर क्रिया लौटकर अपने ही ऊपर प्रतिक्रिया करती है। दुष्कर्म में निरत होने वाला व्यक्ति इस तथ्य को भुलाकर तात्कालिक सुख बटोरने में जुटा रहता है, कालांतर में रोग-शोक-पतन के रूप में जब वे फलित होते हैं तो उसे प्रतिक्रिया का सिद्धांत ज्ञात होता है। सन्मार्ग पर चलने वाला मन में यह दृढ़ विश्वास रखता है कि वर्तमान में भले ही यह घाटे का सौदा प्रतीत होता है, आगे चलकर जब भी इसके परिणाम आएँगे वे सुखद ही होंगे।

श्वेतकेतो जगत्यत्र भौतिके दृश्यतामये।
शरीरस्यबलं शस्त्रबलं संघबलं तथा॥ ५४॥
बलं बुद्धेर्धनस्यापि कला कौशलजं बलम्।
आत्मिके जगति प्रोक्तमेकमात्मबलं त्वलम्॥ ५५॥

तस्योपार्जनमीशस्य भक्तिक्षेत्रे तु संभवम्।
सच्चिन्तनेन सत्कर्म-बीजस्यारोपणेन च॥ ५६॥

टीका—हे श्वेतकेतु भौतिक जगत में शरीर बल, शस्त्रबल, संगठनबल, बुद्धिबल, धनबल, कला-कौशल जैसी अनेकों सामर्थ्यें हैं, किंतु आत्मिक जगत में एक ही बल है आत्मबल। उसका उपार्जन ईश्वर भक्ति के क्षेत्र में सच्चिंतन और सत्कर्म का बीजारोपण करते हुए संभव होता है॥ ५४-५६॥

व्याख्या—थोड़ा सा धन जमा हो तो कालांतर में ब्याज के साथ बढ़ता चला जाता है। मनुष्य के पास बहिरंग जगत की संपदाओं से भी बढ़कर एक ऐसी आत्मिक संपदा है जिसे चिंतन में श्रेष्ठता तथा क्रियाकलापों में उत्कृष्टता का समावेश कर बढ़ाया जा सकता है। अंतर्जगत की यह खेती दिव्य विभूतियों की फसल के रूप में पकती व व्यक्ति को विभूतिवान बनाती है। आत्मबल एक ऐसी विशिष्ट संपदा है जो मात्र मनुष्य को ही मिली है। यह बात अलग है कि इस रत्न भंडार को बहुत कम पहचान पाते व उपयोग कर पाते हैं।

आत्मबलातिरिक्ता तु विभूतिर्नहि जीवने।
मनुष्यस्य मता श्रेष्ठा विशालात्मा तु यो नरः॥ ५७॥
सामर्थ्यवान् स एवास्ति संपत्या युक्त एव च।
उपार्जनमिदं भुक्त्वावकृत्वा सावधानतः॥ ५८॥
महत्सूद्देश्य केष्वेव योजनं महतामिदम्।
वैशिष्ट्यं वर्तते येन जगत् सन्मंगलं भवेत्॥ ५९॥

टीका—आत्मबल से बढ़कर मनुष्य जीवन में और कोई बड़ी विभूति नहीं है। जो इसका धनी है, उसे सामर्थ्यवान पाया जाता है और संपत्तिवान भी। इस उपार्जन को विलास में न खरच करके सावधानी से महान् उद्देश्यों में नियोजित करना महामानवों की विशेषता है, जिससे जगत् मंगलमय बन जाता है॥ ५७-५९॥

टीका—आत्मबल से बढ़कर मनुष्य जीवन में और कोई बड़ी विभूति नहीं है। जो इसका धनी है, उसे सामर्थ्यवान् पाया जाता है और संपत्ति

व्याख्या—भौतिक सामर्थ्य की अपनी महत्ता है, उपयोगिता है पर आत्मिक विभूति से उसकी कोई तुलना नहीं की जा सकती। जहाँ भौतिक संपत्ति को संपदा माना जाता है वहाँ आत्मिक संपत्ति को विभूति कहते हैं। एक सिद्धि है तो दूसरी ऋद्धि। इसे भगवान ने इसलिए नहीं दिया कि इसका दुरुपयोग व्यर्थ, अहं प्रदर्शन, बाजीगरी, सिद्धि, चमत्कार आदि में किया जाए। महामानव देवदूत इसीलिए इसे मंगलकारी कार्यों के लिए नियोजित रखते हैं, व्यर्थ नष्ट नहीं करते।

जीवनं देवता नूनं प्रत्यक्षं तस्य लभ्यते।
अभ्यर्थनाभिरेतत्सत्परिणामपरंपरा ॥ ६०॥
जीवनं नोपहारोऽस्ति प्रभोः प्रतिनिधिस्तु तत्।
जीवनोपासनामूला सिद्ध्यतीशस्य साधना॥ ६१॥
प्रतिफलानि तस्यास्तु सामान्यं कुर्वते जनम्।
असामान्यं ध्वनत्येतज्जीवो ब्रह्मैव नापरः॥ ६२॥

टीका—जीवन प्रत्यक्ष देवता है। उसकी अभ्यर्थना करने से हाथों-हाथ सत्परिणामों की प्राप्ति होती है। जीवन को ईश्वर का उपहार नहीं, प्रतिनिधि कहा गया है। जीवन-साधना से ही ईश्वर-साधना सधती है उसी के प्रतिफल सामान्य असामान्य बनते हैं। जीवो ब्रह्मैव नापरः कथन इसी को ध्वनित करता है॥ ६०-६२॥

व्याख्या—जीवन भगवत् सत्ता की साकार प्रतिमा है। जो भी कुछ प्राप्त किया जा सकना संभव है, इसी देवता की उपासना से अर्जित किया जा सकता है, इसी तथ्य को ऋषि ने पहले भी अध्यात्म दर्शन प्रकरण में स्पष्ट किया है। यहाँ वे और भी सशक्त स्वर में जीवन साधना को अपने-आपे को महान बनाने की तपश्चर्या पर बल देते हुए कहते हैं कि जीव-ब्रह्म का ही अंश होने से हमेशा उसे ब्रह्म जैसा ही सशक्त सामर्थ्यवान गुण संपन्न होने की बात सोचनी चाहिए। इसी साधना ने सामान्य से व्यक्तियों को असामान्य बनाया है। पर बहुसंख्य व्यक्ति इस देवता को चेतना की प्रतीक सत्ता को जान नहीं पाते और हेय सा जीवन बिताते रहते हैं।

श्वेतकेतो मानवोऽयं महान् पूर्णाद्यतोध्रुवम्।
उत्पन्नस्तथ्यतस्तेन सोऽपिपूर्णोऽस्ति मन्यताम्॥ ६३॥
कषायमल्मषावृत्तो दरिद्रो दीन एव च।
शिथिलीकरोति यावच्च मालिन्यभवबंधनम्। ६४॥
सामीप्यं सरलं तस्य तावदीशस्य संभवेत्।
ईश्वरस्य समीपे यः सामर्थ्यमधितिष्ठति॥ ६५॥

टीका—हे श्वेतकेतु मनुष्य निश्चय ही महान है। वह ईश्वर से उत्पन्न होने के कारण तथ्यतः पूर्ण ही है, कषाय-कल्मषों से आवृत्त होकर ही वह दीन-दरिद्र बनता है। मलीनता के भव-बंधनों को जो जितना शिथिल करता है उसके लिए ईश्वर की समीपता उतनी ही सरल बनती जाती है। जो ईश्वर के निकट है, उसे सामर्थ्य का अधिष्ठाता माना जाता है॥ ६३-६५॥

व्याख्या—मनुष्य महान है, अपने में समग्र है। यह मात्र इस कारण कि वह ब्राह्मी सत्ता का ही एक अंश है। जिस प्रकार बुझती आग को प्रदीप्त करने के लिए राखरूपी मलीन आवरण हटाना पड़ता है उसी प्रकार मनुष्य पर भी दैनंदिन जीवन में छाये कषाय-कल्मष को मिटाने की आवश्यकता पड़ती है। ये आवरण अमरबेल की तरह होते हैं जो वृक्ष से पोषण लेती है और उसके ऊपर छाकर उसे शुष्क कर डालती है। यदि जीवनसत्ता को परमपिता के सामीप्य का

लाभ पाना हो तो उसे इन बंधन की जंजीरों को तोड़ना ही होगा। मनुष्य दीन-हीन बनता है अपने ही कारण ईश्वर के समकक्ष बनने का श्रेय पाता है तो वह भी मात्र अपने ही बलबूते।

अरण्यसाधनायां हे ब्रह्मविद्याभिसाधनाः।
ब्रह्मवेत्तार आत्मीयं सामर्थ्यं ज्ञायतां भृशम्॥ ६६॥
विश्वासस्तत्र कर्तव्यं तच्च वर्धयतानिशम्।
बलिष्ठतायै साहाय्यं यद्यपेक्षेत भिक्ष तत्॥ ६७॥
सहैवात्र च विज्ञेयस्त्वैश्वरोऽनुग्रहः सदा।
अनुरूपः पात्रताया लभ्यते नात्र संशयः॥ ६८॥

टीका—हे आरण्यक साधना में, ब्रह्मविद्या की साधना में निरत ब्रह्मवेत्ताओ आत्मा की सामर्थ्य को समझो उस पर विश्वास करो और बढ़ाओ। बलिष्ठता के लिए यदि सहायता की आवश्यकता पड़े तो ईश्वर से माँगो साथ ही ध्यान रखो पात्रता के अनुरूप ही दैवी अनुग्रह उपलब्ध होता है, इसमें संदेह नहीं॥ ६६-६८॥

व्याख्या—ऋषि यहाँ पूर्व कथन की समीक्षा करते हुए कहते हैं कि अध्यात्म पथ पर चलने वाले हर जिज्ञासु को एक ही तथ्य याद रखना चाहिए अपनी सामर्थ्य पर दृढ़ विश्वास रखो, वह मूल बीज है जो वृक्षरूप में फलित होकर कृतकृत्य करता है पर उसे भुलाकर प्रभु से याचना मत करो। अपनी सामर्थ्य जब चुक जाए तब प्रभु से माँगो। आत्मविश्वास को याद कर कभी गर्व भी मत करो। यदि तुम सुयोग्य न हुए, उसकी कृपा के पात्र सिद्ध न हो सके तो उसकी कृपा कभी नहीं मिलेगी।

विडंबनाऽथ दारिद्र्यं वैपन्यं च विभीषिकाः।
दृश्यंते संकटादीनि संसारे यानि तानि तु॥ ६९॥
निकृष्टतोदितानीह चिंतनस्याथ मन्यताम्।
दुश्चारित्र्योदितान्येव भ्रष्टतामूलकानि च॥ ७०॥

टीका—संसार में दरिद्रता, विपन्नता, विडंबना, विभीषिका के जो अनेकानेक संकट दृष्टिगोचर होते हैं, वे मात्र चिंतन में निकृष्टता और चरित्र में भ्रष्टता बढ़ जाने के कारण ही हैं॥ ६९-७०॥

व्याख्या—पूर्व में पूछे गए जिज्ञासु श्वेतकेतु के प्रश्न का समाधान करते हुए व्यावहारिक पक्ष पर आते हुए ऋषि पिप्पलाद कहते हैं कि सूक्ष्म जगत का विक्षोभ मानव जन्य ही है जो दरिद्रता एवं दैवी प्रकोपों के रूप में दृष्टिगोचर होता है। चिंतन में जब तक परिवर्तन न होगा, व्यवहार जब तक नहीं सुधरेगा, संव्याप्त परिस्थितियाँ और भी विषम होती चली जाएँगी। इसी धरती पर स्वर्ग और नरक देखना हो तो चिंतन चरित्र की इन प्रतिक्रियाओं के रूप में देखा जा सकता है।

यद्यात्मशोधनेनाथ चात्मनिर्माणकेन च।
व्यक्तित्वं विकसेत्तर्हि पलायंत इमान्यपि॥ ७१॥
यथा सूर्योदये जाते न ज्ञायंते निशाचराः।
कथं ब्रह्मोदये जाते भ्रष्टा माया विमोहयेत्॥ ७२॥

टीका—यदि आत्मशोधन और आत्मनिर्माण द्वारा व्यक्तित्व को विकसित किया जा सके, तो फिर समस्त संकट उसी प्रकार पलायन कर जाते हैं जैसे सूर्य उदय होने पर निशाचरों का कहीं अता-पता नहीं लगता। भला ब्रह्मज्ञान हो जाने पर भ्रष्टाचार की माया कैसे टिकेगी॥ ७१-७२॥

व्याख्या—अपना व्यक्तित्व ऊँचा उठाने के लिए पुरुषार्थ करना होता है। यह पुरुषार्थ किसी भी सांसारिक पराक्रम से बढ़कर है। अपने चिंतन की निकृष्टता का निवारण और सद्विचारों की स्थापना उसी प्रकार है जैसे प्रातःकाल होते ही अंधतमिस्त्रा का मिट जाना। भगवान प्रकाश का पुंज है। उसके और जीवात्मा के बीच जो अँधेरा है, गहरी खाई है उसे मिटाना व पाटना यह पराक्रम पुरुषार्थ संपादित किए बिना उसकी एक किरण पाने की आशा करना भी व्यर्थ है।

ऋषिभिर्मानवानां तु दुःखदारिद्र्य कारणम्।
पतनस्य पराभूतेर्भिन्नत्वं लोकितं द्वयोः॥ ७३॥
न्यूनतां तामपाकर्तुं स्वस्मादन्येभ्य एव च।
व्यचारयन् विभिन्नाँस्तानुपायान् विश्वमंगलान्॥ ७४॥

टीका—मनुष्यों के दुःख दारिद्र्य का पतन-पराभव का कारण आत्मा और परमात्मा की विलगता को ऋषियों ने जाना और वे उस कमी को अपने में से तथा दूसरों में से हटाने के लिए कल्याणकारी विभिन्न उपाय सोचने लगे॥ ७३-७४॥

व्याख्या—महर्षि पिप्पलाद की ब्राह्मी चेतना, आत्मतत्व एवं दैवी अनुदान संबंधी व्याख्या से सभी जिज्ञासुओं को स्पष्ट भान हो गया कि मानवी पतन के लिए परिस्थितियाँ नहीं, आत्मतत्व पर छाए कषाय-कल्मष ही उत्तरदायी हैं। ऋषियों ने समझ लिया कि विपन्नताओं का मूल स्तोत्र हमारा अपना आपा ही है। यदि अंतःक्षेत्र की कालिमा को धोया जा सके तो परमात्मा का प्रकाश अंदर पहुँचा सकना हर किसी के लिए सहज संभव है। हम अपनी कमियों को पहचानें और इन्हें हटाने और उनके स्थान पर सत्प्रवृत्तियाँ स्थापित करने का उपाय सोचें, इसी में अपना व मानव मात्र का कल्याण है।

दूरीभूतस्तु संदेहोऽयं समेषां विपत्तयः।
अन्योत्पादिताः संति यतः पातोत्थिती तथा॥ ७५॥
मनुष्यभूमिकाजन्ये तन्मनुष्यस्य स्वां दिशम्।
शोधयित्वानुकूल्ये च प्रातिकूल्यं विवर्तितुम्॥ ७६॥
कठिनं नेति तथ्यं स पिप्पलादो महामतिः।
सगांभीर्यं यथाऽवोचत्ततस्तेषां स्वमान्यता॥ ७७॥

पुष्टा सात्मनि संयुक्ते परमात्मनि निश्चितः।
संकटानां समाधाने विश्वासः सर्वथा ततः॥ ७८॥
द्वितीयाह्निकचर्चायां सर्वे जिज्ञासवश्च ते।
यथार्थतायुतं पूर्णं समाधानं च लेभिरे॥ ७९॥
तृप्ता तथापि जिज्ञासा तेषां नैव तथा च ते।
संदर्भेऽस्मिन्ननेकाश्च पिपृच्छाहृदिबिभ्रतः॥ ८०॥
साधकाः सत्रपूर्तौ ते नित्यनैमित्तिकां ततः।
साधनां कर्तुकामास्ते गताः संनति पूर्वकम्॥ ८१॥

टीका—सभी का यह संदेह दूर हो गया कि विपत्तियाँ दूसरों द्वारा थोपी जाती हैं। जब उत्थान-पतन के लिए स्वयं ही भूमिका बनाता है, तो उसे अपनी दिशाधारा सुधार कर प्रतिकूलता को अनुकूलता में बदलना तनिक भी कठिन नहीं होना चाहिए। यह तथ्य महाप्राज्ञ पिप्पलाद ने जिस गंभीरता के साथ समझाया उससे उनकी पूर्व मान्यताओं को और भी अधिक बल मिला और आत्मा को परमात्मा से मिला देने पर उनका सुनिश्चित विश्वास हो गया। दूसरे दिन भी इस चर्चा से सभी जिज्ञासुओं को यथार्थता से भरा पूरा समाधान मिला। इतने पर भी उनको सर्वथा तृप्ति न मिली। इस संदर्भ की कई और भी बातें कल पूछने की इच्छा मन में रखते हुए साधकगण सत्र अवसान होने पर नित्य नैमित्तिक साधना के लिए अभिवादन पूर्वक विसर्जित हो गए॥ ७५-८१॥

व्याख्या—मनुष्य का यह भ्रम कि हमारी प्रतिकूलताओं का कारण बहिरंग जगत है इस तथ्य से मिट जाता है कि जैसी मन:स्थिति एवं आचरण वह बनाता है वैसा ही उसका संसार होता है। जब भौतिक जगत में बड़ी-बड़ी नदियों की धारा को बदलकर इनकी दिशा बदली जा सकती है तो अंतर्जगत के इस भागीरथी पराक्रम द्वारा जीव को ब्रह्म से मिलाना, स्वयं को उत्कृष्टता से जोड़ सकना पूरी तरह संभव है। दो तार मिलते ही दोनों दिशाओं में प्रवाह आरंभ हो जाता है। एक बार संपर्क जुड़ते ही दैवी अनुदान अजस्र मात्रा में बरसने लगता है। फिर मनुष्य देवात्मा-देवदूत-ऋषि स्तर का हो जाता है। यह किस विधा द्वारा किया जाए, इसकी जानकारी महर्षि पिप्पलाद ने दी और सबकी इस संबंध में बनाई मान्यताओं को और दृढ़ बनाया।

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः श्री पिप्पलाद-श्वेतकेतु ऋषि-संवादे ब्रह्मक्षेत्रादजस्रमनुदानोपलब्धि इतिप्रकरणो नाम तृतीयोऽध्यायः॥

॥ अर्थ चतुर्थोऽध्यायः ॥

संयमशीलता-कर्त्तव्यपरायणता प्रकरण

तृतीये दिवसे सत्र आरण्यक ऋषिः स तु।
श्रृंगी पूर्व प्रसंगं तं स्मारयन्नाह्निकं ततः॥ १॥

श्रृंगी उवाच

प्रास्तौषीत्स्वां नवीनां तां जिज्ञासा नतिपूर्वकम्।
का सा देवता यस्या नरस्तूपासनेन हि ॥ २॥
प्रत्यक्षं फलमाप्नोति सुखी भवति सोन्नतः ।
महाप्राज्ञो पिप्पलादो जगाद मानवस्य हि॥ ३॥

टीका—तीसरे दिन आरण्यक सत्र में श्रृंगी ऋषि ने पिछले दिन के प्रसंग का स्मरण दिलाते हुए अपनी नई जिज्ञासा नम्रतापूर्वक प्रस्तुत की। श्रृंगी ने पूछा, वह कौन सा देवता है जिसकी उपासना से मनुष्य प्रत्यक्ष फल पाता और सुखी समुन्नत बनता है। महाप्राज्ञ पिप्पलाद ने कहा॥ १-३॥

व्याख्या—प्रज्ञासत्र के पहले दो दिनों में जो चर्चा हुई वह जीव को अपने आप में पूर्णता व ईश्वर जीव संबंधों के गूढ़ विवेचन से संबंधित थी। इस तत्वदर्शन का व्यावहारिक स्वरूप जानने की जिज्ञासा श्रृंगी ऋषि यहाँ प्रकट करते हैं।

पिप्पलाद उवाच

जीवनं देवता नूनं प्रत्यक्षमन्यदेवताः।
परलोके कृपां कुर्वन्त्यात्मनो जीवनं परम्॥ ४॥
सुसंस्कृतं च सज्जं च कर्त्तुं चेत्क्रियते भृशम्।
उपासना ततस्तस्या लाभास्त्वस्मिन् हि जीवने॥ ५॥
प्राप्यंते परलोकेऽपि संदेहो नाणुरप्यहो।
अत आवश्यकं यत्तजीवनं संस्कृतं भवेत्॥ ६॥

टीका—मनुष्य का जीवन स्वयं ही प्रत्यक्ष देवता है। अन्य देवताओं की कृपा तो परलोक में मिलती है पर अपने जीवन को सुघड़, सुसंस्कृत बनाने की उपासना के लाभ तो इस जीवन में भी मिलते हैं, परलोक में भी। इसमें रत्ती भर संदेह नहीं। अत: जीवन को सुसंस्कृत बनाना आवश्यक है॥ ४-६॥

व्याख्या—महाप्राज्ञ पिप्पलाद कहते हैं कि यह स्वाभाविक

है कि मनुष्य अध्यात्म विद्या की समुचित जानकारी होते हुए भी वह प्रतिफल न पा सके तो सहज ही अन्य मनुष्य व्यावहारिक ज्ञान के नाते पा लेते हैं। ईश्वर तो निराकार है। वे प्रेरणा भर देते हैं। उनकी उपासना-उनके समीप बैठने से क्या आशय है, इस असमंजस को खोलते हुए वे कहते हैं कि बिना शरीर धारण किए प्रत्यक्षत: कुछ देना संभव है भी नहीं, इसीलिए परमात्मसत्ता स्वयं जीवन देवता के रूप में विराजती है और साधना किए जाने पर समुचित परिणाम भी देती है। अन्य देवी-देवताओं की पूजा-उपासना के शस्त्रोक्त माहात्म्य तो परलोक में पुण्य प्राप्ति इत्यादि से संबंधित हैं पर जीवन में सुसंस्कारिता का समावेश मनुष्य को इसी जीवन में समृद्धि और सामर्थ्य के अनुदान देकर उसे धन्य बनाता है। मनुष्य अपने ही चर्म चक्षुओं से इन सत्परिणामों को जीवन में सार्थक होते देखता है। दर्शन में इसी देवता की अयमात्मा ब्रह्म कहकर उपासना की जाती है। ऐसे जीव ब्रह्म की साधना प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही रूपों में फलित होती है।

शृंगी उवाच

सोत्सुकं ज्ञातुमैच्छत्स ऋषिः शृंगी कथं च सः।
देवो जीवनरूपी तु पूज्योऽभ्योऽर्त्यो विबोधय॥ ७॥
उपचारः कोऽत्र ग्राह्यो यद् वरदानं ददातु सः।
प्रसन्नः कानि चैवायं वरदानानि यच्छति॥ ८॥
उपेक्षया च रुष्टश्चेत्ततो हानिश्च कीदृशी।
आपतत्यपि, चेत्क्रुद्धो दुराचारफलेन सः॥ ९॥
कस्याशंका ह्यनिष्टस्य महाभाग विबोधय।
मर्मप्रसङ्गमेतं तु विस्तरादृषिपुंगव ॥ १०॥
विधेस्तस्य नहि ज्ञानं सर्वसाधारणस्य तु।
मर्मस्पर्शिनाऽनेन प्रश्नेन स ऋषीश्वरः॥ ११॥
महाप्राज्ञः पिप्पलादः सगांभीर्यं जगाद च।

टीका—शृंगी ऋषि ने उत्सुकतापूर्वक जानना चाहा जीवन देवता की पूजी अभ्यर्थना कैसे की जाए? उसे वरदान देने के लिए प्रसन्न करने के निमित्त क्या उपचार अपनाया जाए? जीवन देवता प्रसन्न होने पर क्या वरदान देते हैं। उपेक्षा करने पर यदि वे रुष्ट होते हैं तो क्या हानि उठानी पड़ती है। यदि वे दुर्व्यवहार के फलस्वरूप क्रुद्ध हो उठें तो किस अनिष्ट की आशंका रहती है। हे महाभाग ऋषीश्वर इस मर्म प्रसंग को हमें विस्तारपूर्वक समझाएँ। उसके विधि-विधान की सर्व-साधारण को जानकारी है भी नहीं। मर्मस्पर्शी इस प्रश्न से वह ऋषिश्रेष्ठ महाप्राज्ञ पिप्पलाद गंभीर होकर बोले॥ ७-११॥

व्याख्या—जिज्ञासु ऋषि जीवन देवता की उपासना की महत्ता महाप्राज्ञ के श्रीमुख से सुनकर अपनी उत्सुकता और भी गहन करते हैं। बिना नियम विधि और क्रम विधान जाने कैसे अनायास ही इस साधना को आरंभ कर दिया जाए? जन साधारण को तो यह भी ज्ञात नहीं है कि ये देवता रुष्ट भी होते हैं व प्रसन्न भी। ऐसे में चूक कहाँ व किस प्रकार होती है, उससे कैसे बचा जाए, इसका समाधान लोकहित को दृष्टिगत रख पूछा जाना उचित ही है।

पिप्पलाद उवाच

जिज्ञासव इह शृंगियुता मान्या मनीषिणः॥ १२॥
ध्यानेन श्रूयतां देवः जीवनं फलदायकः।
प्रत्यक्षं तेन सार्धं च व्यवहारो यथा-यथा॥ १३॥
हस्तामलकवत्स स्वं प्रभावं परिचाययेत्।
प्रभावं तस्य माहात्म्यं द्रष्टुं सर्वत्र संभवेत्॥ १४॥
जीवनं भरितं नूनमनुदानैरजस्रगैः।
येषां सदुपयोगेन परिणामाः समुत्सहाः॥ १५॥

टीका—पिप्पलाद बोले जिज्ञासु शृंगी ऋषि समेत सभी उपस्थित मनीषिगण ध्यानपूर्वक सुनो, जीवन देवता प्रत्यक्ष फलदायक है। उसके साथ किया गया व्यवहार हस्तामलकवत् अपने प्रभाव का तत्काल परिचय देता है। उनका प्रभाव माहात्म्य हर कहीं दृष्टि पसार कर तत्काल देखा जा सकता है। जीवन अजस्र अनुदानों से लदा है। उनका सदुपयोग करने भर से उत्साहवर्द्धक परिणाम प्राप्त होते हैं॥ १२-१५॥

व्याख्या—किसी भी बहुमूल्य वस्तु को श्रृंगारदान में सजाकर सुरक्षित रख दिया जाए तो उसकी उपयोगिता कहाँ रही? यदि इसके बदले में इससे प्राप्त धन को कहीं परमार्थ कार्य हेतु खरच किया जाए तो पुण्य और यदि मूलधन के रूप में जमा कर दें तो ब्याज के रूप में राशि मिलने लगती है। जीवन देवता हर मनुष्य के भीतर बैठे हैं पर उनका प्रभाव व परिणाम तभी देखा जा सकता है जब अपनी दृष्टि चौड़ी की जाए। जीवात्मा की दूरदर्शिता एवं प्रामाणिकता इसी आधार पर परखी जाती है कि वह इस अनुदान को कितनी जिम्मेदारी व ईमानदारी के साथ प्रयुक्त करता है। जो परीक्षा में उत्तीर्ण होता है उसी को पदोन्नति होती है। जीवन संपदा के सदुपयोग की कसौटी पर खरे उतरने वाले ही भौतिक आत्मिक जगत में श्रेय के भागी बनते हैं।

भ्रांतेर्वशानुगास्तस्य महत्त्वं नैव मानवाः।
जानंति याः समाश्रित्योपलब्धीर्दैवजीवनम्॥ १६॥
जीव्यतेऽत्रामृतं यच्च प्रापयंत्यस्ततां तु तत्।
असंयमस्य छिद्रेभ्यश्च्यावयंतस्तु हंत ते ॥ १७॥
निम्बुकं च्युतनीरं तेऽनुगच्छंतस्तथैव च।
कंकालशेषकामास्ते दारिद्र्यं दूषयंति तु॥ १८॥

टीका—भ्रांतिवश लोग उसका महत्त्व नहीं समझते और जिन उपलब्धियों के सहारे देव जीवन जिया जा सकता था, कितने दु:ख की बात है उस अमृत को ऐसे ही असंयम के छिद्रों द्वारा बहाकर अस्त-व्यस्त करते रहते हैं। निचोड़े हुए

नीबू की तरह वे छूँछ बनकर रह जाते हैं और दरिद्रता का रोना रोते हैं॥ १६-१८॥

व्याख्या—यह एक विडंबना ही है कि जिस अमृत को अपने अंदर मनुष्य धारण किए है उसे सतत गँवाता है और फिर अपने इस अभाव दुर्भाग्य पर पछताता रोता भी है। भगवानने तो इसे यह संपदा इसलिए दी थी कि संयम द्वारा इसे संचित कर उसका सदुपयोग सुनियोजन कर वह अपना जीवन धन्य बनाता पर उस अज्ञान भ्रांति को क्या कहें जो मनुष्य को पशुओं जैसा शिश्नोदर परायण जीवन जीने को विवश कर देती है।

जीवनं कामधेनुर्गौः पातुं दुग्धं तदीयकम्।
कठिनं नो सरंध्रेषु पात्रेषु यदि दुह्यते ॥१९॥
तर्हि सौभाग्यलाभस्तु कथं तस्याप्तुमिष्यते।
असंयमस्य छिद्राणि रोद्धुं शक्यानि चेत्तदा॥ २०॥
हानिः सा न भवेद्यस्याः कारणादीश्वरेण ना।
निर्मितः सर्वसंपन्नो दरिद्रातीह दीनवत् ॥२१॥
संघर्षस्थेयशक्तिः सा क्षीयते तु यतस्ततः।
मानवः सहते कष्टान्यनेकानि च सर्वतः ॥२२॥

टीका—जीवन कामधेनु गौ है। उसका दूध पाने में कोई कठिनाई नहीं है, किंतु यदि छेदों वाले पात्र में दुहा जाएगा तो उस सौभाग्य का लाभ किस प्रकार मिल सकेगा। असंयम रूपी छिद्रों को बंदकर देने से उस हानि से बचा जा सकता है, जिसके कारण ईश्वर द्वारा सर्व संपन्न बनाया हुआ मनुष्य दीन-दरिद्र बनकर रहता है और संघर्ष में खड़ा रहने की स्थिति समाप्त हो जाने के कारण अनेकानेक कष्ट सहता है॥ १९-२२॥

व्याख्या—मनुष्य को विधाता ने प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थितियों में भी जी सकने योग्य बनाया है। यह सामर्थ्य जीवट कहलाती है और इसका संचय कर सकना हर किसी के लिए संभव है। जीवन एक युद्धस्थली है जिसमें मनुष्य को सतत कामुक-प्रतिकूल विचारों से लेकर चिरसंचित प्रवृत्तियों तक एवं ऋतु काल की बदलती परिस्थितियों से लेकर वातावरण में अस्वाभाविक परिवर्तन से जूझना पड़ता है। जीवनी शक्ति, जो उसे मानसिक रूप से लड़ सकने योग्य साहसी एवं उसके शरीर संस्थान को रोगी होने से बचाती है एक ही अनुदान की परिणति है संयम। जो इसे अपनाता है, वह न रोगी होता है न दुःखी, जीवन संग्राम में कभी पराजित नहीं होता तथा विच्छृखंलित अस्तव्यस्त विचार उसे प्रभावित नहीं कर पाते।

संयम एवं संघर्ष एक दूसरे के पर्यायवाची हैं तथा असंयम की परिणति ही दीन-दरिद्रता, रोग-शोकों के रूप में होती है। जीवन देवता की उपासना तब ही भली प्रकार संभव है जब अपना जीवन रसों को व्यर्थ बहाना छोड़कर मनुष्य उन्हें सृजनात्मक चिंतन व कर्तृत्व में नियोजित करे।

शृंगी उवाच

ऋषिः शृंङ्गी पप्रच्छातः परं कतिविधानि तु।
असंयमस्य छिद्राणि भगवन्नभिमतानि ते॥ २३॥
कथं तेभ्यो जीवनस्य रसश्च्योतति मानवाः।
गृह्णन्त्यसंयमं किं ते परिणामान् विदंति नो॥ २४॥
विबोधय रहस्यं मे भूतलं स्वर्गतां व्रजेत्।
समाप्तिं दुःखदारिद्र्यं येन गच्छेच्च सर्वथा॥ २५॥

टीका—शृंगी ऋषि ने फिर पूछा भगवन् वे असंयम रूपी छिद्र कितने प्रकार के हैं और उनमें होकर किस प्रकार जीवन रस निचुड़ जाता है। इस असंयम को लोग किस निमित्त अपनाते हैं और उसके दुष्परिणामों को क्यों नहीं समझ पाते? इस रहस्य को समझाएँ ताकि यह भूतल स्वर्ग हो जाए तथा दुःख दारिद्रय सर्वथा समाप्त हो जाए॥ २३-२५॥

व्याख्या—ऋषि की आतुरता मानव मात्र को सुखी तथा धरती को स्वर्गोपम परिस्थितियों से परिपूर्ण दीखने की है। इसी जिज्ञासावश वे पूछते हैं कि मनुष्य क्यों और किस प्रयोजन से इस गर्त में जा गिरता है। बुद्धिबल शरीर बल से संपन्न होते हुए भी वह असंयमजन्य हानियों को क्यों नहीं समझता?

ऐसी ही जिज्ञासा असुरों द्वारा बारंबार पराजित होने पर देवगणों ने प्रजापति से की थी।

पिप्पलादः प्रशमयन्नौत्सुक्यं सारगर्भितम्।
उत्तरं प्राददात्तत्र वाचा संयतया ततः॥ २६॥

पिप्पलाद उवाच

प्रसन्नमुद्रयोवाच संपदो जीवनस्य तु।
क्षेत्राणि संति चत्वारि श्रूयतां तन्मुनीश्वराः॥ २७॥
शक्तिरिन्द्रियसंबद्धा शक्तिः समयसंयुता।
विचारशक्तिस्तुर्या च शक्तिः साधनरूपिणी॥ २८॥
आद्यास्तिस्रः प्रदत्तास्ता ईश्वरेण प्रयत्नतः।
तिसृणां भौतिके क्षेत्रेतुर्याऽर्ज्या पौरुषाश्रया॥ २९॥

टीका—पिप्पलाद ने उत्सुकता को समाधान करने वाला सारगर्भित उत्तर सुसंयत वाणी में दिया। महाप्राज्ञ पिप्पलाद प्रसन्नमुद्रा में बोले जीवन संपदा के चार क्षेत्र हैं, उन्हें सुनिए (१) इंद्रिय शक्ति (२) समय शक्ति (३) विचार शक्ति और (४) साधन शक्ति। प्रथम तीन ईश्वर प्रदत्त हैं, चौथी को इन तीनों के संयुक्त प्रयत्न से भौतिक क्षेत्र में पुरुषार्थ द्वारा अर्जित किया जाता है॥ २६-२९॥

व्याख्या—जीवन संपदा के दो मूल विभाजन महाप्राज्ञ बताते हैं कि इंद्रिय समय, विचार शक्ति के रूप में जीवन देवता के माध्यम से मनुष्य को दैवी विभूतियाँ मिली हैं। जो

भी इन्हें दैवी संपदा मानता है वह उतने महत्त्व भी देता है, कभी अपव्यय नहीं करता। साधना शक्ति न भी हो तो वह इन तीन के माध्यम से अर्जित की जा सकती है। शारीरिक सामर्थ्य वाणी का सही उपयोग समय संपदा का सुनियोजन तथा विचारों के बिखराव को रोककर एक ही उद्देश्य पर केंद्रित करने पर अभावों से भरे संसार में रहते हुए भी व्यक्ति साधन एकत्र कर लेता है। साधन शक्ति इसी कारण भौतिक लौकिक सामर्थ्य मानी गई है तथा शेष तीन मनुष्य की अपनी विशिष्ट विरासत हैं जो भगवान ने उसे बड़ा सोच समझकर सदुपयोग करने के लिए ही प्रदान की हैं।

इंद्रियेषु दशस्वेव प्रधाने द्वे तथेन्द्रिये।
जिह्वोपस्थेति संज्ञेचाहारंजिह्वाविवेकतः ॥ ३० ॥
गलाधश्चारयत्येषा शब्दानुच्चारयत्यपि।
रतिकर्मास्त्युपस्थस्य संततेः कारणात्तथा॥ ३१ ॥
स्त्रावत्यागः संयमस्तु जिह्वायास्तनुस्वास्थ्यदः।
मनोबलं तथाऽक्षुण्णं जननेन्द्रियसंयमात् ॥ ३२ ॥
जिह्वाऽसंयमोऽजीर्णो दौर्बल्यं वर्धते यतः।
रतिकर्मणि तथाऽऽतुर्यमयोग्यां संततिं तथा॥ ३३ ॥
यौनरोगाँश्चिन्तनं च विकृतं वर्धयत्यलम्।
उभयासंयमे स्वास्थ्यं शारीरं मानसं पतेत्॥ ३४॥

टीका—दस इंद्रियों में दो प्रधान हैं एक जिह्वा दूसरी जननेंद्रिय। जिह्वा आहार को जाँच परखकर गले के नीचे उतारने और वार्त्तालाप के लिए शब्दोच्चारण के काम आती है। जननेंद्रिय का कार्य संतानोत्पादन के लिए रतिकर्म तथा स्त्रावों का परित्याग है। जिह्वा संयम शारीरिक स्वास्थ्य के लिए उत्तरदायी है और जननेंद्रिय संयम से मनोबल अक्षुण्ण रहता है। जिह्वा के असंयमी होने से अपच होता है और दुर्बलता व रुग्णता बढ़ती है। रतिकर्म में आतुरता होने से अनुपयुक्त संतान, यौन रोग एवं विकृत चिंतन का दौर बढ़ता है। दोनों का असंयम रहे तो शारीरिक मानसिक स्वास्थ्य नष्ट होकर रहता है॥ ३०-३४॥

व्याख्या—जिह्वा से हम स्वाद को दृष्टि में रख भोजन ग्रहण करते हैं तथा बोलते समय क्या सही, क्या गलत इसका ध्यान नहीं रखते तो यह रसना का असंयम एवं वाणी का असंयम कहलाता है। जिह्वा का शरीरगत स्वास्थ्य से सीधा संबंध है। जिह्वा स्वाद की प्रधानता देकर ऐसे पदार्थ खाती रहती है जो अनावश्यक ही नहीं, हानिकारक भी हैं। स्वाद में मात्रा बढ़ती है फलतः पेट खराब होता है व असंख्यों रोग खड़े होते हैं।

संयमे समयस्यापि शैथिल्ये मानवस्ततः।
अलसश्च प्रमादी च भवत्येतदवेहि तु॥ ३५॥
क्रियतेऽनियमितं यत्तदपूर्णं शिष्यते ध्रुवम्।
समयस्योपयोगस्तु योजितेन श्रमेण हि॥ ३६॥
अलसो व्यस्त व्यक्तित्वो दीर्घजीवी भवन्नपि।
आत्मजीविसमा नैव भवन्त्यस्योपलब्धयः ॥ ३७॥

टीका—समय संयम में शिथिलता रहने से मनुष्य आलसी प्रमादी बनता है ऐसा समझो। आलसी अस्त-व्यस्त बहुत दिन जीने पर भी आत्मजीवियों जितनी उपलब्धियाँ अर्जित नहीं कर पाता है। नियमितता न रहने से जो किया जाता है वह आधा-अधूरा रहता है। समय का सदुपयोग सुनियोजित श्रम से ही किया जा सकता है॥ ३५-३७॥

व्याख्या—आलस्य का अर्थ है शारीरिक श्रम से बचना तथा प्रमाद मानसिक जड़ता का नाम है। शरीरबल होते हुए भी व्यक्ति श्रम से जी चुराए तो उसे प्रमादी कहेंगे। हमारे सबसे समीपवर्ती शत्रु यही हैं, जो काल देवता की अवहेलना स्वरूप जन्म लेते हैं और जीवन संपदा का क्षय करते रहते हैं। समय का असंयम ही दोनों का मूल कारण है।

योजनाबद्धरूपेण कार्यनिर्धारणं यदि।
तत्कालेन च निर्वाहाद् विज्ञाः साफल्यमाययुः॥ ३८॥
समयाऽसंयमा ये तु ते भवन्त्यल्पजीविनः।
वरमायुः किमप्यास्तां तेषां नृणां विचार्यताम्॥ ३९॥
ईश्वरेणप्रदत्तेयं समयस्य तु संपदा।
योजयेत्तां श्रमेणाथ मनोयोगेन भूयसा॥ ४०॥
विभिन्नाः संपदाश्चापि विभूतीरर्जितुं क्षमाः।
समयो जीवनं तच्च नाशयन्नश्यति स्वयम्॥ ४१॥

टीका—योजनाबद्ध कार्य निर्धारण करने और उसका तत्परतापूर्वक निर्वाह करने से ही विज्ञजन अनेकानेक सफलताएँ अर्जित करते हैं। समझ लो कि समय के असंयमी ही अल्पजीवी कहलाते हैं, भले ही उनकी आयु कुछ भी हो। समय ईश्वर प्रदत्त संपदा है। उसे श्रम मनोयोगपूर्वक नियोजित करके विभिन्न प्रकार की संपदाएँ, विभूतियाँ अर्जित की जाती हैं। जो समय गँवाता है उसे जीवन गँवाने वाला कहा जाता है॥ ३८-४१॥

सूक्ष्मस्तरस्य कर्मास्ति विचारः कार्यरूपकः।
युज्यात्सत्सु विचाराणां प्रवाहं समयं यथा॥ ४२॥
उपयोगिनां विचाराणामुत्कृष्टानां च सीम्नि चेत्।
चिंतनं सीमितं याति ह्युद्देश्ये सृजनात्मके॥ ४३॥
महत्त्वपूर्णान्येतानि भूयः प्रतिफलानि च।
उत्पादयंति गृह्णन्ति दिशां यां जितमानसाः ॥ ४४॥
सफलास्तत्र जायंते विचाराणाममूलता।
अस्तव्यस्तता चापि विक्षिप्तत्वं हि मन्यताम्॥ ४५॥

टीका—विचार सूक्ष्म स्तर का कर्म है। कार्य का मूल रूप विचार है। समय की तरह विचार प्रवाह को भी सत्प्रयोजनों में निरत रखा जाए उपयोगी उत्कृष्ट विचारों की मर्यादा में

चिंतन को सीमाबद्ध रखने से वे सृजनात्मक प्रयोजनों में लगते हैं और महत्त्वपूर्ण प्रतिफल उत्पन्न करते हैं। मनोनिग्रह के अभ्यासी जिस भी दिशा को अपनाते हैं, उसी में सफल होकर रहते हैं। विचारों की अनगढ़, अस्त व्यस्तता एक प्रकार की विक्षिप्तता है॥ ४२-४५॥

व्याख्या—जिस प्रकार समय को योजनाबद्ध कर सफलता पाई जाती है उसी प्रकार विचार प्रवाह को भी सुनियोजित कर लक्ष्य विशेष से जोड़कर लौकिक व आत्मिक जगत में लाभांवित हुआ जा सकता है। मनुष्य के जो भी बहिरंग में कर्म दिखाई देते हैं वे विचारों की ही परिणति है। जो जैसा सोचता है और करता है, वह वैसा ही बन जाता है। इस उक्ति को सदैव स्मरण रखना चाहिए।

क्षीवानिव शुनो नैव विचारान्मनुजः क्वचित्।
अचिंत्यचिंतने व्यर्थं दिशाहीनान्नियोजयेत्॥ ४६॥
तान् सदैवोपयोगिन्या दिशया धारयाऽपि च।
नियोजयेद् विचारैश्चामूलैर्योऽद्धुमनैतिकैः ॥ ४७॥
सद्विचारचमूः काचिद् भवेद् याऽचिंत्यचिंतनैः।
विचारैर्युद्ध्यमानेव ताँस्तु विद्रावयेद्द्रुतम्॥ ४८॥

टीका—विचारों को आवारा कुत्तों की तरह अचिंत्य-चिंतन में भटकने न दिया जाए। उन्हें हर समय उपयोगी दिशा धारा के साथ नियोजित करके रखा जाए। अनगढ़ अनैतिक विचारों से जूझने के लिए सद्विचारों की एक सेना बनाकर रखी जाए, जो अचिंत्य-चिंतन उठते ही जूझ पड़ें और उन्हें निरस्त करके भगा दें॥ ४६-४८॥

व्याख्या—विचार संयम का सबसे अच्छा तरीका है, उन्हें बिखराव से रोककर उत्कृष्ट उद्देश्य के साथ जोड़ दिया जाए। इसके लिए अपने अंदर भी एक विरोधी विचारों की सेना उसी प्रकार खड़ी करनी होगी जैसा कि विजातीय द्रव्यों के शरीर में प्रविष्ट होने पर रक्त के कण खड़ी कर देते हैं। निकृष्ट विचारों व उत्कृष्ट चिंतन की परस्पर लड़ाई ही अंतर्जगत का देवासुर संग्राम है। विचारों की विचारों से काट कर बहुत बड़ा पुरुषार्थ है। इसलिए अनिवार्य है कि कुविचारों को सद्विचारों से काटने का महाभारत अहर्निश जारी रखा जाए। विचारों के लिए उपयोगी मर्यादा एवं दिशाधारा निर्धारित की जाए जिनमें अभीष्ट प्रयोजन अथवा मनोरंजन के लिए परिभ्रमण करते रहने की छूट रहे। चिड़ियाघरों में जानवरों के लिए बाड़ा होता है उन्हें घूमने-फिरने के लिए छूट तो रहती है, पर उस बाड़े से बाहर नहीं जाने दिया जाता। ठीक यही नीति विचार वैभव के बारे में भी बरती जाए। उसे जहाँ-तहाँ बिखरने न दिया जाए।

परिश्रममनोयोग स्यास्ति वित्तं फलं ध्रुवम्।
प्रत्यक्षं, नीतियुक्तं तु वित्तमेतदुपार्जयेत्॥ ४९॥
देशवासिजनानां च स्तरं हि प्रति पूरुषम्।
गृह्णन् स्वकीयनिर्वाहः स्वीकर्त्तव्यः सदैव च॥ ५०॥
मितव्ययित्वमागृह्णन् योग्यतामत्र वर्धयन्।
सदाशयत्वमार्गेण भरितव्यास्तु दुर्बलाः॥ ५१॥

टीका—परिश्रम एवं मनोयोग का प्रत्यक्ष फल धन है। नीतिपूर्वक कमाया और औसत देशवासी के स्तर का निर्वाह अपनाते हुए बचत की योग्यता को बढ़ाने, सदाशयता को अपनाने एवं असमर्थों की सहायता करने में लगाना चाहिए॥ ४९-५१॥

व्याख्या—भौतिक हो या आत्मिक प्रगति दोनों ही क्षेत्र के पथिक को अपव्यय की तनिक भी छूट नहीं है। प्रश्न यह नहीं कि पैसा अपना है या पराया, मेहनत से कमाया या मुफ्त में मिला है, उसे हर हालत में जीवनोपयोगी, समाजोपयोगी सामर्थ्य मानना चाहिए और एक-एक पाई का उपयोग मात्र सत्प्रयोजनों हेतु ही होना चाहिए।

श्रम, समय एवं मनोयोग से तीन सूक्ष्म संपदाएँ भगवत् प्रदत्त हैं इन्हीं का प्रत्यक्ष स्थूल फल धन है। तथ्यतः धन को काल देवता एवं श्रम देवता के सम्मिलित अनुदान मानना चाहिए। जैसी दूरदर्शिता समय के अपव्यय के लिए बरतने को कहा जाता है वैसी ही धन की बरबादी पर भी लागू हो। बचाया धन सदैव परमार्थ में लगे।

अपव्ययेन चैवाथानावश्यकसुसंग्रहैः।
नैकधोत्पद्यते भूयो दुष्प्रवृत्तिस्ततः क्रमात्॥ ५२॥
अपव्ययेन मन्येते दुष्प्रवृत्तीरनेकधा।
क्रीणंति चात्मनोऽन्येषामहितं कुर्वते भृशम्॥ ५३॥

टीका—बुद्धिमानी की सही परख यही है कि जो भी कमाया जाए, उसका अनावश्यक संचय अथवा अपव्यय न हो। जो उपार्जन को सदाशयता में नहीं नियोजित करता वह घर में दुष्प्रवृत्तियाँ आमंत्रित करता है। लक्ष्मी उसी घर में बसती हैं, फलती हैं जहाँ उसका सदुपयोग हो। आडंबरयुक्त प्रदर्शन, फैशनपरस्ती, विवाहों में अनावश्यक खरच, जुआ जैसे दुर्व्यसन ऐसे ही घरों में पनपते हैं, जहाँ उपार्जन के उपयोग पर तो ध्यान नहीं दिया जाता, उपभोग पर नियंत्रण नहीं होता। भगवान की लानत किसी को बदले में लेनी हो तो धन को स्वयं अपने ऊपर अनाप-शनाप खरच कर अथवा दूसरों पर अनावश्यक रूप से लुटाकर सहज ही आमंत्रित कर सकता है।

ऐसे उदाहरण आज के भौतिकता प्रधान समाज में चारों ओर देखने को मिलते हैं। परिवारों में कलह तथा सामाजिक अपराधों की वृद्धि का एक प्रमुख कारण अपव्यय की प्रवृत्ति भी है।

समुद्र संचय नहीं करता, मेघ बनकर बरस जाता है तो

बदले में नदियाँ दूना जल लेकर लौटती हैं। यदि वह भी कृपण हो संचय करने लगता तो नदियाँ सूख जातीं अकाल छा जाता और यदि अत्यधिक उदार हो घरघोर बरसने लगता तो अतिवृष्टि की विभीषिका आ जाती। अतः समन्वित नीति ही ठीक है।

धनार्जने यथा बुद्धेरपेक्षा व्ययकर्मणि।
ततोऽधिकैवसापेक्ष्या तत्रौचित्यस्य निश्चये॥ ५४॥

टीका—धन कमाने में जितनी बुद्धिमत्ता की आवश्यकता पड़ती है, उससे अनेक गुनी व्यय के औचित्य का निर्धारण करते समय लगनी चाहिए॥ ५४॥

व्याख्या—सही तरीके से कमाना व सही कामों में औचित्य-अनौचित्य का ध्यान रखकर खरच करना ही लक्ष्मी का सम्मान है। इसीलिए अर्थ संतुलन के मितव्ययिता पक्ष को प्रधानता दी जाती है। ध्यान यही रखा जाए कि जो भी बचाया जाए उसको उचित प्रयोजनों में नियोजित कर दें।

उपेक्षानार्जनेकार्या न चानीतिर्व्यये तथा।
समान्यता साधुता सत्परिणामान् विचिंतयेत्॥ ५५॥
अन्यथा घातका सिद्ध्यत्यलं संपन्नता तु सा।
दारिद्र्यापेक्षया नूनं समाजस्तेन दूष्यते॥ ५६॥

टीका—कमाने में न उपेक्षा की जाए, न अनीति बरती जाए। खरच करने में सादगी, सज्जनता एवं सत्परिणामों की जाँच पड़ताल रखी जाए। अन्यथा संपन्नता दरिद्रता से भी अधिक घातक सिद्ध होती है और इससे समाज में दूषित परंपराएँ पनपती हैं॥ ५५-५६॥

व्याख्या—यह सोचना कि हम भगवान के पुत्र हैं कहीं न कहीं से वह हमारी व्यवस्था करेगा ही, अतः कमाना जरूरी नहीं, गलत दृष्टिकोण है। इसी प्रकार अधिक के लालच में नीति-अनीति का ध्यान न रख चाहे जैसे उपार्जन कर लिया जाए यह भी गलत है। इस प्रकार अर्जित संपदा अंततः व्यक्ति के लिए हानिकारक एवं अनावश्यक उपभोग के लिए भी दुष्परिणाम उत्पन्न करने वाला होता है।

धन को लक्ष्मी भी कहते हैं, माया भी। सत्प्रवृत्ति में लगे तो ही लक्ष्मी नाम सार्थक है। अपव्यय किया जाए अनीति के कार्यों में खरच हो तो यह माया है। माया का नाश भी सदैव ऐसे ही होता है।

शृंगी उवाच

महाभाग यथाप्रोक्तं भवता तच्चतुष्टयम्।
असंयमस्य रूपं यत्तन्निवर्तेत चेत्तदा॥ ५७॥
आराधना जीवनस्य देवताया समग्रताम्।
गच्छत्यभीष्टसिद्धिः किं ततः प्राप्नोति मानवः॥ ५८॥
अतोऽतिरिक्तं वा किंचित्कर्तव्यमवशिष्यते।
तन्नः शुश्रूषमाणानां भवानर्हति शंसितुम्॥ ५९॥

टीका—शृंगी ऋषि ने फिर पूछा हे महाभाग क्यों आपके द्वारा बताए गए चार प्रकार के असंयम रुक जाने से देवता की आराधना समग्र हो जाएगी और उससे अभीष्ट फल मिलने लगेगा या इसके अतिरिक्त कुछ और भी करना होगा? यह आप हम सुनने को उत्सुक व्यक्तियों को बतावें॥ ५७-५९॥

पिप्पलाद उवाच—

अयं त्वपव्ययस्यास्ति निरोधः केवलं यतः।
उपलब्धसंपदागर्ते पतेन्नापव्ययात्मके ॥ ६०॥
विनाशकारिणो नैव परिणामान् समुत्सृजेत्।
उपयोगोऽर्जितस्यापि महत्त्वं सत्सुयोजनम्॥ ६१॥
सामर्थ्यपरिणामाँस्ताँस्ततः श्रेयोविधायकान्।
उत्पादयति चेदस्तव्यस्ततायाः सुरक्षितम्॥ ६२॥
अनुपयुक्ततायाश्च यदि तद्रक्षितं भवेत्।
प्रयोजनेषु सत्सूपयुज्येत सृजकेषु चेत्॥ ६३॥

टीका—महाप्राज्ञ पिप्पलाद ने कहा, भद्र यह तो अपव्यय की रोकथाम भर कही गई है ताकि उपलब्ध संपदा अपव्यय के गर्त में गिरकर विनाशकारी परिणाम उत्पन्न न करे। महत्वपूर्ण कार्य तो इस बचत के सदुपयोग और सुनियोजन का है। सामर्थ्य तभी श्रेयस्कर परिणाम उत्पन्न करती है, जब उसे अस्त-व्यस्तता एवं अनुपयुक्त ता से बचाकर सृजनात्मक सत्प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त किया जाए॥ ६०-६३॥

व्याख्या—संयम निषेधात्मक नहीं विधेयात्मक गुण है। इसका एक पक्ष जहाँ अनावश्यक अपव्यय को रोकना है वहाँ दूसरी ओर उसे सृजनात्मक कार्यों हेतु नियोजित करना भी है। एक पूर्वार्द्ध है, दूसरा उत्तरार्द्ध। निरोध न हो व सुनियोजन के प्रयास चलें तो व्यर्थ हैं। निरोध हो व नियोजन कहीं न हो तो वह संचय भी बेकार है।

जिज्ञासु शृंगी ऋषि का समाधान करते हुए महर्षि पिप्पलाद कहते हैं कि संयम पर टिक न पाने का कारण है, उसका स्वरूप न समझ पाना। स्वरूप न समझ पाने से वे उसी तरह फँस जाते हैं, जैसे अँधेरी रात में मार्ग में भरे पानी को सूखी जमीन समझकर व्यक्ति उसमें पैर फँसा देता है। स्वरूप समझना कठिन नहीं है, परंतु उसके लिए मनुष्य पूरा प्रयास नहीं कर पाता, क्योंकि उसका महत्त्व नहीं समझता। स्वरूप और महत्त्व समझने के लिए आवश्यक उद्योग न कर पाना भी असंयम की वृत्ति की ही प्रतिक्रिया है। अस्तु जो संयम का लाभ लेना चाहें वे उसका स्वरूप और महत्त्व समझें।

जीवनं त्वथ कार्यं च पूरकं तु परस्परम्।
दृष्ट्वा कार्यस्तरं मेयं साफल्यं जीवनस्य हि॥ ६४॥
श्रममात्रं न पर्याप्तं तं तु चौराश्चगर्दभाः।
अपि कुर्वंत्यथोच्चैस्तु सदुद्देश्यैर्हि यान्यहो॥ ६५॥
कर्तव्यानि निबद्धानि तेषामेवानुपालनम्।

कर्मयोग इति प्रोक्तो: येन विश्वंभरो भवेत्॥ ६६॥

टीका—जीवन और कार्य एक दूसरे के पूरक हैं। कार्य के स्तर को देखकर ही जीवन की सफलता आँकी जाती है। मात्र श्रम पर्याप्त नहीं, वह तो गधे और चोर भी करते हैं। उच्च उद्‍देश्यों से जुड़े हुए कर्त्तव्य पालन का दूसरा नाम कर्मयोग है, जिससे मानव विश्वंभर कहलाता है॥ ६४-६६॥

व्याख्या—किसी भी काम की सफलता का मापदंड यह नहीं कि उसकी परिणति क्या हुई, वरन् यह है कि वह किस प्रकार संपादित हुआ और उसमें मनोयोग लगा या नहीं। समुचित तत्परता और स्फूर्ति ही श्रम को सार्थक तथा हाथ में लिए कार्य को सफल बनाते हैं।

सदुद्‍देश्य-सुपूर्त्यर्थं योगसाधनवत् सदा।
कर्मकर्तव्यमत्रास्ति नहि चेत्सफलस्ततः॥ ६७॥
सदुद्‍देश्य-सुपूर्णं यत्तद्धि कर्त्तव्यपालनम्।
कुर्वन्नरः सुसन्तोषं लभते चात्मगौरवम्॥ ६८॥
प्रयोजनेषु साफल्यं दूषितेषु लभेत चेत्।
तथापि सहते लोकभर्त्सनामात्मताडनाम्॥ ६९॥

टीका—कर्म को सदुद्‍देश्यों की पूर्ति के लिए योग-साधना की तरह किया जाना चाहिए। असफल रहने पर भी सदुद्‍देश्यपूर्ण कर्त्तव्य पालन से संतोष और गौरव मिलता है, जबकि दुष्ट प्रयोजनों में सफलता मिलने पर भी आत्म प्रताड़ना और लोक भर्त्सना सहनी पड़ती है॥ ६७-६९॥

व्याख्या—कर्म तो सभी करते हैं पर जब वह सदुद्‍देश्यों से जुड़ जाता है तो योग बन जाता है। मनोयोग पूर्वक किया गया यही कर्म योग-साधना के समतुल्य है। जागरूकता, तत्परता एवं श्रेष्ठता को लक्ष्य रूप में वरण इसी को कर्त्तव्य पालन कहते हैं, सफलता इसका मापदंड नहीं है।

तात मानव आबद्धो दायित्वैर्बहुभिर्यथा।
शारीरं स्वास्थ्यमेतत्तन्मनः सन्तुलनं तथा॥ ७०॥
परिवारसुसंस्कारित्वं समाजस्य तत्तथा।
प्रतिदानं सुरक्षा च शालीनत्वस्य संस्कृतेः॥ ७१॥
दायित्वैर्बहुभिर्बद्ध एभिर्मानव एष तु।
निर्वाह एषां कर्त्तव्यपालनं परिकीर्तितम्॥ ७२॥
पारायण्यं तु कर्तव्यस्यास्ति धार्मिकता ध्रुवम्।
एतत्तु धर्मवेतॄणां परिभाषितमुत्तमम् ॥ ७३॥

टीका—हे तात मनुष्य अनेक उत्तरदायित्वों से बँधा है। शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक संतुलन परिवार की सुसंस्कारिता, समाज का ऋण चुकाना, संस्कृति और शालीनता की सुरक्षा जैसे अनेक जिम्मेदारियों से मनुष्य बँधा है। इनके निर्वाह को कर्त्तव्य पालन कहते हैं। कर्त्तव्यपरायणता ही धार्मिकता है। यही धार्मिकता की धर्मवेत्ताओं द्वारा की गई उत्तम परिभाषा है॥ ७०-७३॥

व्याख्या—धर्म का अर्थ है अपने सांसारिक और आध्यात्मिक दायित्वों का भली भाँति निर्वाह। धर्म संप्रदाय का पर्यायवाची नहीं, जैसा कि बहुसंख्यक व्यक्तियों ने समझ रखा है। धर्म का शाब्दिक अर्थ है धारण करना। किसे? श्रेष्ठता को जीवन में, ताकि लौकिक जीवन में समृद्धि सामूहिक विकास और आत्म कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो।

कर्ममात्रं श्रमो नास्ति तेनोच्चैस्तरकस्य हि।
मनोयोगस्य भाव्यं च समावेशेन तद्वता॥ ७४॥
उत्कृष्टता तु कार्यस्य कृते तु स्वाभिमानिनः।
गर्वस्य गौरवस्यापि विषय इति बोध्यताम्॥ ७५॥
उपेक्षयोन्मनस्केन कृतं कार्यं निरर्थकम्।
भवत्येव तथा कर्तुरपकीर्तिकरं च तत् ॥ ७६॥
कर्तव्यं यदमुष्मिंश्चेत्समावेशो द्वयोरपि।
एकाग्रताभिरुच्योस्तत्कर्मेतीशार्चनास्तरम् ॥ ७७॥

टीका—कर्ममात्र श्रम नहीं, उसके साथ उच्चस्तरीय मनोयोग का तन्मय समावेश होना चाहिए। कार्य की उत्कृष्टता हर स्वाभिमानी के लिए गर्व गौरव का विषय है यह समझ लो। उपेक्षापूर्वक अन्यमनस्क होकर किया गया काम निरर्थक ही नहीं जाता, कर्ता को बदनाम भी करता है। जो भी किया जाए उसमें पूरी अभिरुचि और एकाग्रता का समावेश हो तभी वह उस स्तर का कार्य कहा जा सकेगा, जिसे ईश्वर पूजा के समतुल्य माना जाता है॥ ७४॥ ७७॥

व्याख्या—कर्म कौशल हर स्वाभिमानी के लिए गौरव का विषय होता है। हर अच्छे काम ऐसे ही व्यक्ति यों द्वारा संपन्न हुए हैं। जिन्होंने अपनी क्रिया-कुशलता को उत्कृष्टता की सीमा तक पहुँचाकर श्रम किया है।

संत रैदास की चमड़ा भिगोने की कठौती में गंगा प्रकट हुई थी, उसका कारण यही था कि वे अपने कार्य में ईश्वर आराधना जितनी ही तन्मयता और सरसता अनुभव करते थे। कबीर कपड़ा बुनते हुए यही अनुभव करते थे कि आयु की हर साँस और समय का हर क्षण मिलाकर जीवन की चादर बुननी है। उनकी यह तन्मयता कार्य को भी उपासना बना देती थी। गाँधी जी चाहे प्रार्थना सभा में हों, या चाहे शौचालय साफ करें दोनों में पूरी तरह तन्मय हो जाते थे इसीलिए निर्मल जीवन के अधिकारी बने।

ध्वंस:सरल एनं च लघुरग्निकणोऽपि सः।
गलपितं कीलकं चापि कर्तुं तत्प्रभवेदलम्॥ ७८॥
सृजनात्मककार्येषु गौरवं परिकीर्तितम्।
चिन्तनं मानवस्याथ प्रयासः सृजकेषु हि॥ ७९॥
प्रयोजनेषुनिरतः सदा स्याज्जीवनस्य तु।
गरिम्णोऽनुमितिस्तत्र निकषोपमिते भवेत्॥ ८०॥
किं स्तरं कियदेतच्च कार्यं तु सृजनात्मकम्।

सम्पन्नं प्रतिभा या तु क्रियाकौशलजा तथा॥ ८१॥
प्रखरता द्वयोरत्र प्रशंसाऽस्मिंस्तु वर्तते।
सत्प्रवृत्ति विवृद्धो तु ताभ्यामुपकृतं न वा॥ ८२॥

टीका—ध्वंस सरल है। उसे छोटी चिंगारी एवं सड़ी कील भी कर सकती है। गौरव सृजनात्मक कार्यों में है। मनुष्य का चिंतन और प्रयास सृजनात्मक प्रयोजनों में ही निरत रहना चाहिए। जीवन की गरिमा इस कसौटी पर आँकी जाती है कि उसमें किस स्तर का कितना सृजनात्मक कार्य सफल हुआ। क्रिया-कौशल की जो भी प्रतिभा प्रखरता है, उसकी प्रशंसा इस बात में है कि उसके द्वारा सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन में सहायता मिली या नहीं॥ ७८-८२॥

व्याख्या—मनुष्य अपनी सृजनात्मक शक्ति के कारण ही वह पद गौरव पा सका है जो सृष्टि के अन्यान्य जीवधारियों को अप्राप्य है। कार्य का स्तर व क्रिया कौशल जब उत्कृष्ट सृजनशीलता से जुड़ जाते हैं तो करने वाले की गरिमा को और बढ़ा देते हैं। मनुष्य इस धरती को सुव्यवस्थित सुंदर बनाने आया है, बिगाड़ने, मिटाने नहीं, इस मूल प्रतिज्ञा से हटना मानवी गरिमा को गिराना है।

प्रतिभा या रताध्वंसे तस्यास्तु तुलना विधौ।
प्रशस्ता कथिताविज्ञैर्मूर्खता मंदबुद्धिजा॥ ८३॥
यतोऽनया न कस्यापकार आचरितः क्वचित्।
सृजितं किंचिदेवाथ संशोधितमुतापि च॥ ८४॥
पुरातन कुसंस्कराभ्यासान्निरसितुं नवैः।
उत्साहैः साहसैश्चापि युतं साधुप्रयोजनम्॥ ८५॥
क्रियाकलापकेष्वेव दैनिकेषु सुमीलयेत्।
भूयो भूयोऽभिवर्द्धंतीः प्रवृत्तीः पशुजास्तथा॥ ८६॥
निरसितुं श्रमस्तूग्रः स्वीकर्तव्यो भवेत्तु ताः।
आत्मनाऽऽत्मनि संघर्ष अयमित्यभिमन्यताम्॥ ८७॥
सर्वैरेवार्जुनस्येयं ग्राह्या सद्भूमिका सदा।
महाभारतसंग्रामे कर्मक्षेत्रेऽत्र मानवैः॥ ८८॥

टीका—ध्वंसरत प्रतिभा की तुलना में विज्ञजनों के मतानुसार मंदबुद्धि मूर्खता अच्छी, जिसने किसी का बिगाड़ा नहीं, कुछ न कुछ बनाया-सुधारा ही। पुराने कुसंस्कारी अभ्यासों को निरस्त करने के लिए नए उत्साह, नए साहस पूर्वक सत्प्रयोजनों को दैनिक क्रियाकलाप में सम्मिलित करना पड़ता है और बार-बार उभरने वाली पशु प्रवृत्तियों को निरस्त करने के लिए कड़ा रुख अपनाना पड़ता है। यह अपने आप से जूझना है ऐसा जान लो। अर्जुन की भूमिका इस महाभारत में हर कर्मयोगी को निभानी पड़ती है॥ ८३-८८॥

व्याख्या—जो प्रतिभाशाली हैं पर जिनकी बुद्धि कुमार्गगामी है, ध्वंस में नियोजित है, उनसे तो वह व्यक्ति श्रेष्ठ है जो कम से कम अल्पज्ञता के कारण किसी का कुछ बिगाड़ता तो नहीं। इन्हें सही दिशा देकर कम से कम उपकार की ओर तो प्रवृत्त किया जा सकता है, पर विनाश की ओर प्रेरित बुद्धि तो हर समय कुटिल चाल ही सोचती रहती है।

आरण्यकस्य सत्रस्य समाधानं तृतीयकम्।
सर्वेभ्योऽरोचतालं तद्देवं च जीवनं प्रति॥ ८९॥
श्रद्धोद्गता च सकंल्पः श्रोतृणां हृदये ततः।
समुत्पन्नः जीवनं तु परमं दैवमित्यहो॥ ९०॥
मत्वा परिष्कृतं पूर्णं प्रसन्नं कर्मशक्तितः।
प्रसंग ईदृशोऽयं तु ज्ञातुं तत्राऽधिकाधिकम्॥ ९१॥
औत्सुक्यं हि महर्षीणां तीव्रतामभजत्ततः।
श्वोऽधिकं ज्ञास्यते साशाः कालेऽयुः सौत्रिकाज्ञया॥ ९२॥

टीका—आरण्यक सत्र का तीसरा समाधान सभी को बहुत रुचा। जीवन देवता के प्रति भी श्रोताओं में श्रद्धा उमँगी और संकल्प उभरा कि जीवन को परमदेव मानकर उसे प्रसन्न परिष्कृत करने में कुछ कमी न रखी जाएगी। प्रसंग ऐसा था जिसे अधिकाधिक जानने के लिए सम्मिलित ऋषियों की उत्सुकता अधिकाधिक प्रचंड होती जा रही थी। कल और अधिक सुनने को मिलेगा इस आशा के साथ नियत समय पर सभी सूत्र-संचालक की आज्ञानुसार विसर्जित हो गए॥ ८९-९२॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः श्री पिप्पलाद-श्वेतकेतु ऋषि-संवादे संयमशीलताकर्त्तव्यपरायणता इति प्रकरणो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥

॥ पंचमोऽध्यायः ॥

उदार-भक्तिभावना प्रकरण

चतुर्थे दिवसे तत्र संङ्गता ऋषयः पुनः।
आरण्यकस्य सत्रे तु ब्रह्मविद्यात्मकेऽन्वहम्॥ १॥
ऋषयः पंक्तिबद्धास्ते पिप्पलादस्य पूर्ववत्।
तत्त्वावधाने तत्त्वस्य विवेचनमभूत्क्रमात्॥ २॥
सूक्ष्मबुद्धिबलश्चाद्य तार्किकः प्रथमासने।
उद्दालकः स्थितो यस्यौत्सुक्यमासीन्महत्तमम्॥ ३॥

टीका—चौथे दिन आरण्यक के ब्रह्म विद्या-सत्र में पहले

की तरह फिर ऋषिगण एकत्र हुए, पंक्ति बद्ध बैठे और महर्षि पिप्पलाद के तत्वावधान में तत्व-विवेचन का प्रवाहक्रम चल पड़ा। आज सूक्ष्म बुद्धि के धनी, तर्क प्रवीण उद्दालक अग्रिम पंक्ति में बैठे। उन्हें उत्सुकता अधिक थी॥ १-३॥

उद्दालक उवाच

समयोपयोगे यः प्रोक्तो महाभागाऽत्र कर्मणा।
तत्रैकोदेव संदेहः सर्वेषां समुदेति यत्॥ ४॥
समयक्षेपवल्लाभप्राप्तिस्तु तत्समन्वयात्।
किं भविष्यथैतावन्मात्रेणात्मिक प्रोन्नतेः॥ ५॥
कृते त्वावश्यकः सेत्स्यत्यात्मनो विस्तरः कथम्।
सीमाबंधनमात्रं तु नियतेः कर्म भाग्यवत्॥ ६॥

टीका—उद्दालक पूछने लगे, हे महाभाग समय का सदुपयोग कर्म के माध्यम से होने की विवेचना में एक संदेह उठता है कि उस समन्वय से मात्र समयक्षेप जितना ही लाभ मिलकर तो नहीं रह जाएगा? उतने भर से आत्मिक प्रगति के लिए आवश्यक आत्मविस्तार का प्रयोजन कैसे सधेगा? हे महाभाग कर्म तो नियति का मर्यादा बंधन मात्र है॥ ४-६॥

व्याख्या—प्रथम तीन सत्रों की विषय-विवेचना सुनकर भी सभी जिज्ञासु ऋषि मंडली का समाधान पूरी तरह हुआ नहीं। कर्मयोग और जीवन साधना, आत्म तत्व और दैवी अनुदान जैसे प्रसंगों को उन्होंने सुना, आत्मसात् किया। पर यह दुविधा उद्दालक ऋषि के मन में यथावत् बनी हुई है कि जीव की, आत्मविस्तार की चरम इच्छा का लक्ष्य इससे किस प्रकार सधेगा? कर्म तो विधि की व्यवस्थानुसार जीव करते ही रहते हैं पर इससे उस लक्ष्य की सिद्धि कहाँ हुई जिसे आत्मिक प्रगति का अनिवार्य क्रम माना जाता है। अहं का विसर्जन तथा उस महत्तत्व में उसका विलय किस प्रकार बने, यह एक ऐसी जिज्ञासा है जिसका समग्र रूप में समाधान हुए बिना चर्चा अधूरी ही रह जाती है।

शृंखलायां तु तस्यामाबद्धा हेतुना सदा।
अस्तव्यस्ततायास्तदनौचित्यं निरुध्यते॥ ७॥
क्रमप्राप्तानि दायित्वान्युचितं वोढुमेव तु।
संभवेतुस्तथा तस्यां सीमायां ये स्थिताः प्रभोः॥ ८॥
तरंगाः कथमापूर्तिस्तेषां कर्तुं तु संभवेत्।
आत्मानं भक्तिभावेन विदधात्यनुप्राणितम्॥ ९॥
तदमृतं कथं पातुं शक्येतेति सविस्तरम्।
सर्वसाधारणस्यालं कल्याणं येन संभवेत्॥ १०॥

टीका—उस शृंखला में आबद्ध रहने से अस्त-व्यस्तता का अनौचित्य रुकता है और लदे हुए उत्तरदायित्वों को ठीक प्रकार सहन कर सकना बन पड़ता है। उतनी सीमा में रहने वाले पुण्य परमार्थ की उन उमंगों की आपूर्ति कैसे कर सकेंगे, जो आत्मा को भक्ति-भावना से अनुप्राणित करती है। उस अमृत का रसास्वादन कैसे किया जाए? यह विस्तार से बतावें, जिससे सर्वसाधारण का कल्याण हो सके॥ ७-१०॥

व्याख्या—सुव्यवस्थित रीति से किए गए कर्म एवं दायित्वों का निर्वाह जीवन के व्यवहार पक्ष को तो पूरा कर देते हैं, परंतु इसके अतिरिक्त भी एक ऐसी धारा शेष रह जाती है जिसे जीवन में मिलाए बिना वह एक शुष्क स्वचालित व्यवस्था मात्र रह जाता है। वह धारा है हृदय से निस्सृत होने वाली उमंगें, उच्चस्तरीय संवेदनाएँ, लोकमंगल युक्त परमार्थपरक भावनाएँ जो आत्मा को एक शाश्वत आनंद की गंगोत्री सिद्ध करते हैं। परमात्मा का यही एक ऐसा गुण है जो आत्मा में कूट-कूटकर भरा है। पर इस अमृत को कैसे जीवन में घोला जाए, इससे स्वयं तथा औरों को कैसे लाभांवित किया जाए, यह जाने बिना अध्यात्म दर्शन की विवेचना अधूरी है, ऐसा ऋषि समझते हैं।

मनुष्य को प्रकृति से जो संपदाएँ मिली हैं उन्हें वह संयम पूर्वक सँभालें और सही ढंग से खरच करें, यह आवश्यक है। स्थूल दृष्टि वाले यहीं तक मनुष्य के विकास की कल्पना करते हैं। किंतु प्रश्नकर्त्ता उद्दालक सूक्ष्म बुद्धि के धनी हैं। इसलिए उन्होंने उससे आगे की बात उठाई। मनुष्य मात्र कुशलता और व्यवस्था में सीमित नहीं हो जाता। यदि ऐसा होता तो संवेदना, आत्मीयता जैसे भावों, तथा कला एवं संगीत जैसी विधाओं की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। देखते हैं कि माँ पुत्र के प्रेम में अपने सारे सुखों की बलि चढ़ा देती है। बेटा माँ के वक्ष से चिपटकर संसार के सारे अभाव भूल जाता है। पति पत्नी एक दूसरे के प्रेम के सहारे बड़े-बड़े खतरे हँसते-हँसते पार कर जाते हैं। इसके विपरीत संपन्न घरों के, सारी सुविधाओं से घिरे बालक स्नेह के अभाव में रूखे चिड़चिड़े देखे जाते हैं।

यह सब उसी अंत:क्षेत्र से प्रवाहित अमृत धारा की बहिरंग में अभिव्यक्ति ही तो है।

कर्मणः समयस्यापि कुर्वंतस्ते समन्वयम्।
महत्त्वाकांक्षिणो मोहग्रस्ता दृश्यंत एव हि॥ ११॥
श्रमशीला अनेके च प्रयासपरितत्पराः।
प्राप्यंते भिन्नमेतन्न संति ते कर्मयोगिनः॥ १२॥
पुरुषार्थिनस्तु प्रोच्यंते संपन्नाः सफला अपि।
प्राप्यंते कृतयोगास्ते नैवजीवनसंपदाम्॥ १३॥
मीयते समयस्याथ कर्मणस्तु समन्वयात्।
अतिरिक्तं किमप्यास्ते तथ्यं गुप्तं सदैव तु॥ १४॥
यद्येवं कृपयोद्बोधय रहस्यं नः कृपानिधे।
मूर्द्धन्यस्तत्त्ववेतृणां सत्रसूत्रस्यचालकम्॥ १५॥
ब्रह्मज्ञः पिप्पलादस्तां जिज्ञासां ध्यानपूर्वकम्।
श्रुत्वा प्रसन्नतां यातो विपुलां संजगाद च॥ १६॥

टीका—समय और कर्म का समन्वय करते तो मोहग्रस्त महत्वाकांक्षी भी देखे जाते हैं। कर्मयोगी न सही, श्रमशील और प्रयास तत्पर तो अनेकों पाए जाते हैं, उन्हें पुरुषार्थी तो कहा जाता है, किंतु वे जीवन संपदा को कृतकृत्य करने वाले कहाँ होते हैं लगता है समय और कर्म के समन्वय के अतिरिक्त भी कोई तथ्य छिपा रह गया है। यदि ऐसा हो, तो कृपया उस रहस्य का उद्घाटन कीजिए। तत्त्वेत्ताओं में मूर्द्धन्य इस सत्र के सूत्र-संचालक ब्रह्मवेत्ता पिप्पलाद ने जिज्ञासा को ध्यानपूर्वक सुना, बहुत प्रसन्न हुए और बोले॥ ११-१६॥

व्याख्या—सामान्यतया जीवन व्यापार में यंत्रवत् कर्म को सफलता का जन्मदाता माना जाता है। देखा भी जाता है कि समय का सुनियोजन और कर्म की तत्परता का समावेश कर भौतिक जगत में सामान्य जन वैभव भी पाते हैं तथा श्रेय भी। परंतु जिस कारण मनुष्य का मानव शरीर पाना सार्थक कहा जाता है उसका कहीं नाम देखने को नहीं मिलता। उमंगों वेदनाओं से रहित जीवन किस प्रकार उद्देश्य की सफलता का कारण बन सकता है, एक बहुत सूक्ष्म जिज्ञासा ऋषिवर उद्दालक के समक्ष है। श्रमशीलता, कर्त्तव्य परायणता तथा सुव्यवस्था के अतिरिक्त भी जीवन में कोई ऐसा तत्व समाविष्ट होना रह गया है, जिसके बिना जीवन साधना अधूरी है, ऐसा वे मानते हैं। इसे एक अनिवार्य आवश्यकता मानकर वे उस पक्ष को विस्तार से जानने की अपनी व सभी उपस्थित श्रोता विद्वानों की उत्कंठा को इस सारगर्भित प्रश्न से व्यक्त करते हैं।

पिप्पलाद उवाच

अहं क्रमिकचर्चायां तस्मिन्नेव प्रसंगके।
आसं चर्चितुकामस्तु साधु तत्स्मारितं त्वया॥ १७॥
अधुना तत्प्रसंगे तु वक्तुमुत्साह एष मे।
वृद्धिंगतो भवद्भिश्च श्राव्यमग्रे सचित्तकैः॥ १८॥

टीका—महाप्राज्ञ पिप्पलाद ने कहा क्रमिक चर्चा में उस प्रसंग पर चर्चा करने ही वाला था, किंतु आपने उसका स्मरण दिलाकर अच्छा ही किया। अब उस संदर्भ में कुछ अधिक कहने का मेरा उत्साह बढ़ा है। आगे की बात आप सब ध्यानपूर्वक सुनें॥ १७-१८॥

त्रिधात्मिकायां विश्वस्य व्यवस्थायामृषीश्वराः।
प्रकृतीश्वरजीवानामिव क्षेत्रे चितेरपि ॥ १९॥
तिस्रो निर्धारणाः संति प्रगतेस्तु क्रमस्य ताः।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्चानाम्नोच्यंते मनीषिभिः॥ २०॥
छात्राध्ययनसंबंधिविषयाणामिव क्रमात् ।
एकमेकं समादाय योजयेत् परिवर्धयेत्॥ २१॥

टीका—हे ऋषियो इस त्रिधा व्यवस्था में ईश्वर जीव प्रकृति की तरह चेतना क्षेत्र के भी प्रगतिक्रम की तीन निर्धारणाएँ हैं। विद्वान लोग एक को ज्ञान, दूसरे को कर्म, तीसरे को भक्ति कहते हैं। इन्हें छात्रों के अध्ययन विषयों की तरह क्रमशः एक-एक करके जोड़ना बढ़ाना पड़ता है॥ १९-२१॥

व्याख्या—दो वस्तुओं के मिलने से तीसरी बनती है। दिन और रात्रि की मिलन वेला को संध्या कहते हैं। संध्या न रात है, न दिन, पर उसमें दोनों का अस्तित्त्व है। जीव भी इस प्रकार दो सम्मिश्रणों का तीसरा रूप है। पर ब्रह्म परमात्मा और पंचभौतिक प्रकृति इन दोनों के सम्मिश्रण से, जो तीसरी सत्ता उत्पन्न होती है उसका नाम जीव है। चेतन ब्रह्म के गुण आत्मिक चेतना, अंत:करण एवं भावना के रूप में हमारे अंदर विद्यमान हैं। प्रकृति जड़ है इसलिए शरीर का सारा ढाँचा ही जड़ है। जीव की चेतना व जड़ से ही वह चलता है।

सृष्टि की ऊपर वर्णित व्यवस्थानुसार चेतना जगत में भी सत्, चित्, आनंद रूपी परब्रह्म की विशेषताएँ ज्ञान, कर्म व भक्ति की तीन धाराओं के रूप में जीव सत्ता का प्रगतिक्रम निर्धारित करती पाई जाती हैं। न्यूनाधिक मात्रा में व्यक्ति विशेष में इस क्रम में अंतर पाया जाता है। तीनों ही महत्त्वपूर्ण हैं व एक दूसरे के बिना अपूर्ण भी।

अध्यात्मनस्तु क्षेत्रस्य विकासक्रम पद्धतौ।
सर्वप्रथममध्यात्मज्ञानस्यास्ति हि भूमिका॥ २२॥
सा न चेन्मानवो जाड्यभवबंधनपाशितः।
तिरश्चामिव संबद्धः शिश्नोदरपरायणः ॥ २३॥
वासनायाश्च तृष्णाया अतिरिक्तमथापि च।
अहंताया न ज्ञातुं स प्रभवेत् स्थितिरीदृशी॥ २४॥
आत्मज्ञानमिदं येन स्वरूपं मानवः स्वकम्।
कर्त्तव्यं च भविष्यच्च द्रष्टुं पारयति ध्रुवम्॥ २५॥
आधारेण स एतेन सुषुप्तिं तां विहाय हि।
जागृतौ विशति प्रोक्तः देवजन्मात्मबोधकः॥ २६॥

टीका—अध्यात्म क्षेत्र के विकास क्रम के मार्ग में सर्वप्रथम आत्मज्ञान की भूमिका है। वह न हो तो मनुष्य जड़ता के भव-बंधनों में ही बँधा रहेगा। पाशबद्ध तिर्यक् योनियों की तरह शिश्नोदर परायण ही बना रहेगा। वासना, तृष्णा और अहंता के अतिरिक्त और कुछ सूझेगा ही नहीं तथा यही स्थिति बनी रहेगी। वह आत्मज्ञान ही है, जिसके कारण मनुष्य को अपना स्वरूप, कर्त्तव्य और भविष्य दृष्टिगोचर होता है। उसी आधार पर वह सुषुप्ति छोड़कर जागृति में प्रवेश करता है। आत्मबोध को ही देवजन्म कहा गया है॥ २२-२६॥

व्याख्या—सांसारिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में ज्ञान की भूमिका अलग है। बाह्य क्रियाकलापों, जीवन व्यवहार के विभिन्न क्षेत्रों की जानकारी से सर्वथा भिन्न अपने आपे का ज्ञान है। ज्ञान को प्रकाश दृष्टि कहा गया है। जिसे वह मिल

गई वह पशु स्तर से ऊँचा उठकर मानव जीवन का लक्ष्य अपने अवतरण का सही उद्देश्य समझ पाता है।

अन्य जीवों व मनुष्यों में अंतर तो यही है। मनुष्य के अंतः चक्षु खुलने, अंदर आलोक पहुँचने भर से वह पेट-प्रजनन वाली अपनी चिरसंचित प्रवृत्ति प्रेरित क्रियाओं को छोड़कर आत्मिक प्रगति का महत्त्व समझने और उस दिशा में अग्रसर होने का प्रयास करने लगता है। आत्मज्ञान का अभाव ही चेतन प्राणधारी मनुष्य की जड़, चलता-फिरता पौधा सिद्ध करता है। जब आत्मज्ञान रूपी प्रकाश किरणें अंदर प्रवेश करती हैं तो प्रसुप्त की स्थिति जागृति में बदल जाती है।

आत्मप्रेरणयोदेति कृपया च गुरोरयम्।
यो हि जीवन-क्षेत्रस्य प्रथमाभूतिरुच्यते॥ २७॥
इमं ये प्राप्नुवन्त्यभ्युदयद्वारमनावृतम् ।
कुर्वन्त्यग्रे सरंत्येते मुख्यलक्ष्यदिशिध्रुवम्॥ २८॥

टीका—यह आत्मप्रेरणा और आत्मबोध गुरु कृपा से होता है। इसे जीवन क्षेत्र की प्रथम विभूति कहा गया है। जो इसे पाते हैं, अभ्युदय का द्वार खोलते और परम लक्ष्य की दिशा में अग्रसर होते हैं॥ २७-२८॥

व्याख्या—अध्यात्म क्षेत्र में मार्गदर्शक की महत्ता बड़ी महत्त्वपूर्ण है। पुरुषार्थ तो स्वयं ही करना पड़ता है पर उँगली पकड़कर चौराहे के भ्रम जंजाल से मुक्ति दिलाना, लक्ष्यबोध करा देना गुरु द्वारा ही संभव है। गुरु की कृपा आत्म प्रेरणा के रूप में आती है तथा बोध कराती है कि क्या करना है, किसलिए जीवन मिला है, कैसे इसे सफल बनाना है? यह हो जाना अर्थात् आत्मिक प्रगति का द्वार खुल जाना। फिर कोई अड़चन मार्ग में नहीं आती।

आत्मप्रगतिसोपानं द्वितीयं कर्मचोच्यते।
कर्मार्थात् कर्मयोगोऽयं कर्मयोगश्च सोऽर्थतः॥ २९॥
मनुष्यतापक्षधरकर्त्तव्यानीति मन्यताम् ।
अथाप्युत्तरदायित्वपरिपालनमेव च ॥ ३०॥
कर्मनिष्ठा सञ्चितैस्तु कुसंस्कारैः समागताः।
दुष्प्रवृत्तीर्नियच्छंती सत्प्रवृत्तीः सुसंगताः॥ ३१॥
कुर्वंती प्रखरं मर्त्यं प्रामाणिकमथापि च।
पुरुषार्थं दिशाबद्धं कुर्वंतः कर्मयोगिनः॥ ३२॥
पराक्रमं समाश्रित्य तं ततस्ते यशस्विनः।
भवंति विविधास्ते सफलतां प्राप्नुवंति च॥ ३३॥

टीका—आत्मिक प्रगति का दूसरा सोपान है कर्म। कर्म अर्थात् कर्मयोग, कर्मयोग अर्थात् मानवता के पक्ष धर कर्त्तव्य, उत्तरदायित्वों का परिपालन कर्मनिष्ठा, संचित-कुसंस्कारों के कारण उत्पन्न होने वाली दुष्प्रवृत्तियों पर नियंत्रण करती और सत्प्रवृत्तियों को स्वभाव में सम्मिलित करके मनुष्य को प्रामाणिक एवं प्रखर बनाती है। कर्मयोगी अपने पुरुषार्थ को दिशाबद्ध करते हैं, उस पराक्रम के आधार पर अनेकानेक सफलताएँ पाते और यशस्वी बनते हैं॥ २९-३३॥

व्याख्या—प्रज्ञासत्र के तीसरे दिन संयमशीलता-कर्त्तव्यपरायणता प्रकरण के अंतर्गत चर्चा करते हुए महाप्राज्ञ पिप्पलाद ने कर्मयोग को संयम का पूरक बताते हुए कहा था कि उच्च उद्देश्यों से जुड़े कर्त्तव्यों का पालन करते हुए ही मनुष्य विश्वंभर कहलाता है। आज मनुष्य के चेतना क्षेत्र की तीन धाराओं के अंतर्गत चर्चा करते हुए वे आत्मज्ञान के बाद कर्मनिष्ठा की व्याख्या करते हैं। कर्म तो सभी करते हैं पर आत्मिक प्रगति के अंतर्गत जब भी कर्मयोग की व्याख्या की जाती है, उसे मनुष्यता से जुड़ा तथा दिशाबद्ध होने पर ही समग्र एवं मानवी पुरुषार्थ को सफल बनाने वाला माना जाता है। ऐसे कर्मयोगी ईश्वर द्वारा बड़े विश्वास से सौंपी गई जिम्मेदारियों का पूर्ण निर्वाह करते हुए आत्म नियंत्रण का अभ्यास कर अपनी प्रखरता सत्प्रयोजनों में नियोजित कर देते हैं।

वर्द्धते चेद्विकासस्य क्रमो ज्ञानेन कर्म च।
युज्यते प्रौढताऽऽयाति ततोभक्तिर्विजृंभते ॥ ३४॥
क्रीडंत्येवार्भकास्ते च क्रीडंत्यपि किशोरकाः।
प्रौढाः क्रीडंति कुर्वंति पौरुषोपार्जनान्यपि॥ ३५॥
ज्ञानस्य कर्मणो भक्तेस्त्रिवेणी सेदृशं मता।
गंगायमुनायोर्योगे यथा शुभ्रा सरस्वती॥ ३६॥
ज्ञानस्य कर्मणश्चापि संयुक्तोऽभ्यास एष चेत्।
दिशां शुद्धां क्रामतीत्थं तत्र भक्तेर्नवोदयः॥ ३७॥
आत्मनस्तु विकासस्य प्रौढतायां तु कर्मणा।
ज्ञानेन सह भक्तेः स उदयो नव उच्छलेत्॥ ३८॥

टीका—विकासक्रम बढ़ता है, तो ज्ञान के साथ कर्म जुड़ता है। प्रौढ़ता आती है, तो कम्र के अतिरिक्त भावना की उमंगें भी उभरती हैं। बालक मात्र खेलते हैं, किशोर खेलते और पढ़ते हैं, प्रौढ़ खेलते भी हैं, पढ़ते भी हैं और उपार्जन पुरुषार्थ भी करने लगते हैं। ज्ञान, कर्म और भक्ति की त्रिवेणी ऐसी ही है, जैसे गंगा में यमुना का मिलन और इससे कुछ ही आगे उनके साथ सरस्वती का समन्वय। ज्ञान और कर्म का संयुक्त अभ्यास यदि सही दिशा में चल रहा होगा तो उसमें भक्ति का नया उभार ही होगा। आत्मविकास की प्रौढ़ता में ज्ञान-कर्म के साथ भक्ति का नया उभार उमँगता है॥ ३४-३८॥

व्याख्या—सद्ज्ञान प्रेरित कर्मों में भावना का समावेश आंतरिक परिपक्वता का चिह्न है। यह आध्यात्मिक प्रगति की चरम सीमा है। भाव संवेदनाओं, श्रेष्ठता की उमंगों के जीवन में समावेश का अर्थ है श्रद्धा को ईश्वर विश्वास को

अपने अंत: में स्थान दे देना। ज्ञान व कर्म को जिस व्यक्ति ने अपने जीवन में सत्प्रयोजनों से जोड़ दिया हो, भक्ति की भावतरंगें स्वत: ऊपर उमड़ आती हैं। ज्ञान, कर्म भक्ति की यह त्रिवेणी व ऐसा तीर्थराज हम सबके अंदर विराजमान है जिसमें स्नान अवगाहन कर हम अपने जीवन को कृतकृत्य बना सकते हैं।

प्रेमादर्शान् प्रतीत्थं तानुन्नेतुं चाप्युन्नतान्।
वर्धमानजनाँश्चापि प्रोत्साहयितुमञ्जसा॥ ३९॥
सहजा या समुत्कंठा तत्र भक्तेर्मनोरमा।
सुषमा दृश्यते दिव्या विशाला च महामुने॥ ४०॥

टीका—आदर्शों के प्रति प्रेम। पिछड़ों को उठाने की बढ़तो को बढ़ाने की सहज उत्कंठा में भक्ति की झाँकी मिलती है, जो दिव्य व विशाल होती है॥ ३९-४०॥

व्याख्या—भक्ति का अर्थ है श्रेष्ठता से प्रगाढ़ स्नेह। भक्ति हमेशा सोद्देश्य होती है और उसमें देवत्व के अनुरूप ही आत्म विस्तार की भावना का समावेश होता है। सच्चा भक्त कभी भी अपने से छोटों पिछड़ों को उठाए बिना अपने उत्कर्ष की बात नहीं सोचता। भक्ति का अर्थ विह्वल होकर भावना का मात्र स्मरण करना नहीं अपितु अपने भीतर उमड़ने वाली श्रद्धा और करुणा से असंख्यों असमर्थों को अनुप्राणित करना है।

स्वशरीरे कुटुंबे च सीमितं प्रेम प्रोच्यते।
मोहो, व्यापकतां यातो भक्तित्वेन प्रशस्यते॥ ४१॥
उदार सेवारूपेऽथ साधनारूपकेऽपि वा।
उदारा परिणतिस्तस्या स्वत्वं सर्वेषु वर्धते॥ ४२॥
नहि तत्र परः कोऽपि दृश्यते तान् स्वकान्।
सुसंस्कृताँश्च सुखिनः कर्तुमाकुलतोचिता॥ ४३॥
भक्तेषु मनुजेष्वेवमाकुलत्वं तु दृश्यते।
ग्रहीतुं विस्मरंतस्ते दातुमेव स्मरंति हि॥ ४४॥

टीका—प्रेम जब शरीर परिवार तक सीमित रहता है, तो उसे मोह कहा जाता है, किंतु जब वह व्यापक आत्मीयता के रूप में प्रकट होता है, तो भक्ति भावना के रूप में सराहा जाता है। उसकी परिणति उदार सेवा-साधना के रूप में होती है। सभी अपने लगते हैं। कोई विराना नहीं रहता। अपनों को सुखी और सुसंस्कृत बनाने के लिए आकुलता उत्पन्न होना स्वाभाविक है। भक्त जनों में ऐसी ही पारमार्थिक आकुलता पाई जाती है। वे लेने की बात भूल जाते हैं, देना ही देना स्मरण रहता है॥ ४१-४४॥

व्याख्या—परिवार परिकर से प्रेम आरंभ होता है एवं विश्व परिवार तक पहुँचकर विस्तृत बन जाता है। जो परिवार को स्नेह-सहकार से न भर सका, वह विश्व को क्या प्यार बाँट पाएगा?

दातुं सर्वस्य मर्त्यस्य संति स समयः श्रमः।
चिन्तनं कौशलं शौर्यं परामर्शार्हताऽपि च॥ ४५॥
अतिरिक्तमतः स्वस्योपार्जनं सञ्चयस्तथा।
आंशिकस्तु भवत्येव पार्श्वे सर्वस्य निश्चितम्॥ ४६॥

टीका— देने के लिए हर मनुष्य के पास श्रम, समय, चिंतन, कौशल, प्रभाव, परामर्श जैसी ईश्वर प्रदत्त क्षमताएँ अनेकों हैं। इसके अतिरिक्त अपना उपार्जन एवं संचय भी कुछ न कुछ अवश्य हर किसी के पास होता है॥ ४५-४६॥

व्याख्या—कोई आवश्यक नहीं कि देने वाला धन की दृष्टि से समर्थ संपन्न ही हो। हर व्यक्ति ईश्वर की दी हुई ऐसी विभूतियों से लदा हुआ है कि अंत में सदाशयता हो तो वह अक्षय भंडार कभी खाली नहीं होने वाला। अपनी उपार्जित संपदा श्रम, समय, चिंतन, कौशल, प्रभाव, परामर्श रूपी छह: दिव्य विभूतियों से अलग है। परमार्थ प्रयोजन हेतु कोई श्रमदान करना चाहे तो संयुक्त शक्ति से भवन निर्माण, अस्वच्छता निवारण एवं व्यक्तिगत रूप से अशक्त असमर्थ की सहायता कर सकना संभव है। समय संपदा का उपयोग सत्प्रवृत्ति विस्तार, निरक्षरों को अक्षर ज्ञान जैसे पुण्य प्रयोजनों में हो सकता है। चिंतन के माध्यम से मनीषी साहित्य, सेवा, विचार क्रांति तथा लोगों के जीवन में विधेयात्मक मोड़ लाने का कार्य करते रहे हैं। कौशल शिल्पी के पास भी होता है व चिकित्सक के पास भी। अपना क्रिया कौशल एवं अर्जित ज्ञान ईश्वरीय उपहार मानकर उसे बाँटना आरंभ करे तो नि:स्वार्थ सेवा सुश्रूषा तथा सृजनात्मक गतिविधियों के रूप में व्यक्ति निश्चय ही परमार्थ कार्य कर सकता है।

कुछ व्यक्ति त्व संपन्न, व्यवहार कुशल होने के नाते समाज में अपना विशेष प्रभाव रखते हैं। स्वयं न दे सकने की स्थिति में होते हुए भी सत्प्रवृत्ति विस्तार हेतु वे अपना दबाव ऐसे वर्ग पर रखते हुए समाज सेवा कर सकते हैं जो स्वयं अपनी ओर से देने की पहल नहीं करता। परामर्श में विलक्षण अद्भुत सामर्थ्य है। दिग्भ्रांत व्यक्ति को अपने अनुभव जन्म परामर्श से सही दिशा में चलने हेतु प्रवाह बना देना किसी का जीवन बदलने के समान है।

संकीर्णयां तु स्वार्थस्य परतायां नियंत्रणे।
जाते न्यूनतमे तेषां निर्वाहक्रम उच्चलेत्॥ ४७॥
सुरक्षितो निधिः पार्श्वे स इयान् कर्मयोगिनः।
चरितार्थयितुं भक्तेर्भावनां पारमार्थिके॥ ४८॥
प्रयोजने ऽनुदानानि प्रस्तूयाच्छ्लाघ्यकानि हि।
कृपणेषु हि दारिद्र्यं कृत स्थानं तु दृश्यते॥ ४९॥

टीका—संकीर्ण स्वार्थपरता पर अंकुश लगाते ही न्यूनतम में उनका निर्वाह क्रम चल जाता है। कर्मयोगी के पास इतनी बचत पूँजी रहती है, कि वह भक्ति-भावना को चरितार्थ

करने के लिए परमार्थ-प्रयोजनों के लिए सराहनीय अनुदान प्रस्तुत कर सकें। दरिद्रता तो मात्र कृपणों पर छाई रहती है॥ ४७-४९॥

व्याख्या—भक्ति भावना अंदर तक ही सीमित न रहे। वह परमार्थ हेतु सत्कर्मों के रूप में अभिव्यक्त हो तो ही वह सार्थक है। वृत्ति कृपण जैसी हो तो कुबेरों का खजाना भी व्यर्थ है। उदार के लिए तो प्रतिकूल परिस्थिति में भी परमार्थ की आकुलता रहती है।

निराकारः प्रभुश्चित्ते नरस्यावतरत्ययम्।
तस्यानुभूतिरुच्चस्य स्तरस्यैव तु प्रेमके॥५०॥
भवति ज्ञायते या च भक्तिरूपेण मानवैः।
आदर्शाबद्धमात्मीयत्वं हि भक्तेस्तु भावना॥५१॥
तस्या अभ्यास एकांत ईश्वरायात्मनो मुने।
समर्पणस्य श्रद्धाया उदयाय विधीयते॥५२॥
परिपक्वामवस्थां सा श्रयते तु यथा-यथा।
उदारात्मीयतारूपे व्यापके समुदेति च॥५३॥

टीका—ईश्वर निराकार है। उसका अवतरण मनुष्य के अंत:करण में होता है। उसकी अनुभूति उस उच्चस्तरीय प्रेम में होती है जिसे भक्ति रूप में मनुष्यों द्वारा जाना जाता है। आदर्शों के साथ लिपटी हुई आत्मीयता ही भक्तिभावना है। भक्ति का एकांत अभ्यास ईश्वर को आत्म समर्पण करने की श्रद्धा उभारने के रूप में किया जाता है। जैसे-जैसे वह परिपक्व होती है, उदार-आत्मीयता के रूप में प्रकट होती और व्यापक बनती है॥ ५०-५३॥

व्याख्या—ईश्वर का सही स्वरूप है अंत: में श्रेष्ठता के प्रति अनुराग विकसित होना तथा उसका आत्मीयता के रूप में बहिरंग में व्यक्त होकर चारों ओर फैल जाना। अहं विसर्जन के इस पुरुषार्थ को श्रद्धा कहते हैं, जिसे उभारने मात्र के लिए भक्ति का एकांत अभ्यास किया जाना है यह प्राथमिक स्थिति है क्रमिक गति से विकसित होकर यह अपने तक सीमित न रहकर चारों ओर विस्तृत हो जाती है। सब अपने ही दिखाई पड़ते हैं।

प्रेमेव परमेशोऽस्ति स आनंदस्वरूपधृक्।
जडो वा चेतना वाऽपि प्रियतां याति प्रेमतः॥५४॥
ईश्वरं प्रति प्रेम्णैति श्रद्धाऽऽदर्शान् प्रति ध्रुवम्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु दृष्टिकोणो भविष्यति॥५५॥
वसुधैव कुटुंबं च भावनायाः क्रियान्वितिः।
कर्तारस्ते क्रियालापाश्चलिष्यंत्यञ्जसैव तु॥५६॥

टीका—प्रेम ही परमेश्वर है। वह आनंदस्वरूप है। जिस जड़-चेतन से प्रेम करते हैं, वही प्रिय लगने लगता है। ईश्वर के प्रति प्रेम उमड़ेगा तो आदर्शों के प्रति श्रद्धा बढ़ेगी। आत्मवत् सर्वभूतेषु का दृष्टिकोण उभरेगा और वसुधैव कुटुंबकम् की भावना को क्रियान्वित करने वाले क्रियाकलाप सहज ही चल पड़ेंगे॥ ५४-५६॥

व्याख्या—ईश्वर प्रेम का मापदंड एक ही है आदर्शों से घनिष्ठ रूप में जुड़ जाना। अपना आपा ही सर्वत्र बिखरा दिखाई दे तथा सारी धरती अपना परिवार, तो सारे क्रियाकलाप स्वत: ही परमार्थ युक्त होने लगते हैं। सघन प्रेम जिस पर आरोपित किया जाता है वही आत्मीय हो जाता है। भक्ति की यही भावना व्यक्ति को परमेश्वर की श्रेष्ठ संतान सिद्ध करती है।

बालानां भक्षणे प्रीतिस्तथाऽऽदाने परं तु ते।
प्रौढा विभज्य काले च क्षुधार्तास्ते ददत्यपि॥५७॥
एवंविधा उदारानुदानिनो ये वरं तु ते।
अभावग्रस्ता दृश्यंते रसाग्राहिविलासिनाम्॥५८॥
आत्मतोषस्य लोकस्य मानस्याऽनुग्रहस्य च।
दैवस्य त्रिविधो लाभः प्राप्यते तैस्तु यः सदा॥५९॥
स समस्तस्य विश्वस्य वैभवादतिरिच्यते।
आनंददायकत्वेनामृतं लब्धं तु तैर्नरैः॥६०॥

टीका—बालकों को खाने और पीने में रुचि होती है, किंतु प्रौढ़ परिपक्व मिल-बाँटकर ही नहीं खाते, अवसर आने पर स्वयं भूखे रहकर भी दूसरों को खिलाते हैं। ऐसे उदार अनुदानी रस लेने वाले विलासियों की तुलना में अभावग्रस्त तो दीखते हैं, पर उन्हें आत्मसंतोष, लोकसम्मान एवं दैवी अनुग्रह का जो त्रिविध लाभ सदा मिलता है, उसे संसार भर के समस्त वैभव से भी अधिक आनंददायक पाया जाता है, मानो उन्होंने अमृत पा लिया है॥ ५७-६०॥

व्याख्या—देने वाले, खिलाने वाले ही भगवान की दृष्टि में प्रौढ़ परिवक्व हैं। वे स्वयं बहिरंग में तो निर्धन अभावग्रस्त दिखाई पड़ते हैं पर उनकी अंत: की संपदा का भंडार इतना विशाल होता है कि सारा लौकिक वैभव उसके समक्ष झुकता है। ऐसा करके बदले में वे आत्मसंतोष, जनश्रद्धा तथा प्रभु की अजस्र अनुकंपा की विभूतियाँ पाते हैं जो उन्हें धन्य बनाती हैं तथा सच्ची संपदा से विभूषित करती हैं।

उदारमनसां भक्त-जनानां जीवनं मुने।
विप्राऽपरिग्रहित्वेन स्वभावेन युतं भवेत्॥६१॥
परायणं परार्थे च साधूनामिव जायते।
न भवंति धनाध्यक्षा यद्यप्येते तथापि तु॥६२॥
आत्मिकानां विभूतीनां निधींस्ते प्राप्नुवंत्यलम्।
कुबेरसंपदा येभ्यो न्यूना मन्येत निश्चितम्॥६३॥

टीका—उदारमना भक्त जनों का जीवन ब्राह्मणों जैसा अपरिग्रही और साधुओं जैसा परमार्थ परायण रहता है। अस्तु वे धनाध्यक्ष तो नहीं बनते, पर आत्मिक विभूतियों का इतना भंडार उन्हें उपलब्ध होता है जिसकी तुलना में कुबेर की

संपदा भी स्वल्प मानी जा सके॥ ६१-६३॥

व्याख्या—भक्त कभी स्वयं के लिए संपन्नता नहीं चाहता, सदैव बाँटने को आतुर रहता है। इसी को ब्राह्मण वृत्ति कहते हैं। ब्राह्मण वर्ण जाति से नहीं अपितु व्यक्ति कर्मों से होता है। ऐसा सादा जीवन जीकर वह विश्व मानव के कल्याण की परमेश्वर की इच्छा में ही अपनी इच्छा मिलाता है। ब्राह्मण को प्रलोभन कभी विचलित नहीं करते व जो भी उपलब्ध होता है उसी में संतोष कर लेते हैं।

भक्तेरुदारभावस्य जायते त्वरुणोदयः।
सहकारिप्रवृत्तौ तत्प्रयासोऽत्र विधीयताम्॥ ६४॥
वासः परस्परापेक्षी विभाजापेक्षि भोजनम्।
स्थितिः प्रमोदपूर्णा च ह्यस्या एवोपलभ्यते॥ ६५॥
सहयोगेन पंथाः स प्रशस्तः प्रगतेर्मतः।
संघबद्धत्वमेवेदं सामर्थ्यं परमं स्मृतम्॥ ६६॥

टीका—भक्ति की उदार भावना का अरुणोदय सहकारिता की प्रवृत्ति में होता है, अतः इस दिशा में प्रयास करना चाहिए। हिल-मिलकर रहने, मिल-बाँटकर खाने से ही हँसती-हँसाती परिस्थितियाँ उपलब्ध होती हैं। सहयोग से ही प्रगति का पथ-प्रशस्त होता है। संघबद्धता सबसे बड़ी सामर्थ्य है॥ ६४-६६॥

व्याख्या—दैनंदिन जीवन में भक्ति जब समाविष्ट होती है तो उसका शुभारंभ सहकारिता की भावना से होता है। परस्पर अपना उपार्जन बाँटकर खाने की सदाशयता से विकसित होती है। एकाकीपन समाप्त होता है तो अंदर की संकीर्णता का अंधकार पलायन कर जाता है व उदारता का प्रकाश व्याप्त हो जाता है।

संकीर्णस्वार्थभावं ये नरा गृह्णंति सर्वदा।
दिव्याभ्यो वञ्चिता नूनमनुभूतिभिरेव ते॥ ६७॥
भक्तिमात्राश्रयेणेमे लाभाः प्राप्यंत एकदा।
आत्मकल्याणमीशाप्तिर्विश्वकल्याणमेव च॥ ६८॥

टीका—संकीर्ण स्वार्थपरता को अपनाने वाले इस दिव्य अनुभूति से वंचित ही रह जाते हैं। भक्ति ही एकमात्र अवलंबन है, जिसके सहारे आत्मकल्याण, विश्वकल्याण और ईश्वरमिलन के त्रिविध परम लाभ एक साथ मिलते हैं॥ ६७-६८॥

व्याख्या—संकीर्ण स्वार्थपरता को ही भव-बंधन माना गया है जिसके पाश में बँधा जीव भक्ति भावना के उच्चस्तरीय आनंद को प्राप्त करने से वंचित रह जाता है।

धागे में गाँठ लगी हो तो सुई के छेद में नहीं घुस सकता और उससे सिलाई नहीं हो सकती। मन में स्वार्थ भरी संकीर्णता की गाँठ लगी हो तो वह ईश्वर में नहीं लग सकता और जीवन लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकता।

जिस प्रकार रेशम के कीड़े अपनी लार से अपना घर बनाते हैं, और उसी में जकड़कर मरते रहते हैं। पर जो चतुर कीड़े होते हैं, वे उस लार से बने घर को काटकर बाहर निकल आते हैं और उड़ जाते हैं। उसी तरह मनुष्य अपने लिए बंधन अपने आप अज्ञान से खड़े करता है, उन्हीं में जकड़ा सड़ता मरता रहता है। यदि वह चाहे तो विवेक रूपी मुख से उन्हें काट भी सकता है और रेशम के कीड़े की तरह बंधन से मुक्त भी हो सकता है।

मनुष्य को कृतकृत्य करने वाली एक दिव्य अनुभूति अनुदान ईश्वर प्रदत्त है वह है ईश्वर भक्ति। जो व्यक्ति अपने को इस लाभ से वंचित रखना चाहता है वही संकीर्ण स्वार्थी बनता है। जो भक्ति का आश्रय लेकर आत्मीयता का क्षेत्र व्यापक बनाता है, वह अपना तो हित साधता ही है, सारे विश्व का कल्याण करता है एवं प्रत्यक्ष अनुभूति उसे ईश्वर से साक्षात्कार के समान होती है। भक्ति ही अंततः मुक्ति का कारण बनती है।

आत्मीयं प्रेमयत्तस्य भावनोद्भरितं मनः।
प्रत्यक्षं स्वर्ग आनंदानुभूतिं तु रसंति ये॥ ६९॥
भवंति कृतकृत्यास्ते प्राप्तं प्राप्तव्यमेव तैः।
एकार्थसुखसौविध्यभावः संकीर्ण स्वार्थजः॥ ७०॥
स नाशयति नूनं तं भक्तिभावं तथा च ये।
अपेक्षया परेषां तु विलासविभवान्विताः॥ ७१॥
भवितुं मनुजा यांति महत्त्वाकांक्षितां हि ते।
जायंते निष्ठुरा नूनमाततायिन एव च॥ ७२॥

टीका—आत्मीयता की प्रेमभावना से लबालब भरा हुआ, अंतःकरण प्रत्यक्ष स्वर्ग है। उस आनंदभरी अनुभूति का जो रसास्वादन करते हैं, कृतकृत्य बन जाते हैं, उन्हें मानों अपना संपूर्ण प्राप्तव्य प्राप्त हो जाता है। एकाकी सुख-सुविधा की बात सोचने वाली संकीर्ण-स्वार्थपरता भक्ति-भावना को नष्ट करती है। दूसरों की तुलना में जो अधिक वैभववान विलासी बनने की महत्वाकांक्षा रखते हैं, वे मनुष्य निष्ठुर एवं आततायी ही बन सकते हैं॥ ६९-७२॥

व्याख्या—लबालब भरा प्याला छलक पड़ता है। जिस व्यक्ति के अंतःकरण में आत्मीयता रूपी रस भरा हुआ है, उससे छलकाए बाँटे बिना रहा नहीं जाता। वह मात्र एक ही चिंतन में लीन रहता है किसे दूँ, कैसे बाँटू। फूल से सुगंध छिपाए नहीं बनती। वायु को सुवासित किए बिना उसे संतोष नहीं। मधुमक्खी, भौरों को वह अपना रस पीने के लिए आमंत्रित करती है। कुछ यही स्थिति ऐसे व्यक्ति की होती है जो सदैव आनंद की अनुभूति में मग्न अपने अंदर स्वर्ग लिए उस आनंद को बाँटने में सतत तैयार रहता है। भगवान ऐसे ही व्यक्ति के अंतःकरण में प्रवेश करते हैं।

अहम्मन्यतया सार्धमुदारा भक्तिभावना।

स्थातुं नैव समर्थास्ति द्वयोरेको विशिष्यते॥ ७३ ॥
जीवनं सरलमुच्चविचारा इति भावनाम्।
भक्ता भजंति स्वल्पं च भुञ्जते भोजयंत्यलम्॥ ७४॥
याचंते स्वल्पमेवालं प्रयच्छंति च हर्षिताः।
अल्पं कामयमानास्ते दातुकामाभवंत्यलम्॥ ७५ ॥

टीका—अहम्मन्यता और उदार भक्ति भावना का एक साथ रह सकना शक्य नहीं। दोनों में से एक को प्रमुखता देनी होती है। इसलिए भक्त जन सादा जीवन उच्च विचार का सिद्धांत अपनाते हैं। खाते कम और खिलाते अधिक हैं, माँगते कम और देते अधिक हैं, चाहते कम और देने की इच्छा अधिक रखते हैं इसी में प्रसन्न रहते हैं॥ ७३-७५ ॥

व्याख्या—सादा जीवन ही संत की मुख्य विशेषता है। यदि ऐसा नहीं है तो संचय की भावना उच्च विचारों को अंदर प्रवेश नहीं करने देगी। मैं तक सीमित व्यक्ति उदार नहीं हो सकता और उदार आत्मीयता से भरा व्यक्ति अपना मै समष्टि में विलय कर देता है। मानव मात्र के प्रति कर्त्तव्य की पुकार स्वयं की महत्वाकांक्षाओं के लिए कोई स्थान नहीं छोड़ती।

भक्तिर्भावुकता नैव तत्रोच्चादर्शता मता।
सरलं ये तु जीवंति तेषामेषा तु संभवेत्॥ ७६ ॥
अन्ये तात्कालिकान् भावावेशान् भक्तिं वदंति तु।
भ्रमंति ते भ्रमावर्ते परांश्च भ्रामयंत्यपि॥ ७७॥

टीका—भक्ति, भावुकता नहीं है। उसके पीछे उच्च आदर्श जुड़े रहते हैं। सादा जीवन जीने वालों के लिए भक्ति-भावना जैसी उच्च विचारधारा अपना सकना संभव है। दूसरे लोग तो सस्ते भावावेशों को ही भक्ति कहते हैं और भ्रम में पड़े रहते हैं तथा औरों को भी भ्रमित कर देते हैं॥ ७६-७७॥

व्याख्या—भक्ति अंतः की उदारता का नाम है जो सत्कर्मों में परिणत होती है। थोड़ा-सा रोमांच, भावुकता का प्रवाह ही बहुसंख्य व्यक्तियों को भ्रम में डाल देता है। कीर्तन, स्तवन आदि की महत्ता है उसे निरुद्देश्य बनाकर मात्र आडंबर रच देने से भ्रम जंजाल और फैलता है। ऐसे व्यक्ति तो कुछ पाते नहीं, अपने साथ कई मंद बुद्धि भावुकों को भी भक्ति के आनंद से वंचित कर दिग्भ्रांत कर देते हैं। आदर्श यदि जीवन में न उतरें तो ऐसा सस्ता भावावेश किस काम का?

संकीर्णास्वार्थपरतैव विद्यते भवबंधनम्।
लोभमोहावहंकार इति तस्यास्त्रयः सुताः॥ ७८॥
इदं कुटुंबं यत्रापि वासमाधास्यति ध्रुवम्।
तत्रेर्ष्याकलहद्वेषपातदुर्व्यसनानि च ॥ ७९॥
प्रसंगात्प्रत्यहं नूनमुदेष्यंति तथेदृशाः।
आत्मप्रताडनां लोकभर्त्सनां प्राप्नुवंति च॥ ८०॥

टीका—संकीर्ण स्वार्थपरता ही भव-बंधन है। लोभ-मोह और अहंकार उसी के तीन पुत्र हैं। यह परिवार जहाँ भी बसेगा वहाँ ईर्ष्या, द्वेष, कलह, दुर्व्यसन और पतन के प्रसंग आए दिन उभरते रहेंगे। ऐसे लोग आत्म प्रताड़ना और लोक-भर्त्सना सहते रहते हैं॥ ७८-८०॥

व्याख्या—संकीर्ण स्वार्थपरता आध्यात्मिक प्रगति के मार्ग में चट्टान बनकर आ खड़ी होती है, इस प्रसंग की चर्चा महाप्राज्ञ इसी प्रकरण में पहले कर चुके हैं। भक्ति तत्व की व्याख्या करने के उपरांत वे इस अवरोध का विस्तार करते हुए बताते हैं कि उदार आत्मीयता व्यवहार में न उतरने का मूल कारण लोभ, मोह और अहंकार रूपी भव बंधन ही है। तीनों ही एक से एक बढ़कर हैं। यह तय नहीं किया जा सकता कि कौन प्रथम है, कौन द्वितीय? यह परिवार ऐसा है जिसमें रावण, अहिरावण जैसे सगे भाई प्रतीत होते हैं। तिनके जैसी हलकी कोई वस्तु पर्वत जैसी भारी बनकर आदर्शवादी कहे जाने वाले व्यक्तियों को दिग्भ्रांत कर उनके मनःक्षेत्र पर भूत-पिशाच की तरह कैसे चढ़ बैठती है और भली-चंगी परिस्थितियाँ होते हुए भी नारकीय उत्पीड़नों की तरह निरंतर संत्रस्त करती रहती है, उसका प्रत्यक्ष उदाहरण दैनंदिन जीवन के प्रसंगों में देखा जा सकता है। ऐसे व्यक्ति भीतर की लानत और बाहर का धिक्कार दोनों जीते जी सहते व नरक भोगते हैं।

पूजयाऽपि प्रसीदंति तेषु देवा न किंतु ते।
दुरात्मनां मनोभावं ज्ञात्वा क्रुध्यंति नित्यशः॥ ८१॥
सन्तापं शमयत्येनं पूर्णतो भक्तिभावना।
अतो भक्तिश्च मुक्तिश्च सघने संयुते मते॥ ८२॥
स्वार्थान्धतां नरो यावन्मात्रया यो त्यजत्यसौ।
अनुपातेन तेनैव जीवन्मुक्तो भविष्यति॥ ८३॥

टीका—पूजा करने पर भी देवता प्रसन्न नहीं होते और इन दुरात्माओं की मनःस्थिति को समझते हुए उन पर कोप ही बरसाते रहते हैं। भक्ति भावना ही इस तपन को पूर्णरूपेण बुझाती है। इसलिए भक्ति और मुक्ति को परस्पर सघन संयुक्त माना जाता है। जो जिस मात्रा में स्वार्थांधता का परित्याग करेगा, वह उसी अनुपात में जीवन्मुक्त बनता जाएगा॥ ८१-८३॥

व्याख्या—लोभ-मोह-अहंता की बेड़ियों में जकड़े व्यक्ति अपना मन समझाने को पूजा-पाठ जैसा बाह्योपचार कर भी लें तो भी दैवी कोप के भागी होते ही हैं। अपनी गरिमा को भुलाकर जो भी अमानवीय कृत्यों में उलझता है, उसकी मनःस्थिति भगवत्सत्ता के समक्ष तो नंगी ही रहती है, बहिरंग थोड़े ही प्रभावित करता है।

भगवान तो भाव के भूखे हैं। भावहीन उपचार को वे धोखा मानते हैं। जब भावनापूर्वक, अपना सब कुछ उसको समर्पित कर भक्ति की जाती है तो वह अग्नि शांत होती है जो

व्यक्ति को जीते जी नरक का त्रास भोगने को विवश कर देती है। जैसे-जैसे ये बंधन ढीले होते जाते हैं, भक्त भगवान परस्पर सघन होते चले जाते हैं तथा व्यक्ति अंधकार से प्रकाश की ओर जीवन्मुक्ति की ओर बढ़ता चला जाता है।

ईशप्राप्तेर्भक्तिरेकमवलंबनमस्ति हि ।
उदारात्मीयभावानुप्राणिताऽऽदर्शवादिनी ॥ ८४॥
सा परायणता या तु परार्था तत्र दृश्यते।
भक्तेः सा भावना सत्यायया दिव्यत्वमाप्यते॥ ८५ ॥

टीका—ईश्वर प्राप्ति का एकमात्र अवलंबन भक्ति ही है। उदार आत्मीयता से अनुप्राणित आदर्शवादी, परमार्थ परायणता में ही सच्ची भक्ति भावना के दर्शन होते हैं। जो मनुष्य को दिव्य बनाती है॥ ८४-८५ ॥

व्याख्या—भक्ति वह सूत्र है जो जीवात्मा को परमात्मा के साथ जोड़कर उसे दिव्य बना देती है। भक्ति अंत: से उफन कर आने वाली, परहित के लिए त्याग-समर्पण की भावना है। यही मानव को महामानव बना देती है। बाह्य कर्मकांड में उलझकर जो परमात्मा के इस दिव्य स्वरूप को समझता है वह कभी टपकता नहीं।

यथा वेला दिनेनयं रात्रेस्तु मिलनस्य हि।
उषः कालोबुधैः प्रोक्तः प्राणिनो यत्र जाग्रति॥ ८६ ॥
परात्मना ऽऽत्मनः संगस्यास्ति नूनं तथा त्वयम्।
भक्तिभावोदयो ह्येष प्रमाणमिह गोचरम्॥ ८७॥

टीका—जैसे रात्रि के दिन के साथ मिलने वेला को उषाकाल कहते हैं, जिसमें प्राणिमात्र जग जाते हैं, वैसे ही आत्मा और परमात्मा से मिलन का प्रत्यक्ष प्रमाण भक्ति-भावना के उदय में देखा जाता है॥ ८६-८७॥

भक्ति एक प्रकार से अंदर के अंधकार को मिटाने वाला दिव्य प्रकाश है। आत्मा-परमात्मा का मिलन जीव का परम लक्ष्य है और यह उन्हीं में संभव हो पाता है जिनमें अंत: से भक्ति तत्व का उदय होता है। भगवान से मिलने का एक ही प्रत्यक्ष प्रमाण है भक्ति का आनंद। जिसके बहिरंग में आत्मीयता विस्तार व परमार्थ साधन के रूप में जितनी मात्रा में यह परिलक्षित होने लगे, समझना चाहिए कि वह भगवान के उतना समीप पहुँच गया। यह तभी संभव है जब व्यक्ति अपना मूल असितत्त्व खो दे, अपनी सत्ता को परमात्म सत्ता में समाहित मान ले।

आदर्शान्प्रतिभक्तिः सा भवत्येनां तु व्यक्तिभिः।
देवताभिस्तु काभिश्चिद् योजकात्तु महामुने॥ ८८॥
भिन्नां मोहप्रसंगाच्च मन्यत उच्चसंश्रयाम्।
ज्ञानस्य कर्मणो भक्तेस्त्रिवेण्यां तत्र तद्दिने॥ ८९॥
स्नाता जिज्ञासवो जाताः प्रसन्नास्ते मनीषिणः।
अज्ञायि ब्रह्मविद्याया गुप्तानां रहसामलम्॥ ९०॥
लाभो ऽसाधारणस्त्वस्मिन् सत्संगे प्राप्यते तु तैः।
इत्थं सत्रं समाप्तं तच्चतुर्थं ते मनीषिणः॥ ९१॥

टीका—हे मुनीश्वर भक्ति आदर्शों के प्रति होती है। उसे किसी व्यक्ति या देवता के साथ जुड़ने वाले मोह प्रसंग से सर्वथा भिन्न एवं उच्चस्तरीय ही माना गया है। ज्ञान कर्म के साथ भक्ति की त्रिवेणी में स्नान करके उस दिन सभी जिज्ञासु मनीषी बहुत प्रसन्न हुए। ऐसा लगा मानो ब्रह्मविद्या का असाधारण लाभ इस सुयोग सत्संग में उन्हें उपलब्ध हो रहा है। इस प्रकार चौथा सत्र दिवस समाप्त हुआ॥ ८८-९१॥

व्याख्या—उदार भक्ति भावना प्रकरण का समापन करते हुए महाप्राज्ञ दुहराते हैं कि भक्ति सदैव सही अर्थों में आत्मसात् की जाए। माध्यमों को ही लक्ष्य न मानकर, साध्य मानकर आत्मज्ञान, कर्त्तव्यों का परिपूर्ण निष्ठा से पालन तथा आदर्शों से सघनता जोड़ने का अभ्यास करते हुए आत्मिक प्रगति का पथ प्रशस्त किया जाए। जब तक इस क्रम का अभ्यास न होगा, समय क्षेप तो होगा ही, भ्रम-जंजाल के भटकाव थकान और लदेंगे। मनीषियों ने ईश्वरीय सत्ता के सही स्वरूप को समझा और मनुष्य के परम कर्त्तव्य आदर्शों के परिपालन हेतु निष्ठापूर्वक जुट गए।

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्या ऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः
श्री पिप्पलाद-श्वेतकेतु ऋषि संवादे उदारभक्तिभावना - इति प्रकरणो नाम पञ्चमोऽध्यायः॥

॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

सत्साहस-संघर्ष प्रकरण

आरण्यकस्य सत्रस्य पञ्चमे दिवसे शुभे।
जिज्ञासुः स हि दुर्वासा महर्षिः प्रमुखोऽभवत्॥ १॥
स्थितः सोऽग्रिमपंक्तौ च जिज्ञासां स्वां च व्याहरन्।
ओजोगंभीरया वाचा पिप्पलादमथाब्रवीत्॥ २॥

टीका—पाँचवें दिन के आरण्यक सत्र के प्रमुख जिज्ञासु थे महर्षि दुर्वासा। वे अग्रिम पंक्ति में बैठे और अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हुए ओजपूर्ण गंभीर स्वर में पिप्पलाद से बोले॥ १-२॥

दुर्वासा उवाच—

ब्रह्मविद्या प्रवृत्तीनां संवर्धन - प्रसङ्गके।
देव यद् भवता प्रोक्तं कृतार्था वयमत्र तु॥ ३॥
तथाप्येकं तु पश्यामो ह्यसमञ्जसमत्र यत् ।
संसारे व्याप्तदुर्भावैः संघर्षः किंविधो भवेत्॥ ४॥
आसुराक्रमणैरात्मरक्षायै के ह्युपायकाः।
आश्रितव्या इदं चापि कृपयाद्य निगद्यताम्॥ ५॥
स्त्रष्टुः पवित्रसृष्टौ तु कस्माद्धेतोरवस्थितम्।
अधर्मास्तित्वमेतद् यज्जगत्सर्वं दुनोत्यलम्॥ ६॥

टीका—देव आपने ब्रह्मविद्या के सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन प्रसंग पर जो प्रकाश डाला, उससे हम सभी कृतार्थ हुए हैं, फिर भी एक असमंजस बना हुआ है कि इस संसार में सर्वत्र संव्याप्त दुष्टता से किस प्रकार निपटा जाए? आसुरी आक्रमणों से आत्मरक्षा के लिए किन उपायों का अवलंबन किया जाए? कृपया यह भी बताएँ कि स्त्रष्टा की पवित्र सृष्टि में अधर्म का अस्तित्त्व किस कारण बना हुआ है, जो सारे जगत को पीड़ित किए हुए है॥ ३-६॥

व्याख्या—महर्षि दुर्वासा कहते हैं कि पहले चार सत्र व्याख्यानों के सत्संग से आत्मकल्याण, विश्वकल्याण, ईश्वर मिलन जैसे दैवी अनुदान तो पा लिए। जो मनुष्य को पाने योग्य दिव्य विभूति सद्ज्ञान है, उसे पाकर मार्गदर्शन मिला है पर एक अड़चन फिर भी बनी है। अच्छाई के साथ बुराई भी चारों ओर व्याप्त है। हम भले बनें, वह तो ठीक है। पर सर्वत्र संव्याप्त दुष्टता तो अपनी कुटिल भूमिका निभाएगी ही। उससे कैसे मोरचा लिया जाए? दु:ख यह भी होता है कि पृथ्वी पवित्र है, जीव मात्र सबके कल्याण उत्थान हेतु ही स्त्रष्टा द्वारा भेजे गए हैं, फिर अधर्म क्यों? सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन के साथ दुष्टता प्रतिकार, दुष्प्रवृत्ति निवारण की चर्चा किए बिना अध्यात्म दर्शन की विवेचना का प्रसंग अधूरा ही रह जाता है।

दुर्वाससो महर्षेस्तां सहजां प्रकृतिं तथा।
प्रवृत्तिं पिप्पलादस्य कृतः प्रश्नोऽभ्यरोचत॥ ७॥
समयानुकूलं तं प्रश्नं श्रुत्वा च सराह्य च।
सत्रसञ्चालको ऽ वादीत्पिप्पलादो हसन्निव॥ ८॥

पिप्पलाद उवाच

रुचेर्भवत आसक्तेरपि चात्र समर्थनम्।
समाधानं च सम्मानं ब्रह्मविद्याविधौ वरम्॥ ९॥
अनीतेः प्रतिरोधोऽपि नीतिपक्षसमर्थनम्।
एकमास्ते तथाऽस्यापि महत्त्वं विद्यते ध्रुवम्॥ १०॥

टीका—महर्षि दुवासा की सहज प्रकृति और प्रवृत्ति को देखते हुए उनके द्वारा उठाया गया प्रश्न पिप्पलाद को अच्छा लगा, उस समयानुकूल प्रश्न को सुनकर और सराहना करके सत्र के सूत्र संचालक पिप्पलाद ने हँसते हुए कहा, आपकी रुचि और रुझान का भी ब्रह्मविद्या में समुचित समाधान, सम्मान और समर्थन है। अनीति का प्रतिरोध नीति समर्थन का एक पक्ष है तथा इसका भी निश्चित महत्त्व है॥ ७-१०॥

व्याख्या—ऋषिगणों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। दुर्वासा ऋषि का सहज स्वरूप एक ही रहा है अनीति के विरुद्ध कड़ा मोर्चा बनाना। तपश्चर्या भक्ति परमार्थ यह भी एक क्षेत्र है और दुष्टता से संघर्ष भी इसका दूसरा पहलू है। यहाँ वे अपनी उसी भूमिका की मर्यादा महाप्राज्ञ पिप्पलाद से जानना चाहते हैं। महाप्राज्ञ उनके इस रुझान व मन:स्थिति को जानते हुए कहते हैं कि ब्रह्मविद्या में अनीति के विरुद्ध प्रतिकार को भी समान महत्त्व दिया गया है। ब्रह्मविद्या व साधना विज्ञान के महत्त्वपूर्ण ग्रंथों गीता एवं दुर्गासप्तशती में साधना-समर, अनीति-प्रतिरोध की ही विवेचना की गई है। गीता में युद्धस्व संबोधन स्थान-स्थान पर आया है। अपने अंत: के कुसंस्कारों से, बाहर के आक्रमणों से युद्ध ही इन दोनों ग्रंथों का मूल विषय है। इस पक्ष की अवहेलना किए बिना अध्यात्म दर्शन की चर्चा अधूरी ही रह जाती है। अवांछनीयता, अनैतिकता हर युग में, हर अवतार के समय में पाई गई। इनसे संघर्ष की हर एक युगानुकूल भूमिका बनी व तदनुसार तैयारी हुई है। ध्वंस व सृजन सुधार एवं दुलार भगवत् सत्ता के ये दो पक्ष सदा-सदा से मुखरित होते आए हैं। उनकी चर्चा अध्यात्म ग्रंथों में स्थान-स्थान पर की गई है।

संसारेऽवाञ्छनीयत्वमतएव तु विद्यते।
सहानुभूतिं कुर्यात्तन्न्यायनिष्ठां प्रति सदा॥ ११॥
समर्थने च तस्या हि प्रखरं तत्पराक्रमम्।
कर्तुं च प्रेरयेद्रात्रिर्नोचेच्छ्रैष्ठ्यं दिनस्य न॥ १२॥
अनस्तित्वमनीतेश्चेन्नीतेः किं गरिमा जनैः।
ज्ञायेताऽधर्मसद्भा वे धर्मसंस्थापनोदयः ॥ १३॥
यदि रोगा न संत्वेव चिकित्सायास्ततः कथम्।
विज्ञानस्य भवेत्सा तु स्थापना प्रगतिस्तथा॥ १४॥
अज्ञानजन्य हानिभ्य आत्मानं रक्षितुं वयम्।
मनीषिणः सदा ज्ञानसाधनां कर्तुमुद्यताः॥ १५॥
एवं स्त्रष्टा हानियुक्तमनावश्यकमप्यदः।
अवाञ्छनीयताऽस्तित्वं स्थापयामास मन्यताम्॥ १६॥

टीका—संसार में अवांछनीयता भी इसलिए है कि वह न्यायनिष्ठा के प्रति सहानुभूति उभारे और उसके समर्थन में प्रखर पराक्रम करने की प्रेरणा दें। यदि रात्रि न हो तो दिन की विशिष्टता ही न रहे। अनीति का अस्तित्त्व न हो तो नीति की गरिमा लोग कैसे समझेंगे? अधर्म के रहने पर ही धर्म संस्थापना का प्रयास होता है। यदि रोग ही न हों तो चिकित्सा विज्ञान की स्थापना और प्रगति ही कैसे हो? अज्ञान की हानियों से बचने के लिए हम मनीषी लोग ज्ञान की साधना करते हैं।

इसी प्रकार सृष्टा ने अनावश्यक एवं हानिकारक लगते हुए भी संसार में अवांछनीयता का अस्तित्त्व रखा है ऐसा समझो॥ ११-१६॥

व्याख्या—भगवान अपने प्रिय राजकुमार की परीक्षा अवांछनीयता की माया रचकर ही लेते हैं। जब तक इनसे जूझने का माद्दा अंदर से उत्पन्न नहीं होता, प्रखरता उत्पन्न नहीं होती। खिलाड़ी को पैना बनाने के लिए अपने से अच्छे कुशल खिलाड़ी से ही खिलाया जाता है। कोई भी प्रशिक्षक मार्गदर्शक इसमें सहानुभूति का व्यवहार नहीं करता। भगवान भी एक परीक्षक है। वह चाहता है कि उसका बेटा समर्थ बने और वह तब तक संभव नहीं जब तक मोरचे पर उसे खुला न छोड़ दिया जाए।

महाप्राज्ञ दिन-रात्रि, अनीति-नीति, अधर्म-धर्म, रोक-चिकित्सा, अज्ञान-ज्ञान के मर्मस्पर्शी उदाहरणों द्वारा अपने मंतव्य को बड़ी कुशलतापूर्वक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि इस अनीति अनाचार को भी भगवान की एक देन मानें जो हमारी परीक्षा सतत लेती रहती है। कुरेद-कुरेद कर यह देखती है कि पराक्रम मन्यु, सत्साहस की मनुष्य में कहीं कमी तो नहीं है।

मानवी बुद्धि सहज ही सोच सकती है कि अवांछनीयताएँ अनावश्यक होते हुए भी क्यों विद्यमान हैं। यह भी इसलिए है कि हमें नीति स्थापना के लिए प्रेरणा मिले। सहज ही कमरे में गंदगी प्रवेश करती है पर सफाई के लिए हमें प्रेरणा दे जाती है। शरीर से विजातीय द्रव्य पसीने आदि के रूप में सहज क्रम में निकलते हैं पर हमें स्वच्छता की प्रेरणा दे जाते हैं।

व्यायामभवने ये तु युद्ध्यंते हि परस्परम्।
शूरावीराश्च जायंते बलिष्ठा नात्र संशयः॥ १७॥
पराक्रमो नरस्यास्ति महत्त्वमहितो गुणः।
उदयः संभवस्तस्य संघर्षेणैव नान्यथा॥ १८॥
एतादृशे त्वनायाते जीवनेऽवसरे नरः।
वञ्चितः प्रतिभायाश्च प्रखरताया अपि त्वलम्॥ १९॥
येन स निष्प्रभं दीनहीनमेव हि जीवति।
जागृतिस्तत्परत्वं च प्रखरता संति सद्गुणाः॥ २०॥
इमे त्रयो गुणा न्यायपक्षमाश्रित्य सर्वथा।
युद्ध्यमाने भजंत्याशु विकासं तु महामुने॥ २१॥

टीका—व्यायामशाला में दैनिक रूप से परस्पर जूझने से ही शूरवीर बलिष्ठ होते हैं इसमें संदेह नहीं। पराक्रम मनुष्य का महत्त्वपूर्ण गुण है। उसे संघर्ष द्वारा ही उभारा जाता है। ऐसा अवसर न आने पर मनुष्य प्रतिभा और प्रखरता से वंचित रहता है, जिससे वह गया-गुजरा दीन-हीन जीवन ही जी सकेगा। जागरूकता, तत्परता और प्रखरता ये तीनों गुण न्याय के समर्थन में अन्याय से जूझने पर ही विकसित होते हैं॥ १७-२१॥

व्याख्या—शरीर में बल हो, न हो, अंदर से प्रखरता न उभरे तो वह व्यर्थ है। शरीर की दृष्टि से बलिष्ठ बनने के लिए पहलवान नित्य साधना करते हैं, अपने से अधिक समर्थ बलशाली से दो-दो हाथ करते हैं तभी उनके गुण उभरकर आते हैं। मात्र आहार व नित्य व्यायाम तो सिद्धांत का एकांगी पक्ष है। व्यवहार वह है जिसमें अपने आपको सान पर चढ़ाया जाता है। यदि मनुष्य इससे दूर भागता है अथवा उसे अवसर नहीं मिलता तो वह अंतः की प्रखरता, बुद्धि का पैनापन तथा शरीर की बलिष्ठता जैसी विभूतियों से वंचित ही बना रहता है। जब वह जूझने का साहस पैदा कर लेता है तो जागरूकता, तत्परता, प्रखरता जैसी सद्गुण संपदा पाकर कृतकृत्य हो जाता है। जागरूकता अर्थात् वांछनीय-अवांछनीय पहचान सकने की क्षमता, तत्परता अर्थात तुरंत निर्णय लेकर क्रियान्वयन करने की क्षमता, प्रखरता अर्थात् न्याय, रक्षा हेतु किस प्रकार मोरचा लेना, इस क्षमता का विकास।

विश्व इतिहास की रश्मियाँ यह बताती हैं कि संसार संघर्ष का रंगमंच है जिसमें व्यक्ति, समुदाय और राष्ट्र अपने सिद्धांतों, आदर्शों की रक्षा के लिए संघर्षरत होकर अपनी श्रेष्ठता बनाए रखने का प्रयत्न करते हैं। यह संघर्ष ही वस्तुतः श्रेष्ठता की कसौटी है। ऐसा देखने में आया है कि इन युद्धों में हार उन्हीं की हुई जो आदर्शहीन और दुर्बल मनोबल के थे। पर जो सत्य, न्याय और आदर्शों का संबल लेकर लड़े उन्हें कोई भी पराभूत नहीं कर सका। उन्हीं को विजय मिली, न्याय जिनके पक्ष में था, क्योंकि सत्य की शक्ति मानवों को निरंतर युद्ध करने की क्षमता प्रदान करती है और जो लंबे समय तक संघर्षरत रह सकता है सुनिश्चित रूप से अंतिम विजय भी उसे ही उपलब्ध होती है।

अज्ञानं चाप्यभावश्च श्रेण्यामस्यां निरूपिते।
देवास्त्रयो ज्ञानकर्मौदार्यनामान एव ते॥ २२॥
अज्ञानमथसोऽभावोऽन्यायश्चैतेत्रयोऽसुराः।
विद्यंतेऽनादिकालाच्च युद्ध्यं ते तुत्रयस्त्रिभिः॥ २३॥
दैवासुरस्तु संग्राम एष एवास्य हे मुने।
धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे महाभारतकस्य तु॥ २४॥
साधना समरस्यैते संति योद्धार एव ये।
योद्धव्यं तैः सदैवात्र युद्धाद् ये विरमंति च॥ २५॥
भर्त्सनां ते लभंते च मोहग्रस्तो यथार्जुनः।
वाञ्छन्नपि न वै कश्चिद् संघर्षाद्दूरमाव्रजेत्॥ २६॥

टीका—अज्ञान और अभाव भी इसी श्रेणी में आते हैं। तीन देवता हैं ज्ञान, कर्म और औदार्य। तीन असुर हैं अज्ञान, अभाव और अन्याय। इन्हीं के बीच अनादिकाल से संघर्ष

चलता आ रहा है। यही देवासुर संग्राम है। इसी महाभारत के धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र में साधन-समर के शूरवीर योद्धा को निरंतर जूझना पड़ता है। जो इससे बचने का प्रयत्न करेगा उसे मोहग्रस्त अर्जुन की तरह भर्त्सना सहनी पड़ेगी, कोई संघर्ष से बचना चाहे तो भी नहीं बच सकता॥ २२-२६॥

व्याख्या—अनीति की ही श्रेणी में अज्ञान और अभाव आते हैं। ज्ञान, कर्म और उदारता इन तीन देववृत्तियों की चर्चा पिछले प्रकरण में की जा चुकी है। संसार में प्रकाश और अंधकार के युग्म की तरह इन देवों के भी प्रतिरोधी अज्ञान, अभाव, अन्याय के रूप में विराजमान हैं। अंतर्जगत के समरांगण में हर व्यक्ति को एक संग्राम का सामना करना होता है जिसमें ज्ञान से अज्ञान को, कर्मशीलता से अभाव को तथा उदारता की वृत्ति से अन्याय को चुनौती देकर उन्हें परास्त करना पड़ता है। इन तीन असुरों की काट इन तीन अस्त्रों से ही हो सकती है। इसका अन्य कोई विकल्प नहीं।

मनुष्य चाहे तो भी इस संघर्ष से बच नहीं सकता। विशाल भारत की स्थापना व संकीर्ण स्वार्थपरता को मिटाने के लिए स्वयं भगवान के रहते हुए भी महाभारत हुआ ही। अज्ञान, अभाव व अनाचार की वृत्ति यदि अंदर विद्यमान है तो इनसे प्रतिकार हेतु स्वयं को तैयार करना ही पड़ेगा। नहीं करेंगे तो मनुष्य का अस्तित्त्व ही नहीं रहेगा। उसे किसी न किसी प्रकार ऐसा करने की सीख मिलती है व उसे सही कदम उठाने के लिए विवश कर देती है।

मक्षिका मसका यूका मत्कुणा मूषकादयः।
वृश्चिकादयएतेऽस्मान् विवशान् कुर्वते भृशम्॥ २७॥
आत्मरक्षां प्रकर्तुं तान् दूरीकर्तुं महामुने।
आक्रांतृन् साहसं ग्राह्यमित्थं सर्वत्र दृश्यते॥ २८॥
अनौचित्यस्य सहनात्तु स्वमस्तित्वं विपद्यते।
द्वितीया हानिरेषास्यादाक्रांतारस्तु निर्भयाः ॥ २९॥
स्वस्यास्तु दुष्टतायास्ते परिमाणे महत्तमे।
प्रयोगमाचरिष्यंति यच्च कष्टकरं भवेत्॥ ३०॥
साधनैः साहसेनापि यास्यंतीमे सुपुष्टताम्।
व्यक्तयः केचनान्येभ्यो विपद्धेतुकरा मताः॥ ३१॥

टीका—मक्खी, मच्छर, खटमर, जुएँ, चूहे, साँप, बिच्छू आदि इस बात के लिए विवश करते हैं कि आत्मरक्षा का प्रबंध किया जाए और आक्रांताओं को हटाने के लिए साहस अपनाया जाए। यही बात सर्वत्र देखी जाती है। अनौचित्य को सहन करते रहने से तो अपना अस्तित्त्व ही संकट में पड़ जाएगा, दूसरी हानि यह होगी कि आक्रमणकारी निर्द्वंद्व होकर अपनी दुष्टता को अधिक बड़े परिमाण में प्रयुक्त करेंगे जो कि कष्टकर होगा। साहस और साधन बढ़ते रहने से वे अधिक परिपुष्ट होंगे और कुछ व्यक्ति अन्यों के लिए भारी विपत्ति का कारण बनेंगे॥ २७-३१॥

व्याख्या—बहिरंग जगत में भी दुष्प्रवृत्तियाँ इतनी व्यापक हैं कि उनसे बच पाना संभव नहीं। उपाय एक ही है, उनसे संघर्ष किया जाए, दुष्टता को सहन न कर उसका प्रतिकार किया जाए। मनुष्य जैसे समर्थ प्राणी के लिए इससे हेय प्रसंग क्या हो सकता है कि कुछ गिने-चुने दुर्धर्ष व्यक्ति असंख्यों के लिए कष्ट का कारण बनें। कारण एक ही है दुष्टता को सहन किया गया, इसीलिए वह दूने परिमाण में और भी निर्द्वंद्व होकर आक्रमण करने का साहस कर सकी।

मक्खी-मच्छर जैसे जीव प्राणी जगत में हैं पर इस वृत्ति के व्यक्ति भी समाज में होते हैं। उनकी उपस्थिति यही माँग करती है कि उनसे सचेत रहा जाए व जमकर मोरचा लिया जाए।

अनीत्याचरणं पापं यथा भीरुतया तथा।
तस्या अप्रतिरोधोऽपि पापमेवानुविद्यते॥ ३२॥
वस्तुतो भीरवस्ते हि दुष्टतां पोषयंत्यलम्।
वरं संघर्षशीलास्ते स्वयं ग्रह्णंतु हानिकाम्॥ ३३॥
परं साहसिका तेषां धर्मनिष्ठा तु या तया।
निर्दोषाणामसंख्यानां रक्षा भवति सर्वथा॥ ३४॥

टीका—अनीति करना जितना पाप है, उतना ही कायरतावश उसका प्रतिरोध न करना भी पाप है। वस्तुतः कायर ही दुष्टता का परिपोषण करते हैं। जूझने वाले स्वयं भले ही घाटे में रहें पर उनकी इस साहसिक धर्मनिष्ठा से असंख्य निर्दोषों की रक्षा होती है॥ ३२-३४॥

व्याख्या—कायर मनुष्य अनाचार के सामने घुटने टेक देते हैं, दुम दबाकर भाग जाते हैं अथवा उसे सहन करते रहते हैं। इससे प्रकारांतर से अनीति को ही बढ़ावा मिलता है। इसके विपरीत प्राणवान जीवनधारी मनुष्य अकेले बिना किसी योजना निर्धारण के तो कभी लड़ते नहीं, परंतु अपने आपको जुटाकर बिखराव समेटकर शक्ति भर प्रतिकार करते हैं, भले ही इसमें उनकी जान ही क्यों न चली जाए।

आतंकवादिनां भक्तुं साहसं प्रतिरोधनात्।
अतिरिक्तं न मार्गं तत्किमप्यस्ति महामुने॥ ३५॥
कः प्रभावो हिंस्त्रकेषु पशुष्वास्ते च दुर्जनाः।
धर्मोपदेशबोद्धारः किं भवंति विचार्यताम्॥ ३६॥
यद्येवं संभवेत्तर्हि रावणोऽङ्गदबोधितः।
दुर्योधनश्चकृष्णेन नम्रौ स्यातां न बोधितः॥ ३७॥
लंकाकांडस्य किं स्यातां महाभारतकस्य च।
आवश्यकता यतो देवाः प्रत्याक्रमणरक्षकाः॥ ३८॥
सहनेन सुगुप्त्या वा शांति - प्रार्थनयाऽपि वा।
असुरतायाः कुत्रास्ति आत्मरक्षा सुसंभवा॥ ३९॥

टीका—आतंकवादियों के हौसले तोड़ने के लिए प्रतिरोध

के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं। हिंस्र पशुओं पर अनुनय-विनय का क्या प्रभाव पड़ता है ? दुरात्मा भी धर्मोपदेशक कहाँ सुनते हैं यह विचार लो यदि ऐसा होता तो अंगद के समझाने पर रावण और कृष्ण के समझाने पर दुर्योधन बदल न गया होता ? तब लंकाकांड और महाभारत की आवश्यकता ही क्यों पड़ती ? देवता प्रत्याक्रमण के बाद ही आत्मरक्षा कर सके हैं ? सहने, छिपने और शांति की रट लगाने से भी असुरता से आत्मरक्षा कहाँ होती है ॥ ३५-३९ ॥

व्याख्या—अनीति के पक्षधर मानवता के शत्रु होते हैं, उन्हें हिंसक खूँख्वार प्राणी के समकक्ष ही समझा जाना चाहिए। उन्हें मात्र प्रतिरोध की भाषा समझ में आती है, सत्परामर्श और शांति संधि की चर्चा उनसे नहीं की जाती। वे अंदर से बाहर तक कुटिल दुर्बुद्धि व दुराचार से भरे पड़े होते हैं।

अनीत्यातंङ्कहेतोर्या घटना दुःखदायिकाः।
दृश्यन्ते, दृश्यमानानां प्रतिरोद्धुं मनो भवेत्॥ ४० ॥
अज्ञानं चाप्यभावश्चावाञ्छनीयौ मतौ तथा।
यद्यप्येतौ तु विद्येते परोक्षौ व्यक्तिगौ ध्रुवम्॥ ४१ ॥
अनयोर्हेतुना व्यक्तिः समाजश्चार्तयंत्रणाः।
सहेते स भवेत्तस्मात्प्रतिरोधोऽप्यनीतिवत् ॥ ४२ ॥
न्यायिकः प्रतिबंधोऽस्ति विरोधेऽनीतिपद्धतेः।
राजसत्तारुणद्ध्येनं, नैतौरोद्धुं किमप्यहो॥ ४३ ॥
अनयोरस्ति दायित्वं लोकसेविनरेषु हि।
सुधारकेषु शूरेषु तेऽग्रगा दूरयन्त्विमौ ॥ ४४ ॥
प्रत्यक्षं दृश्यते हानिर्या तु साक्रमणोदिता।
प्रत्यक्षवादिनोऽ वांछनीयता तास्तु संजगुः॥ ४५ ॥
दूरीकर्तुं च तान्येव निरतास्ते भवंति हि।
विरलाः केचनैवेदं जानंति पुरुषास्तु यत्॥ ४६ ॥
अग्निवज्ज्वलका नैव घुणा वल्मीककास्तथा।
तेजसाप्यं च कुर्वंति लौहस्तंभं धराशयम्॥ ४७ ॥

टीका—अनीति के आतंक से जो दुर्घटनाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, वे ही ध्यान में आती हैं और प्रतिरोध की बात सोची जाती है, किंतु व्यक्तिगत एवं परोक्ष होते हुए भी अज्ञान तथा अभाव भी उतने ही अवांछनीय हैं। इनके कारण भी व्यक्ति तथा समाज को असह्य यंत्रणाएँ सहनी पड़ती हैं। इसलिए उनका प्रतिरोध अनीति की तरह ही होना चाहिए। अनीति के विरुद्ध कानूनी प्रतिबंध है और राजसत्ता उसकी रोकथाम करती है किंतु अज्ञान और अभाव के विरुद्ध कोई प्रत्यक्ष मोरचा नहीं है। इसे सँभालने का उत्तरदायित्व लोकसेवी सुधारक शूरवीरों के कंधों पर रहा है। उन्हें ही आगे बढ़कर इन अवांछनीयताओं को निरस्त करना होता है। आक्रमणों से होने वाली हानि प्रत्यक्ष दीखती है इसलिए प्रत्यक्षवादी उन्हीं को अवांछनीयता समझते और निरस्त करने में लगे रहते हैं। यह विरले ही जानते हैं कि आग की तरह प्रज्ज्वलनशील न होने पर भी तेजाब, घुन, दीमक आदि भी सुदृढ़ शहतीर को धराशायी बना देते हैं॥ ४०-४७ ॥

व्याख्या—अज्ञान वह जो औचित्य-अनौचित्य में अंतर न कर सके, अभाव यह जो कर्म से पलायन की ओर मनुष्य के उन्मुख होने से उत्पन्न हुआ हो। दोनों असुर सहोदर हैं जो बौद्धिक ज्ञान एवं भौतिक वैभव से नहीं मान्यता से संबंध रखते हैं। अज्ञान पढ़े-लिखों और अपढ़ों में समान रूप से व्याप्त होता है। सुशिक्षित व्यक्ति वांछनीय-अवांछनीय में भेद कर पाएँ, जरूरी नहीं। सारे अंधविश्वास एवं मूढ़ मान्यताएँ यहीं से जन्म लेती हैं एवं समाज को खोखला व व्यक्ति को दरिद्र बना देती हैं।

अनीति प्रत्यक्ष होने, आक्रमण होने के कारण दिखाई भी पड़ जाती है और समाज को अज्ञान और अभाव में उतना ही त्रस्त किए हैं, जितना अनीति-अनाचार। सामान्यतया संघर्ष की बात सोची जाती है तो वह हिंसा, अपराध, दमन, शोषण, जैसे अनाचारों के विरुद्ध ही होती है पर एक परोक्ष मोरचा ऐसा है जो सतत् संघर्ष की जूझने की आवश्यकता बताता है। राजसत्ता अनीति के लिए सुरक्षा व्यवस्था बनाती है पर अज्ञान-अभाव का मोरचा तो मात्र समाज सुधारक ही सँभाल सकते हैं जो जनहित के लिए समर्पित हों, रोग का लक्षण जानकर चिकित्सा हेतु सदैव उद्यत रहते हों।

भ्रष्टता चिंतनस्याथ दुष्टताचरणस्य च।
मान्यतामोहरूपास्ता अंधाश्चापि परंपराः॥ ४८ ॥
दुष्प्रवृत्तय एतास्तु ज्ञायतां हे मुनीश्वराः।
आक्रामिकात्वनीतिर्या सैव तास्तु भयंकराः॥ ४९ ॥
विनाशलीलाः कुर्वंति ये चाक्रांतार एव ते।
व्यक्तित्वादथ शक्यंते ग्रहीतुं च नियंत्रितुम्॥ ५० ॥
दुष्प्रवृत्तय एतास्तु स्वभावे मानवस्य हि।
प्रविष्टा नैव दृश्यंते नैव दुन्वंति चाप्यलम्॥ ५१ ॥
कठोरप्रतिरोधस्य सामुख्यं नैव कुर्वते।
संघर्षशीलताक्षेत्रमत्यन्तं व्यापकं मतम् ॥ ५२ ॥

टीका—चिंतन की भ्रष्टता, आचरण की दुष्टता, मूढ़ मान्यताएँ, अंध परंपराएँ जैसी दुष्प्रवृत्तियाँ भी आक्रामक अनीति की तरह ही भयावह होती और विनाशलीला रचती हैं। आक्रमणकारी व्यक्ति होने से वे सहज ही पकड़े और दबाए भी जा सकते हैं। दुष्प्रवृत्तियाँ मनुष्य के स्वभाव में घुसी होने के कारण दीखती भी नहीं, अखरती भी नहीं और कड़े प्रतिरोध का सामना करने से भी बची रहती हैं। संघर्षशीलता का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है॥ ४८-५२ ॥

व्याख्या—जो हानि परोक्ष है, चर्म चक्षुओं से दिखाई नहीं देती इसलिए हानि नहीं लगती। वैयक्तिक दुष्चिंतन और

उससे प्रेरित दुर्व्यवहार तथा अविवेक पूर्ण प्रचलन उतने ही भयंकर हैं जितने कि व्यापक स्तर पर हिंसक आक्रमण। अज्ञान-अभाव जन्य ये दुष्प्रवृत्तियाँ घुन की दीमक की तरह समाजरूपी भवन को निरंतर धीरे-धीरे नष्ट करती रहती हैं। ऊपर से भले ही समाज विकास की दिशा में बढ़ता दिखाई दे, पर ये परोक्ष दुष्प्रवृत्तियाँ जितनी आर्थिक, सामाजिक, नैतिक हानि समाज को अब तक पहुँचा रही हैं, उसकी गणना आँकड़ों में नहीं की जा सकती।

सतीत्व हरण, पर्दाप्रथा, दहेज, विवाह में अपव्यय-प्रदर्शन, अंधविश्वास-भूतपलीत, ओझागिरी, झाड़ फूँक, नशाखोरी, फिजूलखरची, फलित ज्योतिष, बेईमानी, मिलावट, रिश्वतखोरी आदि ऐसी दुष्प्रवृत्तियाँ हैं जो व्यक्ति, परिवार, समाज से सीधे संबंध रखती हैं। इनसे संघर्ष भी उसी व्यापक स्तर पर लिया जाना चाहिए जैसा कि प्रत्यक्ष अपराधों के विरुद्ध लिया जाता है। ये प्रचलन किस प्रकार जन्म लेते हैं इनका कारण जानने पर क्षोभ तो होता ही है, हँसी भी आती है।

एकं क्षेत्रं चिंतनस्य व्यक्तिगस्य मतं तथा।
स्वभावाचरणाभ्याससम्मानानां च विद्यते॥ ५३॥
पशुवृत्तेः संचिता ये कुसंस्कारास्त एषु हि।
क्षेत्रेषु दृढमूलाश्च स्थिताः सूक्ष्मेक्षिकाबलात्॥ ५४॥
अन्विष्यैताँस्तथाहानीरेतेषामनुमाय च ।
निरस्तुं योजनायोगः सुसंस्कारो विपक्षकः ॥ ५५॥
यस्तस्य स्थापनामाद्यं पदं प्रगतिशालिनी।
धर्मनिष्ठा तु या तस्या जगद्वश्यं जितात्मनः॥ ५६॥

टीका—एक क्षेत्र अपने व्यक्तिगत चिंतन, स्वभाव, चरित्र एवं अभ्यास, सम्मान का है। पशु प्रवृत्तियों के संचित कुसंस्कार इन्हीं क्षेत्रों में अपनी जड़ें जमाए बैठे रहते हैं। इनको बारीकी से ढूँढ़ना, उनकी हानियों का अनुमान लगाना, निरस्त करने की योजना बनाना, प्रतिद्वंदी सुसंस्कारिता की स्थापना करना प्रगतिशील धर्मनिष्ठा का प्रथमचरण है। जो अपने अंतः को जीतता है, वही बाह्य संसार को जीत सकता है॥ ५३-५६॥

व्याख्या—प्रज्ञा सत्र के प्रथम चार प्रकरणों में महाप्राज्ञ अंतर्जगत का पर्यवेक्षण, आत्म निर्माण, अंतःक्षेत्र का समर इन पक्षों पर चर्चा कर चुके हैं, उसी का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि संघर्ष अपने से आरंभ होता है। पहले अपने ही चिंतन में, संचित संस्कारों एवं अभ्यास के कारण सभी दुष्प्रवृत्तियों से मोरचा लेना पड़ता है।

कुटुम्बं तनुरिवैतत् स्नेहस्तस्मै तु दीयताम्।
प्रगतेः पोषणस्यापि साधनादि च दीयताम्॥ ५७॥
ध्यानमुत्तरदायित्वे दीयतां ते भवंतु हि।
सुयोग्याश्च समर्थाः सुसंस्काराः स्वावलंबिनः॥ ५८॥
एतदर्थं कुटुंबस्य पारंपर्य क्रमे मुने।
अपेक्ष्यं भवतीहैतत्परिवर्तनमप्यलम् ॥ ५९॥
अस्मै नम्रस्य मंदस्य सौहार्दभरितस्य च।
विरोधशोधनस्यास्ति महत्त्वमिति मन्यताम्॥ ६०॥
मोहाद् ये न करिष्यंति नरा एतद्धि निश्चितम्।
स्नेहिनः परिवारस्य तेऽहितं साधयंत्यहो॥ ६१॥

टीका—शरीर की तरह परिवार भी है। परिजनों को दुलार भी दिया जाए और पोषण प्रगति के साधन जुटाने में भी कमी न रखी जाए, किंतु इस उत्तरदायित्व को भी ध्यान में रखा जाए कि उनमें से प्रत्येक को सुयोग्य, समर्थ, स्वावलंबी एवं सुसंस्कारी भी बनाना है। हे मुने इसके लिए परिवार के परंपरागत ढर्रे में बहुत कुछ परिवर्तन करना पड़ सकता है। इसके लिए धीमे, विनम्र एवं सौहार्द्र पूर्ण विरोध सुधार की आवश्यकता पड़ेगी ही। जो मोहवश इससे बचेंगे वे स्नेह पात्र परिजनों का निश्चित ही अहित करेंगे॥ ५७-६१॥

व्याख्या—जब आदमी स्वयं लोभ मोह अहंता जैसे बंधनों से छुटकारा पाने में पूरी शक्ति लगा देता है तब उसे निश्चित ही सफलता मिलती है। पर यह क्षेत्र परिवार निर्माण बिना अधूरा ही है। परिवार जनों से मोह अलग बात है उनका हित साधन अलग। परिवार के प्रति एक आँख दुलार व एक आँख सुधार की रखी जाए। अपनी प्रमुख जिम्मेदारी है परिवार परिजनों में सुसंस्कारिता का समावेश। इसमें एक बहुत बड़ी अड़चन आती है बहुत समय से चला आ रहा ढर्रा जिसमें आमूलचूल परिवर्तन अकस्मात् लाना दुष्कर जान पड़ता है। इसे किसी भी स्थिति में सुधारपरक नीति बनाकर किया ही जाना चाहिए। जब आदमी का सुधार धीरे-धीरे होता है तो परिवार में बीजारोपण कर उसे वृक्ष बनते देखने में चमत्कारी प्रतिफल की आशा नहीं करना चाहिए।

सामाजिकेषु बाहुल्यं कुरीतीनां विधिष्वलम्।
भवत्येव तथैकस्य कालस्य रीतयो मुने॥ ६२॥
अयोग्या अपरेकाले हानिदाश्चापि सम्मताः।
जीर्णतायां वरो मान्योनरोरुग्णःश्लथोभवेत् ॥ ६३॥
रीतीनां विषयेऽप्येवं जीर्णोद्धार इव क्रमः।
संशोध्याया अथ त्याज्यास्त्याज्याः साहसपूर्वकम्॥ ६४॥

टीका—सामाजिक प्रचलनों में कुरीतियों की भरमार रहती है। एक समय की प्रथाएँ दूसरे समय में अनावश्यक ही नहीं, हानिकारक भी बनती रहती हैं। जीर्णता आने पर अच्छा खासा मनुष्य भी अस्त-व्यस्त और रुग्ण रहने लगता है। प्रचलनों के संबंध में भी यही बात है। जिन्हें सुधारना, बदलना आवश्यक हो, उन्हें टूट-फूट की मरम्मत करने की तरह साहसपूर्वक बदल लेना चाहिए॥ ६२-६४॥

व्याख्या—परंपराएँ सामयिक होती हैं, शाश्वत नहीं।

समयानुसार उनकी उपयोगिता-अनुपयोगिता पर ध्यान रख सुधारक उनमें काट-छाँट करते हैं और समाज का कायाकल्प करते हैं। जीर्ण भवन शीघ्र धराशायी होता है। समाज में आज जो परंपराएँ घुसी पड़ी हैं, वे भी इसी प्रकार उसे जीर्ण-शीर्ण बना रही हैं। उन्हें समय-समय पर गौतम बुद्ध, आद्य शंकराचार्य, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, शरतचंद्र, राजा राममोहन राय, स्वा० दयानंद, महामना मालवीय जैसे अवतारी पुरुषों व सुधारक-शूरवीरों ने आ-जाकर सुधारा है व गलाई-ढलाई का उपक्रम अपनाकर समाज को नई दिशा दी है।

लोकप्रवाहकस्यास्ते जलमार्गं तु पंकिलम्।
प्रायोऽल्पाःसज्जनाःसंति बहवोऽसंस्कृता जनाः॥ ६५॥
गतिः साऽनुपयोग्या हि प्रायो रीतिषु धावति।
यथावत् सा नहि ग्राह्या, हंसः क्षीरं जलात् पिबेत॥ ६६।
स इवात्रापि कर्तव्या नीरक्षीर - विवेकिता।
ततश्चोचितमास्ते यत्तद्ग्राह्यं मानवैः सदा॥ ६७॥

टीका—लोकप्रवाह के नाले में सदा कूड़ा-करकट ही अधिक बहता है। सज्जनों की संख्या कम और अनगढ़ कुसंस्कारियों की अधिक रहती है। अस्तु प्रथा-प्रचलनों में अनुपयुक्तता का बहुमत ही आगे रहता और उछलता है। उसे ज्यों का त्यों ग्रहण नहीं करना चाहिए, वरन् हंस जैसे पानी से दूध पी लेता है, उसकी नीर-क्षीर विवेक बुद्धि अपनाकर जो उचित उपयुक्त हो, मनुष्य को उसी को अपनाना चाहिए॥ ६५-६७॥

व्याख्या—आज अवांछनीयता का प्राधान्य है एवं श्रेष्ठता कम ही दृष्टिगोचर होती है। आस्था संकट की परिणति स्वरूप उत्पन्न यह परिस्थिति उलटी जा सकती है, यदि जन समुदाय को उत्कृष्टतापरक मान्यताओं का पक्षधर बनने के लिए सहमत किया जा सके। यह समाज स्तर पर एक विशाल व्यापक विचार क्रांति से ही संभव है। उचित-अनुचित में भेद बता पाना तो संभव है जब जनमानस विवेक शक्ति-प्रज्ञा का सहारा ले व मात्र उचित को अपनाए औरों को भी अपनाने को प्रेरित करे। जब भी परंपराओं का प्रश्न आए विवेकशील का कर्त्तव्य है कि वे समूह की बात को सत्य न मानकर मात्र समझदारों की बात न मानें अपनी स्वयं की दृष्टि भी उसी अनुरूप विकसित करें।

आकर्षणानि सर्वस्वं कालिकानि न मन्यताम्।
परिणामेषु कर्त्तव्यो विचारो दूरगामिषु ॥ ६८॥
दुःखदाः परिणामा ये लाभास्तात्कालिकामताः।
त्याज्यास्ते साहसेनैवं भविष्यन्मंगलं व्रजेत्॥ ६९॥

टीका—तात्कालिक आकर्षणों को ही सब कुछ नहीं मानना चाहिए। उसके दूरगामी परिणामों पर भी विचार करना चाहिए। जो परिणाम में दुःखद हो, ऐसे तुरंत के लाभ का साहसपूर्वक परित्याग ही कर देना चाहिए, इससे भविष्य मंगलमय बन जाएगा॥ ६८-६९॥

व्याख्या—हर मान्यता के निर्धारण में दूरगामी परिणामों का सदैव ध्यान में रखा जाए। दहेज तत्काल तो लाभकारी प्रतीत होता है। लगता है यश मिल रहा है, सबकी निगाहों में हम ऊँचे हैं, हमारी बेटी सुखी रहेगी पर जब विवाहोपरांत अनापशनाप माँगे आने लगती हैं तो अपनी अदूरदर्शिता पर दुःख होता है। यही पिता अपनी लड़की के विवाह में तो आदर्श की डींग हाँकने में नहीं हिचकता पर जब बेटे का ब्याह समीप आता है तो सारे आदर्श न जाने कहाँ तिरोहित हो जाते हैं। हर व्यक्ति यह संकल्प ले ले कि हम दूरदर्शिता अपनाएँगे, समाज में सत्प्रवृत्ति विस्तार हेतु स्वयं से शुभारंभ करेंगे तो इन कुरीतियों के उन्मूलन में देर न लगे।

विवेकयुक्तो य आस्ते परामर्शः स मन्यताम्।
बालानां वा परेषां वा नायोग्य आत्मनामपि॥ ७०॥
तथ्यानां गरिमा श्लाघ्यो व्यक्त्यपेक्षतया मुने।
नवीनत्वं पुराणत्वं श्रेष्ठतायै न वाञ्छितम्॥ ७१॥
परं द्रष्टव्यमेतद्यत्तथ्यं सत्यं किमस्ति च।
अभ्यस्तं विधिमुत्स्रष्टुं मनो भवति शंङ्कितम्॥ ७२॥
परिवर्तनसंक्लेशैर्योद्धुं नोत्सहते जनः।
साहसाभावतोऽनीतेरग्र आत्मार्पणं ध्रुवम्॥ ७३॥

टीका—विवेकयुक्त परामर्श छोटे और परायों का भी मानें। अनुपयुक्त निर्देश बड़ों या अपनों का भी नहीं मानना चाहिए। व्यक्तियों की तुलना में तथ्यों की गरिमा अधिक है। बात नई है या पुरानी इस आधार पर उसे वरीयता न दी जाए, वरन् यह देखा जाए कि तथ्य एवं सत्य द्वारा समर्थन किसका होता है। अभ्यस्त ढर्रे को बदलने में मन कच्चा पड़ता है। उलट-पुलट के झंझट से सभी बचना चाहते हैं। इस साहसहीनता के कारण अनीति के सामने सिर झुकाना पड़ता है॥ ७०-७३॥

व्याख्या—सन्मार्ग पर चल पड़ने का परामर्श कहीं से भी मिले, विवेकयुक्त हो तो स्वीकार कर लेना चाहिए चाहे कहने वाला हमसे छोटा ही क्यों न हो। बड़े चाहें तो भी अनौचित्य को स्वीकार न करें। हमेशा बात को तर्क, तथ्य एवं प्रमाणों की कसौटी पर कसें, यह मानकर नहीं कि ऐसा पहले भी होता रहा है इसलिए सही है।

समाज का सहज प्रवाह एक अभ्यस्त ढर्रे के रूप में है। इस ढर्रे को बदलना ही साहसिकता है। मछली धारा को उल्टा चीरकर चलती है और ऊपर पहुँच जाती है। धारा प्रवाह में तो शरीर से बलिष्ठ पर बुद्धि से अल्प हाथी जैसे प्राणी भी बहते देखे जाते हैं। बुद्धिमत्ता इसी में है कि जो भी अनुचित है उसे पलट डालने में जरा भी असमंजस न बरतें।

इस साहस के अभाव में ही अनीति व्यक्ति पर हावी हो जाती है।

शूरा अपि च वीराश्च विख्याता ये जनास्तु ते।
दृश्यंते दुर्बलाः प्रायः क्षेत्रे सैद्धांतिके सदा॥ ७४॥
आत्मविश्वासिनो ये ते सदाऽऽदर्श समर्थने।
एकाकिनः स्थिताः संतु सहायाः संतु वा न वा॥ ७५॥
निन्दाया वा प्रशंसायाश्चिंता नैवात्रयुज्यते।
संघर्षो मल्लयुद्धो न चात्रासीषुनिपातनम्॥ ७६॥
उपेक्षया विरोधेन तथैवासहयोगतः।
प्रारंभिकं सुपूर्णं स्यात् प्रयोजनमितिस्फुटम्॥ ७७॥
अनीतिमात्मा जानाति यन्नग्राह्यमदोऽमुना।
सहयोगः कथंचिन्न युज्यते वा समर्थनम्॥ ७८॥

टीका—शूरवीर समझे जाने वाले भी सिद्धांत क्षेत्र में दुर्बल पड़ते हैं। आत्मविश्वासियों को आदर्शों के समर्थन में एकाकी अड़ा रहना चाहिए, साथी हों या न हों। उन्हें निंदा, प्रशंसा की चिंता ऐसे प्रसंगों पर नहीं करनी चाहिए। संघर्ष मल्लयुद्ध को नहीं कहते और न उसमें सदा तीर-तलवार चलाने की ही आवश्यकता पड़ती है। उपेक्षा, असहयोग, विरोध करने से भी संघर्ष का आरंभिक प्रयोजन स्पष्ट पूरा होता है। जिसे आत्मा अनीति माने उसका समर्थन, सहयोग तो किसी भी मूल्य पर नहीं करना चाहिए॥ ७४-७८॥

व्याख्या—बाहर से शूरवीरता की बात करते तो अनेकों देखे जाते हैं पर जब उन सिद्धांतों को व्यवहार में उतारने की बात आती है तब सही परीक्षा होती है। सिद्धांत क्षेत्र की बहादुरी तलवार चलाने वाली क्रिया परक बहादुरी से अलग है यह संपदा है जो कमजोर व्यक्ति को भी अनीति के पक्षधर मजबूत विरोधी से संघर्ष में विजयी बनाती है। महात्मा गाँधी कुल ९६ पौंड के क्षीणकाय व्यक्ति थे। पर उनकी सैद्धांतिक सामर्थ्य करोड़ों हाथियों के बराबर थी। इसी के बल पर वे कभी सूरज न डूबने वाले ब्रिटिश साम्राज्य से मोर्चा ले सकें। ऐसा सत्साहस आदमी को अनीति से सहयोग न करने, मोरचा लेने की प्रेरणा देता है।

शारीरं बलमुन्नेतुं संयमः साधनापि च।
कर्त्तव्येऽर्जितमेतच्च मनोबलमपि दृढम् ॥ ७९॥
सत्यस्य निकषे ऽ सिद्धं प्रतिपादनमस्ति यत्।
अस्वीकार्यमिदं नूनं भवत्येव महामुने॥ ८०॥
आत्मनो बलमुन्नेतुं सफलास्ते भवंति हि।
अवांछनीयताभिर्नो संबद्धास्तु भवंति ये॥ ८१॥
ऐश्वर्यं तु समादाय चारित्र्यं चापि केवलम्।
सामर्थ्यमात्मना वाह्या नौकात्मीयेदृशैर्नरैः॥ ८२॥
विना सहगामिनो ऽप्येते विनैव च समर्थनम्।
नीतिमार्गेऽभयं यांति न गच्छन्त्यसमंजसम्॥ ८३॥

टीका—शरीर बल उभारने के लिए संयम-साधना करनी पड़ती है दृढ़ मनोबल अर्जित करने के लिए तथ्य और सत्य की कसौटी पर खोटे सिद्ध होने वाले प्रतिपादनों को अस्वीकार करना होता है। आत्मबल बढ़ा सकने में वे ही सफल होते हैं, जो अवांछनीयता से समझौता नहीं करते। ईमान और भगवान का समर्थन लेकर अपनी नाव आप खेते चले जाते हैं। साथी और समर्थक न होने पर भी नीति पथ पर अकेले चलते रहने में भी उन्हें कोई भय, असमंजस नहीं लगता॥ ७९-८३॥

यांति साहसिका ह्यग्रे सफलाः सपराक्रमाः।
भवंति, प्रतिकूलाभिः स्थितिभिर्युद्धमाचरेत्॥ ८४॥
अनीत्यायुद्ध्यमानैर्न हानिलाभौ तु गण्यताम्।
प्रखरताया विना कोऽपि क्षेत्रे कुत्रापि प्रोद्भवेत्॥ ८५॥
पराक्रमः श्लाघनीयः सार्थं साहसिकैर्मिलेत्।
सौजन्यं शोभते स्फीतं जायते साहसेन च॥ ८६॥

टीका—साहसी ही आगे बढ़ते हैं, पराक्रमी ही सफल होते हैं। प्रतिकूलताओं से जूझना ही पड़ता है, अनीति से टकराने में हानि-लाभ का विचार नहीं करना चाहिए। प्रखरता के बिना किसी भी क्षेत्र में कोई बड़ी प्रगति कर सकने में सफल नहीं होता। पराक्रम ही सराहा जाता है। साहसी को साथी मिलते हैं। सज्जनता की शोभा साहसिकता से ही निखरती है॥ ८४-८६॥

व्याख्या—साहसी का जीवन क्रम किस प्रकार होता है, इस पर किसी कवि ने कहा है।

लीक लीक गाड़ी चले, लीकहिं चले कपूत।
बिना लीक के ये चलें, शायर, सिंह, सपूत॥

ऐसे बिना किसी बंधन के प्रतिकूलताओं से मोरचा लेकर भी घाटा सहकर भी आनंद लेने वाले सच्चे पराक्रमी कहलाए जाते हैं। सज्जनता और साहस दोनों का अद्भुत युग्म ऐसे नर पुगंवों में देखने को मिलता है। इस पथ पर चलते-चलते उन्हें साथी मिलते चले जाते हैं। महात्मा गाँधी को अफ्रीका आंदोलन से भारत को स्वतंत्रता मिलने तक बराबर साथी मिलते चले गए। अँगरेजों से जूझते हुए भी महात्मा नाम के अनुरूप शालीनता को यथावत् रखते हुए उनमें वह प्रखरता थी कि सम्राट् व वाइसराय उनसे आँख नहीं मिला पाते थे।

ऐसे जितने भी व्यक्ति ऊँचे उठे हैं, अपने साहस-प्रखरता संपादन के बल पर ही। गोपाल कृष्ण गोखले, लोकमान्य तिलक, गणेश शंकर विद्यार्थी, वल्लभ भाई पटेल, लाला लाजपतराय जैसे महामानव अपनी प्रखरता के बल पर ही सम्मान पा सके और भारत भूमि की स्वतंत्रता हेतु अपना जीवनोत्सर्ग कर सदा के लिए अमर हो गए। प्रखरता वह आध्यात्मिक गुण संपदा है जो सज्जनता के साथ शोभा पाकर निखर उठती है। ऐसे व्यक्ति आत्मबल के सहारे बिना किसी

भय के बढ़ चलते हैं।

दुर्वासास्तु महर्षिः स मान्यतानां समर्थनम्।
श्रुत्वा स्वानां प्रसन्नो ऽभूद्विवशोऽचिन्तयत्तथा॥ ८७॥
क्रोधावेशाच्चपंगुः स्यान्नरोऽ न्यांश्छिक्षयेत्किमु।
विकृतो जायतेऽसिद्धः किं परान् साधयेदहो॥ ८८॥
संशोधनविधौ भावं गृहीत्वा सर्वदैव तु।
चिकित्सकस्य रुग्णस्य स्निग्धं परुषमाचरेत्॥ ८९॥

टीका—महर्षि दुर्वासा अपनी मान्यताओं का समर्थन सुनकर प्रसन्न तो हुए पर साथ ही यह भूल सुधारने के लिए भी विवश हुए कि क्रोध के आवेश में मनुष्य स्वयं अपंग हो जाता है और दूसरों को सुधारने की अपेक्षा अपने को ही बिगाड़ बैठता है। स्वयं न सुधरा हुआ दूसरों को क्या सुधारेगा। सुधार प्रक्रिया में रोगी और चिकित्सक का भाव रखकर स्नेहभरी कठोरता बरतने की आवश्यकता है॥ ८७-८९॥

व्याख्या—सारा प्रतिपादन सुनकर महर्षि दुर्वासा ने यह अनुभव किया कि प्रखरता की महत्ता तो है पर वह आवेशयुक्त न होकर शालीनता युक्त हो। सुधारने की प्रक्रिया में यदि व्यक्ति स्वयं आवेशग्रस्त हो जाए तो उसके वचनों का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। ऐसे व्यक्ति दूसरों को क्या सुधारेंगे। संत तो चिकित्सक के समान होता है जो आवश्यकता पड़ने पर हितकारी परामर्श भी पथ्य व कड़वी दवा के रूप में कठोरतापूर्वक देता है और स्नेह सहानुभूति भी। सन्निपात की अवस्था में रोगी उसे कुछ भी कह दे, वह उसे कुछ नहीं कहता। पर जहाँ आवश्यकता पड़ती है वहाँ उससे कठोरता से पेश आने में भी कोई कमी नहीं छोड़ता। इसीलिए सज्जनता व प्रखरता साथ चलना चाहिए। आवेश में आने वाला समय पर अपने बल का भी प्रयोग नहीं कर पाता।

समाप्तं पंचमं सत्रं तदारण्यकमथात्र ते।
श्रोतारो ब्रह्मविद्याया महत्त्वं मेनिरे भृशम्॥ ९०॥
प्रतिपादितं तयायच्चतदाध्यात्मिक - वैभवम्।
गरिमा पंचशीलस्य सावधानैरबुद्ध्यत ॥ ९१॥
आध्यात्मिकत्वमास्तिक्यं धार्मिकत्वमुदारहृत्।
भक्तिभावस्तुयस्तस्यानौचित्यस्यापि संमुखे॥ ९२॥
संघर्षशीलतां प्राप्तुं व्रतिनस्ते ऽभवन् समे।
संस्कृतेर्देवतानां तु निर्धारणगणस्य तु॥ ९३॥
आलोकं प्रतिवेश्माथ गत्वा लोकस्य मानसे।
संस्थापितुं प्रव्रज्यायां चर्चायां तेऽचलन्मुदा॥ ९४॥
इत्थं पंचदिनस्येदं सत्रमारण्यकं बृहत्।
सोत्साहं च समुल्लासं साफल्यं समुपेयिवत्॥ ९५॥

टीका—पाँचवें दिन का आरण्यक सत्र समाप्त हुआ। श्रवणकर्त्ताओं ने ब्रह्मविद्या का महत्त्व समझा तथा उसके द्वारा प्रतिपादित आध्यात्मिक पंचशीलों की गरिमा को ध्यानपूर्वक समझा और वे आध्यात्मिकता, आस्तिकता, धार्मिकता, उदारभक्ति भावना तथा अनौचित्य के विरोध में संघर्षशीलता अपनाने के लिए व्रतशील हुए, साथ ही देव-संस्कृति के इन सभी निर्धारणों का आलोक घर-घर जाकर जन-जन के मन-मन में उतारने के लिए प्रव्रज्या पर प्रसन्नतापूर्वक निकल पड़े। इस प्रकार वह पंचदिवसीय आरण्यक सत्र बड़ी सफलतापूर्वक संपन्न हुआ और उत्साह भरे वातावरण में समाप्त हो गया॥ ९०-९५॥

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः श्री पिप्पलाद-दुर्वासा ऋषि-संवादे सत्साहस-संघर्ष इति प्रकरणो नाम षष्ठोऽध्यायः॥

॥ अथ सप्तमोऽध्यायः॥

युगांतरीयचेतना-लीला संदोह प्रकरण

उमाशंकरसंवादामरां श्रुत्वा कथां तु यः।
निवृत्तो जन्ममृत्युभ्यां शुककायानिवासकः॥ १॥
वैशम्पायन एकस्मिन् दिनेऽगान्मेरुपर्वते।
महालयैकशेषं तं मार्कण्डेयं सभाजितुम्॥ २॥
हर्षान्वितावुभौ नत्वाऽन्योन्यं तावृषिसत्तमौ।
चर्चायां परमार्थायां मार्कण्डेयं स पृष्टवान्॥ ३॥

टीका—शिव-पार्वती संवाद की अमर कथा सुनकर जरा-मृत्यु से निवृत्त हुए शुककाया में निवास करने वाले महर्षि वैशम्पायन का एक बार सुमेरु पर्वत पर महाप्रलय में भी एकमात्र जीवित रहने वाले देवात्मा मार्कण्डेय जी से समागम हुआ। दोनों ने हर्षाभिव्यक्ति की और नमन वंदन के उपरांत परमार्थ चर्चा करने लगे। वैशम्पायन ने मार्कण्डेय जी ने पूछा॥ १-३॥

व्याख्या—महर्षि वैशम्पायन एवं देवात्मा मार्कण्डेय जी का एक दूसरे से मिलना व युगांतरीय चेतना के संदर्भ में समागम कर परस्पर जानकारी प्राप्त करना एक ऐसे तंत्र का द्योतक है जो युगों-युगों से ऋषिगणों के मध्य चलता चला आया है। इसी माध्यम से वे अदृश्य जगत की भूत, वर्तमान व भविष्य की गतिविधियों का पर्यवेक्षण, विश्लेषण एवं क्रियान्वयन हेतु निर्धारण करते आए हैं।

महर्षि वैशम्पायन ने शुकयोनि में तत्वज्ञान सुना था। शिव-पार्वती की तत्वदर्शन चर्चा में आसपास कोई जीवधारी शेष न रहा था विधि का विधान ही कुछ ऐसा था कि शुकयोनि में बैठे महर्षि महाप्रज्ञा के उस तत्वज्ञान का श्रवण कर सके जिसने उन्हें अमर बना दिया। काया बदलती रहती है पर यह ब्रह्मज्ञान शाश्वत है।

उनसे चर्चा कर रहे देवात्मा मार्कण्डेय जी मृकंड ऋषि के पुत्र थे। वे भी चिरायु माने जाते हैं। जिस समय प्रलय ने सारे जगत को निगल लिया, उस समय भी वे बचे रहे, यह आख्यान यही स्पष्ट करता है कि देवात्माओं का महाप्रलय भी कुछ नहीं बिगाड़ पाती। अपने शील व परहित हेतु तपस्या के कारण ऋषि मार्कण्डेय भगवान शंकर से वरदान पाकर अजर, अमर हुए भूत-भविष्य और वर्तमान के सभी ज्ञानों के ज्ञाता बने तथा पुराणों का आचार्यत्व भी उन्हें प्राप्त हुआ।

प्रलय का अर्थ है महाविनाश-संहार। खंड प्रलय अनेकों कल्पों में होती रही है। यह भगवान की माया का ही वैभव है मनुष्य को सत्पथ पर लाने के लिए। ऐसी कठिन परिस्थितियों में भी देवात्मा पुरुष जीवित रहते हैं और संहार के बाद सृष्टि प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हैं। भगवान भी विनाश के बाद सृजन चाहते हैं अत: उनकी सहायता करते हैं।

ब्रह्माजी ने प्रलय के समय मानव बीजों की रक्षा की ताकि अपना प्रजापति वाला कर्त्तव्य तदुपरांत निभा सकें व सृष्टि बनी रहे। इसी प्रकार रावण का भगवान के हाथों संहार हुआ, परंतु देवपुरुष विभीषण जीवित रहे तथा वे भी चिरायु माने जाते हैं। महाभारत युद्ध एक विनाशलीला के रूप में संपन्न हुआ जिसमें अधिसंख्य लोग मारे गए, परंतु श्रीकृष्ण समर्पित धर्म परायण पांडवादि जीवित रहे। यह अनादिकाल से चला आ रहा सृष्टि का क्रम है।

वैशम्पायन उवाच

प्रज्ञायुगसमारंभे मंत्रणातिमहत्त्वगा ।
विष्णुनारदयोर्मध्ये जाता मङ्गलदा नृणाम्॥ ४॥
योजना निश्चिता सैका नीतिर्निर्धारिताप्यभूत्।
इत्येव ज्ञातं तत्राग्रे किमभूद् विदितं न हि॥ ५॥
त्रिकालज्ञो भवाँस्तत्र संदर्भे विश्वमङ्गले।
अद्यावधि ह्यभूत्किं च भाव्यग्रे कृपया वद॥ ६॥

टीका—देव जब प्रज्ञायुग का शुभारंभ हो रहा था तब भगवान विष्णु देवर्षि नारद के बीच कुछ गुप्त मंत्रणा हुई थी जो मनुष्यों के लिए मंगलमय थी। एक योजना बनी और एक नीति निर्धारित हुई थी, इतना ही विदित है। उस प्रसंग में आगे क्या हुआ, इसकी कोई जानकारी नहीं मिली। आप त्रिकालज्ञ हैं उस मंगलमय संदर्भ में बताने का अनुग्रह करें कि अब तक क्या हो चुका और आगे क्या होने वाला है?॥ ४-६ ॥

व्याख्या—प्रथम अध्याय में देवर्षि नारद की जिस जिज्ञासा का समाधान भगवान विष्णु ने किया व तदनुसार मानवता के परित्राण हेतु निर्देश दिए थे, उस संबंधी योजना की जानकारी तो त्रिकालज्ञ ऋषियों को थी। परंतु इसे समग्ररूप में किस प्रकार क्रियान्वित किया गया, महर्षि वैशम्पायन अपनी जिज्ञासा इस संदर्भ में प्रकट करते हैं एवं प्रज्ञावतार लीला प्रकरण का विस्तार महाकाल द्वारा योजनाबद्ध रूप से संचालित कार्यपद्धति तथा भविष्य की संभावनाओं के विषय में उनसे अपना मंतव्य बताने का अनुरोध करते हैं। परिस्थिति की समय-समय पर होने वाली समीक्षा का यह एक शाश्वत क्रम है।

देवात्मा स समाकर्ण्य मार्कण्डेयो महामुनिः।
जिज्ञासां, मुमुदेऽत्यर्थं दिव्यां दृष्टिं समाश्रयत्॥ ७॥
तया भूतं भविष्यच्च दृष्टवान् ध्यानपूर्वकम्।
ततो गंभीरमुद्रायां वाण्या संस्कृतयाऽगदत्॥ ८॥

मार्कण्डेय उवाच

काययाऽमर वैशम्पायन तं तु महामुने।
प्रसंगं रोचकं चापि मार्मिकं शृणु ध्यानतः॥ ९॥

टीका—देवात्मा मार्कण्डेय इस जिज्ञासा को सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने अपनी दिव्यदृष्टि को केंद्रित किया और उससे भूत और भविष्य को ध्यानपूर्वक देखा। वर्तमान में क्या हो रहा है यह भी जाना। तदनुसार गंभीर मुद्रा में सुसंस्कृत वाणी से तथ्यों पर प्रकाश डालते हुए बोले, हे काया से अमर महामुने वैशम्पायन वह प्रसंग बड़ा ही रोचक और मार्मिक है, तुम ध्यानपूर्वक सुनो॥ ७-९ ॥

व्याख्या—त्रिकालज्ञ ऋषियों के लिए काल-मंवन्तर कोई अर्थ नहीं रखते हैं। चौदह मन्वंतर बताए गए हैं जो भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों ही कालों में चलते रहते हैं। इन्हीं के द्वारा एक सहस्र चतुर्युगी वाले कल्प के समय की गणना की जाती है।

भगवतेऽर्पितकायः स तदिच्छा चिंतको मुनिः।
कर्त्ता तदनुसारं यो देवर्षिर्नारदः स्वकाम्॥ १०॥
भक्तिप्रसारिकां भूतकालिकीं कार्यपद्धतिम्।
परिवर्तितरूपां स व्यधात्कालज्ञ आप्तवाक्॥ ११॥
युगधर्मानुरूपस्य ज्ञानस्यापि चः कर्मणः।
उत्कृष्टता प्रसारे च विस्तरे निरतोऽभवत्॥ १२॥

टीका—भगवान के लिए समर्पित, उन्हीं की इच्छानुसार सोचने और करने वाले देवर्षि नारद ने अपनी भूतकाल की भक्ति प्रसार वाली कार्यपद्धति बदल दी, चूँकि वह कालज्ञ तथा आप्त हैं। युग धर्म के अनुरूप ज्ञान और कर्म की उत्कृष्टता का प्रसार करने लग गए॥ १०-१२ ॥

महाप्राज्ञस्य संपन्ना पिप्पलादस्य पञ्चमे।

तत्त्वावधाने पूर्वं तु प्रसङ्गाँस्तान् महामुने॥ १३॥
आद्ये प्रज्ञापुराणस्य खंडे पूर्णं न्ययोजयत्।
प्रसङ्गस्यास्य वृत्तान्तं वरिष्ठैर्युगपूरुषैः॥ १४॥
जनं जनं ज्ञापितुं स तत्परोऽभवदेव हि।
नूतना चेतना येन दीप्यते तेषु सा ऽनिशम्॥ १५॥
सृजनस्याथ रूपे हि कर्मचैतन्य एव तत्।
प्रज्ञाभियानं तस्यैव प्रयासस्याङ्गतां गतम्॥ १६॥
दावानल इवाभूत्स प्रचंडो व्यापकस्तथा।
झञ्झावातसमानश्च निरंतरमथाप्यभूत्॥ १७॥

टीका—हे मुने महाप्राज्ञ पिप्पलाद के तत्वावधान में संपन्न हुए प्रज्ञासत्र के पाँचों प्रसंगों को उनने प्रज्ञा पुराण के प्रथम खंड के रूप में सुनियोजित किया और प्रसंग की जानकारी वरिष्ठ युग पुरुषों के माध्यम से जन-जन तक पहुँचाने में जुट गए, जिससे उनमें नई चेतना का स्फुरण प्रारंभ हो गया। सृजन की कर्म चेतना के रूप में प्रज्ञा अभियान भी उसी प्रयास का अंग बना और दावानल की तरह प्रचंड तथा आँधी-तूफान की तरह व्यापक होता चला गया॥ १३-१७॥

व्याख्या—इस प्रकरण में देवात्मा मार्कण्डेय प्रज्ञा सत्रों की जानकारी महर्षि वैशम्पायन को देते हैं और युग परिवर्तन की पृष्ठभूमि प्रज्ञा अभियान का सृजन चेतना का आभास उन्हें दिलाते हैं। वे स्पष्ट करते हैं कि चेतन जगत में घुमड़ रहे परिवर्तन उसी महाप्राज्ञ भगवत् सत्ता के शक्ति प्रवाह के ही अंग हैं जो आने वाले समय में युगांतरीय भूमिका निभाने जा रही है। सूक्ष्म जगत में चलने वाले प्रवाहों की प्रतिक्रिया से सभी परिचित हैं। लोकप्रवाह में जब अवांछनीयता की विषाक्तता भर जाती है तो पतन-पराभव का संकट उठ खड़ा होता है। उनका निराकरण भी सूक्ष्म जगत में ही होता है। उसका तूफानी प्रभाव सारे वातावरण को झकझोर डालता है।

आँधी आती है तो तिनके भी आकाश में उड़ने लगते हैं। सघन वर्षा की बूँद इतनी शक्तिशाली होती हैं कि मकानों तक को गिरा देती हैं। दावानल की तीव्रता समुद्र को भी उबालकर भाप बनने पर विवश कर देती है इसी प्रकार के प्रवाह में तिनकों-पत्तों की तरह अगणित व्यक्ति बहते चले जाते हैं। आँधी का रुख जिधर होता है उधर ही पेड़ों की डालियाँ और पौधों की कमर झुकी दिखाई देती है। इसे प्रवाह का दबाव कह सकते हैं। दूसरी ओर प्रखर व्यक्तित्वों की समष्टि चेतना भी इस प्रकार के वातावरण के निर्माण का कारण बनती है। ओजस्वी, मनस्वी, तपस्वी स्तर की प्रतिभाएँ अपनी प्रचंड ऊर्जा के वातावरण को गरम करती हैं और इस गर्मी से परिस्थितियों के प्रवाह में असाधारण मोड़ आते और परिवर्तन होते हैं।

सृजन की प्रेरणा ऐसे ही प्रयासों को जन्म देती आई हैं। भगवान राम के आह्वान पर देवशक्तियाँ सेतुबंध हेतु नल-नील वानरों के रूप में आईं तो श्रीकृष्ण के साथ मिलकर उन्होंने गोवर्धन उठवाया। बुद्ध ने विवेक धर्म एवं संगठन की शरण लेने हेतु जागृतात्माओं का आह्वान किया और युग की पुकार पर अवांछनीयताओं का विरोध करने भिक्षुओं का विशाल समुदाय उनके साथ हो गया। इसी इतिहास की पुनरावृत्ति अब होने जा रही है। वर्तमान में चल रही गतिविधियाँ उसी समष्टिगत प्रयास का एक अभिन्न अंग है।

जागृतात्मभिराधारे तस्मिन्नाकर्ण्य मंत्रणाम्।
युगस्य, जीवनं येषु श्लथं ते भवबंधनम्॥ १८॥
कुर्वंतो युगधर्मस्य निर्वाहे निरता मुदम्।
एकोदीपोह्यनेकाँस्तान् दीपानज्वालयत्क्षणात्॥ १९॥
ज्वालां गतः स्फुलिंगश्च बीजं वृक्षत्वमाश्रयत्।
प्रभाताह्वानमाकर्ण्य तमिस्त्रानिद्रिता जनाः॥ २०॥
आयच्छमानाश्चाङ्गानि स्थिता उत्थाय चोन्नताः।
प्रयाताः कालिकाह्वानं पूर्णं कर्तुं रताः स्मे ॥ २१॥

टीका—जागृत आत्माओं ने उस आधार पर युग निमंत्रण सुना और जिनमें जीवन था, वह भव बंधनों को शिथिल करते हुए उस युग धर्म के निर्वाह में प्रसन्नता से जुट गए। एक से अनेकों दीप जले, चिंगारी ज्योति ज्वाला बनी। बीज ने वृक्ष का रूप धारण किया और प्रभात का आह्वान सुनकर तमिस्त्रा के कारण उनींदे पड़े लोग भी अँगड़ाई लेते उठे और तनकर खड़े हो गए चले और समय की माँग पूरी करने में जुट गए॥ १८-२१॥

व्याख्या—जब भी महाकाल का आमंत्रण आता है तो वे ही इस पुकार को सुनकर उस पर कुछ कर दिखाने का संकल्प लेते हैं जो अमरतत्व पर छाए संकीर्ण स्वार्थपरता रूपी कषाय-कल्मषों को हटाते हुए स्वयं को उस महत् प्रयोजन के साथ जोड़ देते हैं। भावनात्मक कृपणता ही है जो समय सामने होते हुए भी व्यक्ति को माया के भवबंधनों में भटकने को लाचार कर देती है।

कोटिशः कपिभल्लूक भूमिकां निरवाहयन्।
एकैकशश्चमत्कारान् कुर्वंतो युगपर्ययम्॥ २२॥
कर्तुं ते सफला जाताः वृत्तिः शुद्धा समन्ततः।
वैशम्पायन नैवैतत्सर्वं माया-विनिर्मितम्॥ २३॥

टीका—करोड़ों ने रीछ-वानरों की भूमिका निभाई और एक से एक बड़े चमत्कार उत्पन्न करते हुए युग बदलने की भूमिका निभा सकने में सफल हुए। चारों ओर वातावरण शुद्ध हो गया। हे वैशम्पायन यह सब जादू की तरह नहीं हो गया॥ २२-२३॥

व्याख्या—जिस युगांतकारी परिवर्तन की चर्चा ऋषिवर यहाँ कर रहे हैं वह सामान्य नहीं एक असामान्य पुरुषार्थ है।

सत्प्रयोजन हेतु किए गए आदर्शवादी सहयोगी प्रयासों को हमेशा दैवी सहायता मिलती है पर उसमें भी रीछ वानरों जैसी भूमिका निभानी पड़ती है। इतिहास के महान परिवर्तनों में ऐसे ही अगणित पृष्ठ भरे पड़े हैं जिनसे प्रतीत होता है कि अग्रगामी लोगों की तुलना में अवरोधों की संख्या अधिक थी, उनका पुरुषार्थ कम पड़ता था पर उदार श्रमशीलता एवं साहसिकता ने इस या उस प्रकार ऐसी अनुकूलता बनाई कि परिस्थितियाँ साथ देती चली गईं। चमत्कार अपने आप नहीं होते, संपादित किए जाते हैं। युग परिवर्तन जैसा महान कार्य जब सामने हो तो कृष्ण के बाल गोपालों के सत्याग्रह से मध्यकाल की क्रांतियों तथा गाँधी के सत्याग्रह के उदाहरण देख लेना उचित होगा जिनमें असंख्यों को खपना पड़ा। यही स्रष्टा की सदा-सदा से परिवर्तन की प्रक्रिया रही है। सृजन और ध्वंस दोनों का युग्म साथ चलता है।

प्रयासेऽस्मिन्नसंख्येय - देवमानवपौरुषम्।
प्रचंडमभिनंद्यश्च त्यागः संतोषकारकः॥ २४॥
बलिदानमभूद् यच्च सुकृतं नरजन्मनः।
अनीतेः प्रतिरोधे च संघर्षः सहसोदितः॥ २५॥
अज्ञानोन्मूलनं जातं दूरी कर्तुमभावकान्।
अनेकानेकसृज्यानां प्रवृत्तीनां नियोजनम्॥ २६॥
कार्यान्वयनमप्यत्र प्राचलत्तन्निरंतरम्।
युगचेतनाग्रदूतास्ते प्रज्ञापुत्रस्वरूपिणः॥ २७॥

टीका—इस प्रयास में असंख्यों देवमानवों को प्रचंड पुरुषार्थ और अभिनंदनीय, तुष्टिप्रद, त्याग, बलिदान करना पड़ा, जो मानव जीवन का उत्तम पुण्य है। अनीति के विरुद्ध संघर्ष उभरा, अज्ञान का उन्मूलन किया गया और अभावों को दूर करने के लिए अनेकानेक सृजनात्मक सत्प्रवृत्तियों का नियोजन तथा कार्यान्वयन निरंतर चल पड़ा। युग चेतना के अग्रदूत प्रज्ञा पुत्रों के रूप में प्रकट हुए॥ २४-२७॥

व्याख्या—महाकाल के आमंत्रण पर समष्टि चेतना के वाहक जिस रूप में प्रकट होते हैं उन्हें ही ऋषि ने यहाँ देवमानव अग्रदूत प्रज्ञापुत्र के नाम से संबोधित कर उनके सत्साहस का वर्णन किया है। जिस किसी ने भी प्रज्ञा का विवेक का संदेश सुना, उसने अपना चिंतन और आचरण उसके अनुरूप ढाला। ऐसे में अपने स्वपरिवार तथा हितैषी कहे जाने वाले परिजनों को असंतुष्ट कर ही महामानव उस श्रेय-सौभाग्य को प्राप्त कर सके हैं जिसे स्तुत्य त्याग एवं बलिदान के रूप में जाना जाता है। ऐसे आदर्शवादी संकीर्ण-स्व परायण परामर्श अनुरोधों आग्रहों को विनयपूर्वक अस्वीकार कर देते हैं तथा प्रचलित ढर्रे से अलग हटकर अपनी राह स्वयं बनाते हैं। अपनी इसी अग्रगामी भूमिका के कारण युगों-युगों तक के लिए इतिहास में उनका नाम अमर हो जाता है।

व्रतिनो नवनिर्माण स्वनिर्माणस्य चाभवन्।
युगदेवाङ्घ्रिषु श्रद्धाञ्जलीः सङ्कल्पजा ददुः॥ २८॥
पञ्चमुख्यग्निवेद्यास्ते पुरोऽदुर्देवदक्षिणाः ।
आत्मनिर्मितयेऽगृह्णन् साधनासेवयोस्तथा॥ २९॥
स्वाध्यायस्य व्रतं सर्वे संयमस्यापि तद्दृढम्।
परिवारं स्वं स्वमेवाथ पञ्चशील प्रवृत्तिभिः॥ ३०॥
अभ्यस्तं कर्तुमेवैते निश्चयं मुदिता व्यधुः।
इत्थमात्मविनिर्माणः परिवारविनिर्मितिः ॥ ३१॥
शृंखलाबद्धतो जाता व्यरमन्नो क्षणं क्वचित्।
तेन संस्कारयुक्ता च देवमानवनिर्मितिः ॥ ३२॥

टीका—उन (प्रज्ञापुत्रों) ने आत्मनिर्माण और नव निर्माण के लिए व्रत ग्रहण किए और संकल्पों की श्रद्धांजलियाँ युगदेवता के चरणों पर अर्पित कीं। पंचमुखी अग्निवेदिका के सम्मुख उनने देवदक्षिणा समर्पित की और आत्मनिर्माण के लिए साधना, स्वाध्याय, संयम, सेवा के दृढ़ व्रत लिए और अपने-अपने परिवारों को पंचशील की सत्प्रवृत्तियों से अभ्यस्त करने का प्रसन्नता से निश्चय किया। इस प्रकार आत्मनिर्माण और परिवार निर्माण की शृंखला चल पड़ी जो क्षण भर भी नहीं रुकी और उससे देवमानवों का निर्माण चल पड़ा॥ २८-३२॥

टीका—विश्वनिर्माण व युगांतरीय परिवर्तन की प्रक्रिया आत्म क्षेत्र से आरंभ होती है। आत्मनिर्माण कर सकने वाले पुरुषार्थी ही नवसृजन हेतु व्रतशील हो पाते हैं। भावावेश में कूद पड़ने वाले सामयिक श्रेय भले ही पा लें, स्वयं को धन्य नहीं बना पाते।

हमेशा महामानव अपने तथा अपने परिवार में सत्प्रवृत्तियों का समावेश करके ही अपनी अग्रगामी भूमिका सार्थक करते आए हैं। बिना त्याग किए कुसंस्कारिता से पीछा छुड़ाए आत्मनिर्माण संभव नहीं और इस साधना के बिना देव मानव बनना संभव नहीं। पंचमुखी अग्नि सतत यही प्रेरणा देती चली आई है। व्यक्ति वही अभिनंदनीय है जो सद्गुणों को अपने अंदर समाविष्ट करने के लिए कड़ा संघर्ष करता है और व्रतशील जीवन जीने के लिए कृत संकल्प होता है। अग्नि के समक्ष ली गई ऐसी प्रतिज्ञा को ही देव दक्षिणा नाम दिया गया है।

जाता, प्रखरता तेषां सत्प्रवृत्युदयं व्यधात्।
दुष्प्रवृत्तिक्रमो भग्नस्तासां शेषत्व हेतवे॥ ३३॥
कश्चिन्नावसरो भूय आगमिष्यति निश्चितम्।
अगृह्णन् युगस्रष्टार औदार्यमंशमर्पितुम्।
समयं दातुमेवापि संचिता शक्तिरद्भुता।
दुर्गावतरणं यतु सामर्थ्यमद्भुतं ददौ॥ ३५॥

इमां शक्तिं समाश्रित्य दूरीभूतं महत्तमः।
देवतत्वान्यलं प्रापुर्बलमासुरमत्यगात्॥ ३६॥

टीका—उन (प्रज्ञापुत्रों) की प्रखरता से सत्प्रवृतियाँ बढ़ती चली गईं और अब उन दुष्प्रवृत्तियों के शेष रहने का कोई अवसर नहीं आएगा। युग सृजेताओं ने समयदान, अंशदान की उदारता अपनाई और उस अद्‌भुत सामर्थ्य को जन्म दिया, इस शक्ति के सहारे अंधकार मिटा। देवतत्वों को बल मिला और असुरता निरस्त होती चली गई॥ ३३-३६॥

व्याख्या—प्रज्ञावतार जन-जन में यह चेतना जगा रहा है कि उन्हें अपने जीवन क्रम में आदर्शवादिता को अधिकाधिक मात्रा में धारण करना होगा। उच्चस्तरीय भाव संवेदनाएँ मूर्च्छित अंत:करण में नहीं जन्म लेतीं। प्रज्ञावतार की प्रेरणा व प्रभाव से लोग अपने भीतर नई उमंगे उठती अनुभव कर रहे हैं और मस्तिष्क में उत्कृष्टता के प्रति रुचि उत्पन्न हो रही है। युग परिवर्तन के बीजांकुर प्रखर प्राणवान सुसंस्कारी जाग्रत आत्माओं में सत्प्रवृत्तियों के उफन पड़ने व अवरोध बनी दुष्प्रवृत्तियों के समूल नष्ट होने के रूप में फूट रहे हैं। ऐसे सेनापतियों के तत्पर होने पर ही सैनिक युद्ध मोरचे की ओर बढ़ती हैं। ऐसों की उदारता औरों के लिए प्रेरणा का प्रकाश पुंज बन जाती है।

प्रवृत्ति बदलते ही सब कुछ बदल जाता है। यदि आतंरिक प्रवृत्ति नहीं बदली तो बहिरंग कभी भी नहीं बदल सकता। मूल प्रवृत्ति उभरकर आएगी ही।

सुप्रभातमिदं प्रज्ञा युगस्याभून्महामुने।
जागृतात्मांशदानं तदृषिरक्तमिवाऽभवत्॥ ३७॥
समर्थं संस्कृतेर्नव्यसीतायाः जन्मनः कृते।
सत्प्रवृत्तीरसंख्येया इदं सामर्थ्यमासृजत्॥ ३८॥
पोषयामास ताः सर्वा वर्षा इव सुमंगला।
प्रक्रियैषात्मनिर्माण - युगनिर्माण - संयुता॥ ३९॥
विख्यातिमगमद्देवदक्षिणा नामतो भुवि।
प्रस्तुतं वह्निसाक्षित्वं श्रद्धाञ्जलय एतकाः॥ ४०॥
दातृभ्यः सौभगस्यासन् श्रेयसां कारणानि च।
गरिम्णो मानवस्याभूत् पुनजीर्विनकस्य तु॥ ४१॥
निमित्तं कारणं धन्यं पीयूष - परिपोषणम्।
प्रक्रियैषा दधौ रूपं युगशक्तेः सुशोभना॥ ४२॥
परिवर्तनकस्याभून्निमित्तं कारणं त्वियम्।
वर्तमाने चलत्येतद् भविष्यदुज्ज्वलं मतम्॥ ४३॥

टीका—महामुने यह प्रज्ञायुग का सुप्रभात सिद्ध हुआ। जागृत आत्माओं का अंशदान ऋषि रक्त की तरह संस्कृति की अभिनव सीता को जन्म देने में समर्थ हुआ। इस सामर्थ्य ने अगणित सत्प्रवृत्तियों को सृजा और उन्हें परिपोषण प्रदान किया जो मांगलिक वर्षा के समान सिद्ध हुई। अग्नि की साक्षी प्रस्तुत की गई। ये श्रद्धांजलियाँ दाताओं के लिए श्रेय सौभाग्य की कारण बनीं और मानवी गरिमा के पुनर्जीवन का निमित्त कारण बनीं जो धन्य एवं अमृत पोषण सिद्ध हुआ। इस प्रक्रिया ने युग शक्ति का रूप धारण किया और परिवर्तन का निमित्त कारण बनीं। वर्तमान में यही सब चल रहा है। उज्ज्वल भविष्य सुनिश्चित है॥ ३७-४३॥

व्याख्या—प्रज्ञायुग में जागृतात्माओं ने वही प्रक्रिया अपनाई है जो संघशक्ति उपार्जित करने के लिए असुरता निवारण हेतु ऋषियों द्वारा रक्त अंश रूप में एकत्र कर सीता जन्म की भूमिका तथा रावण संहार हेतु राम भगवान के अवतरण का मूल प्रयोजन बनी थी। यह उदारमना देववृत्ति जब उभरकर आती है उसके सत्परिणाम अपार होते हैं। निष्ठावानों का श्रम सीकर ही शक्ति प्रदाता होता है। विभूतिवानों के पास देने के लिए प्रतिभा, कौशल, साधन सब कुछ हैं पर महत्ता तभी है जब देने की प्रवृत्ति अंदर से उभरे। बूँद-बूँद से मिलकर समुद्र बनता है। आज महाकाल हर जागृतात्मा की परख निष्ठा की कसौटी इसी को मानते हैं किसने अपने को कितना उदार बनाया व सत्प्रवृत्तियों हेतु कितना समर्पण किया।

यत्रार्जुन इवास्त्येव कर्मवीरस्तथा च सः।
सूत्रसंचालकोऽप्यत्र भगवानिव भासते॥ ४४॥
तत्रासाफल्य-हेतुर्न कश्चिदस्ति मनागपि।
प्रसंङ्गेऽस्मिन् महालाभस्तैर्नरैः प्राप्यते भृशम्॥ ४५॥
भगवतः सहगा ये तु भूत्वा तेषां सुमंगले।
युगपर्ययविधौ युक्ता भावुकास्तु निरंतरम्॥ ४६॥

टीका—जहाँ अर्जुन जैसे कर्मवीर और भगवान जैसे सूत्र संचालक हों वहाँ असफलता का कोई कारण नहीं। इस प्रसंग में सबसे अधिक लाभ उन्हें मिलना है जो भगवान के सहचर बनकर उनकी मंगलमय युग परिवर्तन प्रक्रिया कार्यान्वित करने में भावना पूर्वक निरंतर जुटे हुए हैं॥ ४४-४६॥

व्याख्या—अवतार की योजना व सूत्र संचालन इतना सुनियोजित होता है कि उसमें कहीं किसी प्रकार का असमंजस-असफल होने का ऊहापोह मन में नहीं होना चाहिए। भगवान महाकाल के साथ साझेदारी जिस-जिस ने की है वह युगांतरीय परिवर्तनों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाकर अपने जीवन को सार्थक बना सका है। तथ्य यही है कि महानता रूपी अवसर सामने होने पर उससे लाभ लेने एवं प्रभु के सृष्टि के नव सृजन कार्य में सहभागी बनने में व्यक्ति कितना साहस व उदारता दिखाता है।

वस्तुतः महानता आग के समान है, उसके संपर्क में जो भी आता है गरिमायुक्त एवं तद्रूप होता चला जाता है। पृथ्वी का वैभव सूर्य के अनुदान से मिला है। यदि सूर्य का तापमान मात्र तीस डिग्री घट जाए तो समूची धरती चालीस फुट बर्फ

से ढक जाएगी। इसी प्रकार तीस डिग्री तापमान बढ़ जाए तो यहाँ भी बुध ग्रह जैसी भयानक गर्मी तपेगी और वृक्ष वनस्पतियों से लेकर जल, थल और नभचर प्राणियों में से किसी का भी जीवित रह सकना संभव नहीं होगा। इसे पृथ्वी का सौभाग्य ही कहना चाहिए कि एक उपयुक्त स्तर के स्नेह सूत्र में सूर्य के साथ बँधी और आदान-प्रदान का उपयोगी सिलसिला चल पड़ा। मछलियाँ जलराशि के सहयोग बिना अपने बलबूते किस प्रकार जीवित रह सकती हैं? उनकी सरंचना अति महत्त्वपूर्ण होते हुए भी यह संभव नहीं कि अपने पैरों पर खड़ी रह सकें और जलराशि की उपेक्षा करके अपनी सार्थकता सिद्ध कर सकें।

महानता के साथ संपर्क साधना, उसके सहयोग का सुयोग पा लेना भी कई बार अप्रत्याशित सौभाग्य बनकर सामने आता है। यों वैसे अवसर सदा सर्वदा हर किसी के लिए उपलब्ध नहीं रहते।

रामचरित्र के साथ जुड़ जाने पर कितने ही सामान्य स्तर के प्राणियों ने सामान्य क्रियाकलापों के सहारे असामान्य श्रेय पाया। इस तथ्य को सरलतापूर्वक समझा जा सकता है। बंदर स्वभावत: इधर-उधर लकड़ी पत्थर फेंकते रहते हैं, समुद्र पर पुल बनाने में प्राय: इतनी ही कूद-फाँद उन्हें करनी पड़ी होगी, पर उसे सुयोग ही कहना चाहिए कि उतनी छोटी-सी उदार श्रमशीलता को ऐतिहासिक बना दिया और कथावाचक उसकी भावभरी चर्चा करते-करते अघाते नहीं, ऐसे आदर्शवादी सहयोगों की सफलता में कर्त्ताओं का पुरुषार्थ ही नहीं दैवी सहायता भी काम करती है और श्रेय उन अग्रगामी साहसियों के पल्ले बँध जाता है। नल-नील ने समुद्र पर पुल बनाया और पत्थर पानी पर तैरने लगे। इस प्रकार के घटनाक्रम सामान्य स्थिति में देखे नहीं जाते। दैवी प्रयोजनों में दैवी सहायता की असाधारण मात्रा उपलब्ध होती है।

कृष्ण चरित्र पर दृष्टिपात करने से भी यह तथ्य असाधारण रूप से उभरकर आगे आता है। गोपियों का छाछ पिलाना, थोड़ी सी हँसी ठिठोली कर देना, ग्वालबालों का लाठी सहारा जैसे कृत्य ऐसे नहीं हैं जिन्हें दैनिक जीवन में सर्वत्र घटित होते रहने वाले सामान्य उपक्रमों में भिन्न समझा जा सके। इतने पर भी वे सहयोग पुराण उपाख्यानों में बहुत बार दुहराए सराहे जाते रहते हैं, उनमें अनेकों योद्धा लड़ते और हारते-जीतते रहते हैं, पर अर्जुन भीम जैसों को जो श्रेय मिला उनकी गरिमा असामान्य हो गई। अर्जुन भीम वे ही थे, जिन्हें वनवास के समय पेट भरने के लिए और जान बचाने के लिए बहुरूपिए बनकर दिन गुजारने पड़े थे। द्रौपदी को निर्वसन होते आँखों से देखने वाले पांडव यदि वस्तुत: महाभारत जीत सकने जैसी समर्थता के धनी रहे होते तो न तो दुर्योधन, दु:शासन वैसी धृष्टता करते और न पांडव ही उसे सहन कर पाते। कहना न होगा कि पांडवों की विजय श्री में उनकी वह बुद्धिमत्ता ही मूर्द्धन्य मानी जाएगी जिसमें उनने कृष्ण को अपना और अपने को कृष्ण का बनाकर भगवान से घोड़े हकवाने जैसे छोटे काम कराने को विवश कर दिया था। यदि वे वैसा न कर पाते और अपने बलबूते जीवन गुजारते तो स्थिति सर्वथा भिन्न होती और यायावरों की तरह जैसे-तैसे जिंदगी व्यतीत करते।

बुद्ध के साथ जुड़ने का साहस न कर पाते तो हर्षवर्द्धन, अशोक, आनंद, राहुल, कुमारजीव, संघमित्रा, अंबपाली आदि की जीवनचर्या कितनी नगण्य रह गई होती इसका अनुमान लगा सकना किसी के लिए भी कठिन नहीं होना चाहिए। गांधी के साथ यदि विनोबा, राजगोपालाचार्य, नेहरू, पटेल, राजेंद्र बाबू आदि न घुले होते अपना पृथक्-पृथक् वर्चस्व बनाकर चले होते तो वह स्थिति बन नहीं पाती जो बन सकी। नेहरू और लालबहादुर शास्त्री की घनिष्टता प्रसिद्ध है। यदि उस सघनता को ताक पर रख दें और अपने-अपने बलबूते उठने-बैठने की बात सोचें तो फिर परिणाम भी कुछ दूसरे ही स्तर के होने की बात सामने आ खड़ी होगी।

चाणक्य के साथ चंद्रगुप्त, समर्थ के साथ शिवजी, परमहंस के साथ विवेकानंद की सघनता दोनों पक्षों के लिए कितनी संतोषजनक परिणाम प्रस्तुत कर सकी इसे कौन नहीं जानता।

दिनं नहि सुदूरं तत् यत्र काल-विपर्ययः।
चिन्तनं स्याच्चरित्रं च नराणां परिवर्तितम् ॥ ४७॥
उत्कृष्टता सुसंस्कारैः संस्कृतास्ते नरा ध्रुवम्।
विमुखाश्चनिकृष्टत्वात् स्वार्थसंकीर्णताग्लपेत्॥ ४८॥
वर्धिष्यंतेऽञ्जनसावश्यं सहसा सत्प्रवृत्तयः।
उदारसहयोगेन हर्षोल्लासोदयो भवेत् ॥ ४९॥
आगामि दिवसेष्वेवं नापराधा न विग्रहाः।
द्रक्ष्यंते, सीमितेष्वेव साधनेषु प्रसन्नताः॥ ५०॥
तेष्वसीमसुखस्याथ शांतेश्चापि महामुने।
उपलब्धेर्भविष्यंति दृश्यान्यक्षिचराण्यलम् ॥ ५१॥
विषमताविनाशः स्यादेकतोत्पत्तिरेव च ।
समस्ता मानवाः स्थास्यंत्येकराष्ट्रव्रता इव ॥ ५२॥
एकां भाषां वदिष्यंति विश्वधर्मं तथा च ते।
संस्कृतिं मानवीयां च स्वीकरिष्यंति प्रेमतः ॥ ५३॥
द्रक्ष्यंते मानवाः देवरूपिणो जगतीतले।
कोणे-कोणे सुखस्याथ शांतेः स्वर्ग्या वृतिर्भवेत्॥ ५४॥
प्रज्ञायुगो भूतकालाच्छ्रेष्ठः सत्ययुगादपि।
ज्ञास्यते श्रेय आधास्यन् व्रजिष्यति वरिष्ठताम्॥ ५५॥

टीका—वह दिन दूर नहीं जब समय बदला होगा। मनुष्यों के चिंतन चरित्र में भारी हेर-फेर उत्पन्न होगा। वे निकृष्टता से विमुख होकर उत्कृष्टता के ढाँचे में ढलेंगे। संकीर्ण स्वार्थपरता

घटेगी तो सत्प्रवृत्तियाँ अनायास ही बढ़ती चली जाएँगी। उदार सहयोग बढ़ने पर सर्वत्र हर्ष उल्लास छाता ही है। अगले दिनों न कहीं अपराध दृष्टिगोचर होंगे न विग्रह, सीमित साधनों में प्रसन्नता होगी। तथा उन्हीं में असीम सुख-शांति उपलब्ध करने के स्वर्गीय दृश्य सर्वत्र दृष्टिगोचर होने लगेंगे। विषमता मिटेगी और एकता उत्पन्न होगी। समस्त मनुष्य एक राष्ट्र बनाकर रहेंगे, एक भाषा बोलेंगे। विश्व धर्म और मानवी संस्कृति को सभी प्रेमपूर्वक स्वीकार करेंगे। मनुष्य देवता जैसे दीखने लगेंगे और धरती के कोने-कोने में सुख-शांति का स्वर्गीय वातावरण बन जाएगा। प्रज्ञायुग को भूतकाल के सतयुग से भी अधिक श्रेष्ठ समझा जाएगा और इसे ही वरिष्ठता का श्रेय प्राप्त होगा॥ ४७-५५ ॥

व्याख्या—प्रज्ञायुग के भावी स्वरूप पर त्रिकालज्ञ ऋषि अपना पूर्व कथन व्यक्त करते हुए उसे श्रेष्ठता-आदर्शों से भरा युग बताते हैं। आज की घुमड़ती हुई विभीषिका की घटाएँ तथा उन्हीं के साथ चल रही सृजन की गतिविधियों को दृष्टिगत रख अन्यान्य दृष्टा मनीषियों, अतींद्रिय चेतना संपन्न व्यक्तियों ने भी इसी प्रकार के मंतव्य प्रकट किए हैं। यह समय विनाश का नहीं, नव निर्माण का है। बीज अंकुर रूप में जन्म ले चुका है, प्रज्ञावतार का आवेश असंख्यों विश्व वासियों को अपनी प्रेरणा से प्रेरित कर रहा है, उसे देखकर ही भविष्य के प्रति आशा बँधने लगती तथा उल्लास की उमँगें उठने लगती हैं। यह इस बार का ही नहीं, हर बार का प्रसंग है कि संव्याप्त भ्रष्टता-निकृष्टता निवारण हेतु अवतार प्रक्रिया ने सृजन की प्रक्रिया को अपने हाथों संपन्न किया है। वर्तमान में भी जो भावनात्मक प्रवाह चल रहा है उसका उद्‌देश्य एक ही है, हजारों वर्षों की कलंक कालिका को धोकर मानवता के अतीत कालीन उज्ज्वल गौरव की पुनः स्थापना करना।

वैशम्पायन संवादः विष्णुनारदयोस्तु यः।
ततः प्रज्ञापुराणस्य विस्तरस्य तथैव च॥ ५६ ॥
प्रज्ञाभियानकस्यापि विश्वगो विस्तरस्तु यः।
परिचयस्तस्य संक्षिप्तो बोधितोऽयं मयाऽधुना॥ ५७॥
दिव्यदृष्ट्या स्वरूपं च भविष्यत्कालिकं पुनः।
स्पष्टमेव महाभाग करामलकवद् ध्रुवम्॥ ५८ ॥
प्रज्ञावतारलीलेयं प्रखरा प्रोज्ज्वला मता।
निरस्ताः पूर्णतो यत्र भयानकविभीषिकाः॥ ५९ ॥
स्वर्गावतरणं भूमौ यदास्ते परिवर्तनम्।
तुलनस्यैतत्तु द्रक्ष्यंति ये ते स्युरथ विस्मिताः॥ ६० ॥
प्रज्ञायुगः सर्वश्रेष्ठो भविष्यति युगो भुवि।
स्थापका भुवि ये तस्य श्लाघ्याः प्रज्ञासुतास्तु ते॥ ६१ ॥
तेषां भगीरथायास-भूमिकायास्तु वर्णनम्।
उत्साहवर्धकं वंश्याः करिष्यंति युगे युगे॥ ६२ ॥
श्रोतारो युगस्त्रष्टॄणां श्लाघयंतस्तु भाग्यकम्।
हंत तत्राभविष्यामाभवाम भूरिभाग्यकाः॥ ६३ ॥

टीका—हे वैशम्पायन विष्णु नारद संवाद से लेकर प्रज्ञापुराण के विस्तार और प्रज्ञा अभियान के विश्वव्यापी विस्तार का संक्षेप परिचय मैंने कराया है। हे महाभाग दिव्य दृष्टि से भविष्य का स्वरूप भी हाथ में रखे आँवले की तरह स्पष्ट है। पिछले सभी अवतारों की तुलना में प्रज्ञावतार की लीला कहीं अधिक प्रखर प्रोज्ज्वल मानी जाएगी। ऐसी जिसमें भयानक विभीषिकाओं को निरस्त कर दिया गया है। उस स्थान पर स्वर्ग के धरती पर उतारने जैसे परिवर्तन पर जो भी तुलनात्मक दृष्टि डालेंगे, वे आश्चर्यचकित हुए बिना न रहेंगे। प्रज्ञा युग सर्वश्रेष्ठ युग होगा। उसे धरती पर उतारने वाले प्रज्ञापुत्र श्लाघ्य हैं। उनकी भागीरथ जैसी भूमिका का उत्साहवर्द्धक वर्णन अगली पीढ़ियों के लोग युगों-युगों तक करते रहेंगे। सुनने वाले इन युग सृजेताओं के भाग्य की सराहना करते हुए सोचेंगे, काश हम उन दिनों रहे और कार्यरत बने होते तो कितने सौभाग्यवान कहलाते॥ ५६-६३ ॥

व्याख्या—मध्यकाल का इतिहास सबके सामने है। जिस प्रकार वर्तमान युग की गतिविधियाँ चल रही हैं और चारों ओर आस्था संकट के बादल घुमड़ते दिखाई देते हैं, यह भी स्पष्ट परिलक्षित होता है । परिस्थितियाँ ऐसी विकट हैं कि बिना ध्वंश के नवसृजन अब संभव नहीं। प्रातः वेला में सूर्योदय के पूर्व अंधतमिस्त्रा और गहन हो जाती है। ऊषा की लालिमा छाते ही अंधकार मिटने लगता है व प्रातः का संकेत देते पक्षी चहचहाने लगते हैं। यही अवसर अवतार के प्रकटीकरण का है। प्रबुद्ध आत्माएँ अपने अंदर इतना प्रकाश धारण किए रहती हैं कि उपयुक्त अवसर को पहचानें और रीछ-वानर ग्वालों-भिक्षुकों की तरह अवतार के सहयोगी बनें, दैवी निर्देषों के अनुरूप अपनी गतिविधियाँ मोड़ दें। गीताकार कृष्ण अर्जुन को महाभारत में गांडीव उठाने के लिए ललकारते हैं। स्वयं पाँचजन्य बजाकर युद्ध घोषणा करते हैं। यह एक ऐतिहासिक प्रसंग नहीं वरन् हर आत्मवादी को अनिवार्य रूप से अपनाने के लिए प्रस्तुत ईश्वरीय मार्गदर्शन है जो इस महाभारत में मोहग्रस्त हो पीछे रह जाते हैं, वे समय बीत जाने पर पछताते हैं व सोचते हैं कि श्रेय सौभाग्य का समय समीप होते हुए भी हम क्यों नहीं इस अवसर का सदुपयोग कर पाए?

स्वतंत्रता संग्राम में जिन्होंने भावभरी भूमिका निभाई, वे पेंशन पाने, शासन में उच्च पद पाने के श्रेयाधिकारी बने थे। वह समय निकल जाने के उपरांत कोई उस सौभाग्य को पाना चाहे तो यही कहना पड़ेगा कि समय निकल गया। उनींदे

लोग उन दिनों असमंजस की स्थिति में पड़े रहने पर मात्र पश्चाताप ही कर सकते हैं। गाँधी की डाँड़ी यात्रा एवं धरसना के नमक सत्याग्रह का स्मरण सदा ही किया जाता रहेगा। बाद में तो कितनों ने ही नमक बनाया और कारागार भुगता था।

यह विचित्र लीला संदोह हर अवतार के साथ देखने में आया है कि उनके रहते कोई उन्हें पहचान नहीं पाता। अवतार की सृजन प्रक्रिया प्रज्ञाचक्षुओं से ही देखी जा सकती है, चर्म चक्षुओं से नहीं। निवेदिता ने विवेकानंद को पहचाना, व पटेल, नेहरू ने गाँधी को। आनंद, अशोक, हर्षवर्द्धन ने बुद्ध के विचार क्रांति अभियान को पहचाना और समय रहते उसके सहयोगी बने। बाद में जब वे आकर चले गए तो अवसर चूकने वाले ऐसे असंख्यों थे जो उन दिनों भी उनके समकालीन थे पर स्वयं को धन्य न बना पाए।

इन दिनों महाकाल ने आग्रहपूर्वक प्राणवानों को सहयोग देने के लिए बुलाया है। वस्तुतः यह श्रेयाधिकारी बनने का सौभाग्य संदेश भर है। भगवान के काम, समय के उपक्रम एवं दिव्य शक्तियाँ अपनी अदृश्य क्षमता के आधार पर स्वयं ही संपन्न कर लेती हैं। रीछ-वानर रूठ-मटककर बैठ जाते तो भी सीता वापिसी और लंका की दुर्गति निश्चित थी। ऐसे अवसरों का सबसे बड़ा लाभ वे अग्रगामी उठाते हैं जो संकीर्ण स्वार्थपरता को छोड़कर समय की माँग पूरी करने के लिए बिना समय गँवाए अग्रिम मोरचे पर जा खड़े होते हैं। युग संधि की प्रस्तुत प्रभात वेला को ठीक ऐसा ही मुहूर्त समझा जाना चाहिए, जिसमें साहसी, सदाशयी छोटे-छोटे कदम बढ़ाने पर भी अत्यधिक श्रेय संचित कर सकने वाले दूरदर्शियों में गिने जाएँगे।

मार्कण्डेय उवाच

तावती तात श्रोतव्या कथा यस्यां तु चिंतनम्।
मननं संभवेच्चापि समाप्तव्यः प्रसङ्गकः॥ ६४॥
संध्यावंदनहेतोश्च गच्छामो वयमद्य तु।
भविष्यत्यवसरश्चेज्ज्ञानचर्चा भविष्यति ॥ ६५॥

टीका—मार्कण्डेय जी ने वैशम्पायन से कहा तात कथा उतनी ही सुननी चाहिए जिस पर चिंतन-मनन हो सके। आज का प्रसंग समाप्त किया जाए। हम लोग संध्या वंदन के लिए चलें। अवसर हुआ तो भविष्य में फिर ज्ञान चर्चा करेंगे॥ ६४-६५॥

व्याख्या—ज्ञान को पहचानने की प्रक्रिया ही चिंतन-मनन है। ज्ञान की आभा तब वाणी चेहरे पर परलक्षित होती है जब वह रक्त में मिलता है। किसी भी वस्तु को यदि ठीक से आत्मसात करना हो तो उसकी घुटाई जरूरी है। मार्कण्डेय जी ने युगांतरीय चेतना के लीला संदोह प्रकरण की कथा का वैशम्पायन जी के श्रीमुख से श्रवण कर उस पर चिंतन व आगे की संभावित परिवर्तन प्रक्रिया के विषय में मनन की चर्चा कर प्रस्तुत प्रसंग समाप्त करते हैं।

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः श्री मार्कण्डेय-वैशम्पायन ऋषि-संवादे युगांतरीय चेतना लीला संदोह इति प्रकरणो नाम सप्तमोऽध्यायः॥

द्वितीय मंडल

॥ अथ प्रथमोऽध्यायः ॥

देवमानव-समीक्षा प्रकरण

एकदा नैमिषारण्ये ज्ञानसंगम उत्तमः।
मनीषिणां मुनीनां च बभूव परमाद्भुतः॥ १॥
काश्याः पाटलिपुत्रस्य ब्रह्मावर्तस्य तस्य च।
आर्यावर्तस्य सर्वस्य यानि क्षेत्राणि संति तु॥ २॥
कपिलवस्तोर्विशेषेण तेभ्यः सर्वेऽपि संगताः।
प्रज्ञापुरुषसंज्ञास्ते मूर्द्धन्या धन्यजीवनाः॥ ३॥

टीका—एक बार मुनि मनीषियों का एक उत्तम ज्ञान संगम नैमिषारण्य क्षेत्र में हुआ, जो अपने आप में बड़ा अद्भुत था। आर्यावर्त, ब्रह्मावर्त, काशी, कपिलवस्तु, पाटलिपुत्र आदि समीपवर्ती क्षेत्रों के सभी मूर्द्धन्य उत्तम जीवनयापन करने वाले प्रज्ञा पुरुष उसमें एकत्र हुए॥ १-३॥

व्याख्या—ज्ञान संगम इस भूमि की, ऋषि युग की विशेषता रही है। ज्ञान की अनेक धाराएँ हैं। अपने-अपने विषयों के विशेषज्ञ उन्हें समयानुरूप विकसित करते रहते हैं। विकसित धाराओं का उपयोग जनहित के लिए किया जाता है। वह तभी संभव है, जब भिन्न-भिन्न धाराओं में हुए विकास को जन आवश्यकता के अनुरूप मिलाकर जन साधारण तक पहुँचाने योग्य बनाया जाए। प्राचीनकाल में अध्यात्म और इस युग में विज्ञान का विकास इसी ढंग से संभव हुआ हे।

ज्ञान धाराओं का संगम तब संभव हो पाता है, जब उन्हें समझने और अपनाने वाले मूर्द्धन्य श्रेष्ठ व्यक्ति उसमें रुचि लें। जिन्होंने उन्हें विकसित किया, ऐसे प्रज्ञा-पुरुष, और जिन्होंने उन्हें जीवन सिद्ध बनाया, ऐसे उत्तम जीवन जीने वाले अग्रगामी दोनों ही प्रकार के सत्पुरुष इस संगम में एकत्रित हुए हैं।

औषधियाँ बनाई जाती हैं फिर उन्हें निश्चित क्षेत्र में प्रयुक्त किया जाता है। सेना के लिए अस्त्र विकसित किए जाते हैं, कुशल व्यक्तियों द्वारा उनका प्रयोग-परीक्षण किया जाता है। उनके आधार पर विकसित करने वाले तथा प्रयोग करने वाले गंभीर परामर्श करते हैं, संशोधन करते हैं, तब वह संगम बनता है, जिससे व्यापक स्तर पर उन उपलब्धियों को व्यवहार में लाया जा सके।

समागमाः पुराप्येव समये जनबोधकाः।
काले काले भवंति स्म सद्विचाराभिमन्थनैः॥ ४॥
बहुमूल्यानि रत्नानि यथा सागरमंथनैः।
यत्र दिव्यानि सर्वाणि प्रादुर्भूतानि संततम्॥ ५॥
मनीषिणोऽधिगच्छेयुर्मार्गदर्शनमुत्तमम् ।
शोचितुं कर्तुमेवाऽपि सहैवाऽत्र जनाः समे॥ ६॥
लभन्तां समयं मुक्त्यै काठिन्यात्प्रगतेः पथि।
गन्तुं चाऽपि समारोह एतदुद्दिश्य निश्चितः॥ ७॥

टीका—समागम पहले भी समय-समय पर होते रहते थे, ताकि विचार मंथन से समुद्र मंथन की तरह कोई बहुमूल्य रत्न निकले, मनीषियों को अधिक सोचने और करने का सामयिक प्रकाश मिले, साथ ही जन समुदायों को कठिनाई से छूटने और प्रगति पथ पर अग्रसर होने का अवसर उपलब्ध होता रहे। इस बार का समारोह भी इसी प्रयोजन के लिए नियोजित किया गया था॥ ४-७॥

व्याख्या—समुद्र मंथन से विचार मंथन अधिक लोकोपयोगी है। समुद्र मंथन से रत्न एक बार ही निकले थे, पर विचार मंथन से रत्नों की प्राप्ति हर काल में होती रहती है। इसलिए मनीषी लोग विचार मंथन के लिए एकत्र होते रहते हैं। यों विचार मंथन अकेले भी होता है, पर जब कई मनीषी एक साथ बैठकर विचार मंथन करते हैं, तो एक दूसरे के विचारों से उभरने वाली प्रेरणा से, स्फूर्ति से सामान्य की अपेक्षा अनेक गुना लाभ मिलता है।

सभी उपनिषद् दर्शन आदि ऋषियों के विचार मंथन से उपजे रत्न हैं। वे अनंत काल से अगणित व्यक्तियों को लाभ पहुँचाते आ रहे हैं। योग और चिकित्सा के सूत्र भी ऐसे ही विचार मंथन से विकसित हुए हैं। प्राचीनकाल में मंत्रि-परिषदें राज्य की, समाज की विभिन्न समस्याओं के समाधान इसी प्रकार विचार मंथन से निकालती थीं। ऋषिगण भी अपने-अपने आश्रमों आरण्यकों में यह क्रम चलाते थे। जब तक यह परिपाटी चली, तब तक समयानुकूल विचारों, आदर्शों की शोध होती रही, आचरण होते रहे और सामाजिक उत्कर्ष का क्रम सतत चलता रहा।

जिज्ञासानां समाधानहेतोरत्र विशेषतः।
व्यवस्था विहिता प्रातर्नित्यकर्मविनिर्वृतौ॥ ८॥
सत्संगो निश्चितः सर्वैस्तत्र रम्ये तपोवने।
क्रमः सप्ताहपर्यन्तं भविष्यत्यपि निश्चितः॥ ९॥
तद्दिने विधिवत्तस्य शुभारंभो बभूव च।
अभूत्तत्र सभाध्यक्ष आश्वलायन उत्तमः॥ १०॥
सर्वे कुर्वंति प्रश्नान् स्वान् सभाध्यक्षः क्रमादसौ।
उत्तरं दास्यतीत्येवं व्यवस्था तत्र निश्चिता॥ ११॥

टीका—जिज्ञासाओं के समाधान के लिए उस समागम में विशेष व्यवस्था की गई थी। प्रातः नित्य कर्म से निवृत्त होने

पर सत्संग चलाने का निश्चय उस रमणीय तपोवन में हुआ। एक सप्ताह तक यह क्रम चलना था। सो उस दिन उसका विधिवत शुभारंभ हुआ। सत्राध्यक्ष आश्वलायन थे। ऐसी व्यवस्था थी, कि प्रश्न कोई भी कर सकते थे और उत्तर केवल सत्राध्यक्ष ही देते थे॥ ८-११॥

प्रथमे दिवसे तत्र जिज्ञासां प्रस्तुतां व्यधात्।
ऐतरयो महर्षिः स श्रेष्ठ आचारवान् मुनिः॥ १२॥
देव लब्धाः समानास्ताः सुविधा मानवैः समैः।
प्रभुदत्ताः परं तेषु मानवाः केचनात्र तु॥ १३॥
उदरंभरितायां ते संतानोत्पत्तिकेऽथवा ।
सीमिताश्च सदैवात्र तैलयन्त्रवृषा इव॥ १४॥
जीवनं यापयन्त्येवं पशुतुल्यस्थितिं गताः।
ताडिताः पतिताः किं वा जनैः सर्वैस्तिरस्कृताः॥ १५॥
संकटानात्महेतोश्च भावयंति सदैव ते।
पातयंति जनानन्यान् पीडयन्त्यपि संततम्॥ १६॥

टीका—प्रथम दिन की जिज्ञासा प्रस्तुत करते हुए सदाचारी मुनि श्रेष्ठ ऐतरेय ने पूछा हे देव मनुष्य को ईश्वर प्रदत्त सभी सुविधाएँ प्रायः समान मात्रा में उपलब्ध हैं। पर उनमें कुछ तो पेट-प्रजनन भर तक सीमित रहकर कोल्हू के बैल के समान मरते-खपते पशुओं की तरह साँसें पूरी कर लेते हैं। कुछ पतित-तिरस्कृत बनते प्रताड़नाएँ सहते दिन गुजारते हैं। अपने लिए संकट खड़े करते और दूसरों को सदा गिराते-सताते रहते हैं। १२-१६॥

ईदृशा अपि संत्यत्र जना ये स्वयमुन्नताः।
भवन्त्यन्यान् यथाशक्ति सदैवोत्थापयन्त्यपि॥ १७॥
तारयंति स्वयं श्रेयो यशः सम्मानमेव च।
सहयोगं महामर्त्या विंदन्त्येते सुरोपमाः॥ १८॥
असंख्याः प्रेरणां तेभ्यः प्राप्नुवंति तथैव च।
पुरावृत्तकरास्तेषां गाथाः स्वर्णाक्षरेषु च॥ १९॥
लिखन्त्यस्या भिन्नतायाः कारणं किं च विद्यते।
उच्यतां भवता देव विषयेऽस्मिस्तु विस्तरात्॥ २०॥

टीका—किंतु कुछ ऐसे भी होते हैं, जो स्वयं ऊँचे उठते, दूसरों को उठाते, पार करते, श्रेय प्राप्त करते हैं। ऐसे देवोपम महामानवों को यश सम्मान और सहयोग भी मिलता है। असंख्य उनसे प्रेरणाएँ ग्रहण करते हैं। इतिहासकार उनकी गुण-गाथाएँ स्वर्णाक्षरों में लिखते हैं। इस भिन्नता का कारण क्या है? सो समझाकर कहिए॥ १७-२०॥

प्रश्नकर्त्ता ऋषि ने मनुष्य को तीन स्तरों में विभाजित किया है।

(१) वे जो मनुष्य जन्म का भी पशु स्तर तक ही प्रयोग करते हैं। विचार, भावना एवं विशेष क्रिया शक्ति का प्रयोग ही नहीं करते। ढर्रे का जीवन भर जीते हैं।

(२) वे, जो मनुष्य को प्राप्त विशेषताओं के उपयोग के लिए लालायित तो रहते हैं, पर उन्हें उत्थान की जगह पतन की उलटी दिशा में लगा लेते हैं।

(३) तीसरे वे जो मानवीय विशेषताओं का सही ढंग से प्रयोग करने में सफल हो जाते हैं।

प्रश्नकर्त्ता यह जानना चाहते हैं कि एक ही योनि के प्राणी मनुष्य में इतना अंतर कैसे और क्यों हो जाता है?

आश्वलायन उवाच

तात मर्त्याः समानाः वै निर्मित्ताः प्रभुणा समे।
प्रियाः सर्वेऽपि तस्यात्र निर्विशेषं दयानिधे॥ २१॥
सर्वेभ्यो व्यतरत् सोऽत्र समानाः सुविधाः प्रभुः।
मार्गं चिन्वंति मर्त्याश्च स्वेच्छया मार्गमाश्रिताः॥ २२॥
यांति तत्रैव यत्रायं विरामं मार्ग एति च।
उच्यंते स्वार्थिनस्त्वत्र पशवो नररूपिणः॥ २३॥
स्वार्थमेवानुगच्छंति नरास्ते तु प्रतिक्षणम्।
अन्येषां सुखसौविध्ये सहयोगं न कुर्वते॥ २४॥
प्राप्नुवंति यदेवैतद् निगिरंति च पूर्णतः।
कष्टे कस्यापि नोदेति भावना प्रत्यहं च ते॥ २५॥
साहाय्यस्याऽपि नोदेति भावना प्रत्यहं च ते।
अन्विष्यति परत्रेह निजास्ताः सुविधो नराः॥ २६॥
सहानुभूतिमेतेऽपि नाप्नुवंति च कस्यचित्।
जीवंतो नीरसं मृत्योर्दिवसान् पूरयंति ते॥ २७॥

टीका—आश्वालायन बोले हे तात भगवान ने सभी मनुष्य समान बनाए हैं। उस दयानिधि को सभी पुत्र समान रूप से प्यारे हैं। सभी को उसने समान सुविधाएँ तथा परिस्थितियाँ भी प्रदान की हैं। लोग अपनी इच्छानुसार मार्ग चुनते हैं और जहाँ वह मार्ग जाता है, वहाँ जा पहुँचते हैं। स्वार्थ-परायणों को नर पशु कहते हैं। वे अपने काम से काम रखते हैं। दूसरों की सुख-सुविधा में हाथ नहीं बँटाते। जो पाते हैं, निगलते रहते हैं। किसी के दुःख में उन्हें सहानुभूति नहीं उपजती। सहायता करने की इच्छा भी नहीं होती। लोक और परलोक में अपनी ही सुविधाएँ खोजते हैं। ऐसों को किसी की सहानुभूति भी नहीं मिलती। फलतः वे एकाकी नीरस जीवन जीते हुए मौत के दिन पूरे करते हैं॥ २१-२७॥

व्याख्या—दयालु परमपिता प्यार के नाते विकास के अवसर सभी को देता है। विकास के अवसरों का लाभ उठाकर जो व्यक्ति योग्यता बढ़ा लेते हैं, उन्हें वह महत्त्वपूर्ण कार्य योग्यताओं के आधार पर सौंपता है। विकास के अवसर और सौंपे गए कार्य इन दोनों में अंतर न कर पाने से मनुष्य समझता है, कि भगवान किसी को अधिक अवसर देता है, किसी को कम।

मार्गों के लक्ष्य निश्चित हैं, पर मनुष्य चुनते समय मार्ग

के लक्ष्य की अपेक्षा मार्गों की सुविधाओं को रुचि अनुसार चुन लेता है। जो मार्ग पकड़ लिया, उसी के गंतव्य पर पहुँचना पड़ता है, फिर यह चाह महत्त्व नहीं रखती, कि कहाँ पहुँचना चाहते थे।

जो स्वार्थ तक ही सीमित हैं, वे नर पशु हैं। पशु अपने शरीर निर्वाह, अपनी रक्षा और अपने वंश विस्तार से अधिक सोच नहीं पाते। मनुष्य सोचने की क्षमता रखता तो है, पर स्वार्थवश पशुओं की सीमा से आगे बढ़ता नहीं इसलिए नर पशु कहलाता है

स्वार्थी किसी अन्य से सहानुभूति नहीं बरत पाता, इसलिए उसे भी वह नहीं मिलती। वह नीरस एकाकी जीवन जीता है।

येषां प्रवृद्धास्त्वाकांक्षा आतुरा विभवाय ये।
अहंत्वाप्त्यै स्पृहास्त्येषां कुबेर इव चाढ्यताम्॥ २८॥
वृत्रहेव सुसामर्थ्यमधिगन्तुं सदैव तु।
सज्जास्ते जीवितुं नैव सामान्यैरिव नागरैः॥ २९॥
दर्पाहंकारयोर्नैव विना ते तु प्रदर्शनम्।
तृप्तिं नानुभवन्त्येव पुरुषाश्चेद्दृशा द्रुतम्॥ ३०॥
अर्जितुं संपदः स्वस्य वर्चः स्थापयितुं समे।
कुटुंबस्यापि जायन्ते व्यग्रा लोकैषणारताः॥ ३१॥

टीका—जिनकी महत्त्वाकांक्षाएँ अतिशय बढ़ी-चढ़ी हैं, जो बड़प्पन और वैभव बटोरने के लिए आतुर हैं, जिन्हें कुबेर सा धनी, इंद्र सा समर्थ बनने की ललक है, वे औसत नागरिक का सामान्य जीवन जीने और संतोषपूर्वक रहने के लिए तैयार नहीं होते। दर्प और अहंकार प्रदर्शन किए बिना जिन्हें तृप्ति नहीं होती। ऐसे लोग जल्दी ही संपदा बटोरने और अपना तथा परिवार का वर्चस्व बढ़ाने के लिए आतुर हो उठते हैं॥ २८-३१॥

व्याख्या—नर पशुओं से भी गिरे नर पिशाचों की मनोदशा का वर्णन करते हुए यह चित्रण किया गया है। नर पशु सामान्य जीवन की ही कल्पना कर पाते हैं, इसलिए उनके स्वार्थ से सीमित हानियाँ होती हैं, परंतु इसी स्वार्थी श्रेणी के वे लोग जिनकी महत्त्वाकांक्षाएँ बढ़ी-चढ़ी होती हैं, उनकी स्थिति नर पशुओं से भिन्न होती हैं। ऐसे व्यक्तियों की

(१) औसत नागरिक जीवन पसंद नहीं होता।

(२) बड़प्पन धन, वैभव बटोरने के लिए वे उचित ढंग से उचित माध्यमों की प्रतीक्षा नहीं कर पाते, उद्यत हो उठते हैं।

अस्या उत्कटलिप्सायां पूर्त्यै गृह्णंति ते ततः।
कुकर्माचरणं तत्र प्रवृत्तीरासुरीः सदा॥ ३२॥
मार्गमेतद् विना ते च नरा नानुभवंति तु।
वृत्त्या सरलतया स्यातां सात्विकत्वं च सौम्यता॥ ३३॥
श्रमस्तत्र विशेषः स धैर्यवत्ता तथैव च।
अल्पलाभ सुसंतोषवृतिमत्ताऽप्यपेक्षिता ॥ ३४॥
स्वीकुर्वंति न चेदं ते पुरुषा उद्धता इह।
अन्यान् वञ्चयितुं लोकांस्तथा पातयितुं पुनः॥ ३५॥
शोषणं पीडनं नृणां कर्तुं नैव कदाचन।
संकोचं तेऽधिगच्छंति राक्षसाः क्रूरतां गताः॥ ३६॥

टीका—इस उत्कट ललक लिप्सा की पूर्ति के लिए उन्हें कुकर्म करने और अपराधी असुर प्रवृत्तियाँ अपनाने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं रहता। सौम्य सात्विकता तो सादगी के साथ ही निभती है। उसमें अधिक परिश्रमी, धैर्यवान और स्वल्प संतोषी रहना पड़ता है। यह उन उद्धतों को स्वीकार्य नहीं होता। ऐसी दशा में दूसरों को ठगने, चूसने, गिराने और सताने में क्रूरता के धनी को कोई संकोच नहीं होता॥ ३२-३६॥

व्याख्या—उद्धत स्थिति में ऐसे लोग कुकर्म और अपराधी मार्ग ही अपनाते हैं। उचित ढंग अपनाने का धैर्य न होने से वे शोषण की अनीति अपनाते हैं। सौम्यता की संपदा एकत्र नहीं कर पाने से क्रूरता के धनी बन जाते हैं, उसी का उपयोग करते हैं।

असुराः दानवाः ह्येते दैत्याः नूनं नराः समे।
पिशाचानां च वर्गोऽपि गण्यंते स्वार्थसौहृदाः॥ ३७॥
जुगुप्स्यास्ते भयाल्लोभाद्देवमर्त्यैः कदाचन।
अनुनेयाः परं रोषः सर्वेषां हृदि तान् प्रति॥ ३८॥
प्राप्यैवावसरं लोकाः प्रतिशोधं भजंति च।
मित्राण्यपि च शत्रुत्वं भजंते समये सति॥ ३९॥
धिक्तैवैतेषु सर्वत्र वर्षतीह प्रताडनम्।
सहंते ते लभंते च दण्डं राजसमाजयोः॥ ४०॥
नारक्यस्ताडनास्तेभ्यः परलोके सुनिश्चिताः।
अशांतास्ते परान् सर्वानशांतानेव कुर्वते॥ ४१॥

टीका—यह नर पिशाच वर्ग है। इन्हें असुर या दैत्य दानव भी कहते हैं। उन पर घृणा बरसती है। भय या लोभ से ही कोई उनकी चापलूसी भले करे। भीतर ही भीतर सभी को रोष रहता है। दाँव लगते ही लोग प्रतिशोध लेते हैं। मित्र भी अवसर मिलने पर शत्रु जैसा आचरण करते हैं। सर्वत्र उन पर धिक्कार बरसती है। वे आत्म प्रताड़ना सहते हैं। समाज दंड भी भुगतने पड़ते हैं। परलोक में उनके लिए नारकीय प्रताड़नाएँ सुनिश्चित ही हैं। वे सदा अशांत रहते हैं तथा औरों को भी अशांत बनाते हैं॥ ३७-४१॥

व्याख्या—दुष्टों को सहयोग समर्थन भयवश मिलते हैं, भावनावश नहीं। इसीलिए मौका मिलते ही किसी अन्य भय या लोभ के कारण लोग उन्हें हानि पहुँचा देते हैं। उन्हें ऊपर दर्शाए कई रूपों में अपनी दुष्टता का दंड मिलता रहता है।

वर्गस्तृतीयोऽप्यत्रास्ति देवमानवरूपिणाम्।
आकांक्षा लौकिकीन्स्यक्त्वा सामान्यैर्नागरैरिव॥ ४२॥
जीवनं निर्वहन्त्यत्र परिवारं लघुं निजम्।
स्वावलंबिनमित्यर्थं कुर्वतेऽपि च संस्कृतम्॥ ४३॥
संग्रहेच्छां न गृह्णंति दर्पं नैव महत्त्वगम्।
वाञ्छन्त्येवं प्रियां विप्रवृत्तिं स्वीकुर्वतामिह॥ ४४॥

तीसरा वर्ग देवमानवों का है। वे लौकिक महत्त्वाकांक्षाओं को विसर्जित करके औसत नागरिक का निर्वाह स्वीकार करते हैं। परिवार छोटा रखते और उसे स्वावलंबी-सुसंस्कारी बनाते हैं। संग्रह की लालसा नहीं रखते। बड़प्पन का दर्प दिखाने की भी इच्छा नहीं रखते और स्वेच्छा से ब्राह्मण वृत्ति अपना लेते हैं॥ ४२-४४॥

व्याख्या—देव मानव साधारण मनुष्यों में से ही उठकर आते हैं। हर व्यक्ति भगवान की सृष्टा की साकार प्रतिमा है। जब उसे यह बोध नहीं रहता कि वह क्या है व यहाँ क्यों आया है तो प्रभु उसे बोध भी करा देते हैं। मनोकामनाओं के बंधन से छुड़ाकर उसे नर-नारायण बना देते हैं।

नृणां परार्थकार्येषु बाधानैवोपजायते।
निर्वाहः परमार्थश्च सिद्ध्यतः सार्धमेव तु॥ ४५॥
अनुभवंति च प्रत्यक्षमिदं ते देवमानवाः।
गुणकर्मस्वभावानां स्तरं कुर्वंति प्रोन्नतम्॥ ४६॥
क्षणं नैव तु व्यर्थं ते हापयंति सदैव च।
विवेकस्याथ शौर्यस्य दायित्वस्याऽपि मानवाः॥ ४७॥
विश्वास-भावनायाश्च शुभादर्शैः स्वजीवनम्।
ओतं प्रोतं प्रकुर्वंति दिव्यां दृष्टिं श्रयन्ति च॥ ४८॥

टीका—श्रेष्ठ वृत्तियाँ अपना लेने के उपरांत फिर मनुष्य को परमार्थ प्रयोजनों में संलग्न होने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती। निर्वाह और परमार्थ भली प्रकार साथ-साथ निभता रह सकता है, इसे वे प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। अपने गुण, कर्म, स्वभाव का स्तर उठाते हैं। एक क्षण भी निरर्थक नहीं गुजारते। समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी और बहादुरी के आदर्शों से जीवन को ओत-प्रोत करते हैं तथा दिव्य दृष्टि प्राप्त करते हैं॥ ४५-४८॥

व्याख्या—सामान्य व्यक्ति को यह लगता है कि परमार्थ करेंगे, तो निर्वाह में कमी पड़ जाएगी। यह सामान्य वृत्तियों के लिए सही भी हो सकता है। श्रेष्ठ वृत्ति वालों का निर्वाह व्यय बहुत सीमित रह जाता है तथा पुरुषार्थ बहुत बढ़ जाता है। उनका निर्वाह उनके पुरुषार्थ के एक छोटे से अंश से ही पूरा हो जाता है। शेष जो बचता है वह परमार्थ में ही लगाते हैं।

एकनिष्ठ होकर उच्च उद्देश्यों के लिए क्षण-क्षण का उपयोग करने वाले गुणों की दैवी संपदा को सच्ची संपदा समझने वालों को दिव्य दूरदर्शिता अपनानी पड़ती है।

अत्र ते चात्मकल्याणं विश्वकल्याणमेव च।
प्रयोजनं तु पश्यंति सिद्धमेवोभयं नराः॥ ४९॥
हृदि चोत्कृष्टताहेतोः श्रद्धा नित्यं च चिंतने।
प्रज्ञोदेति शुभादर्शपक्षगा मंगलोन्मुखी॥ ५०॥
फलतश्चेदृशा मर्त्या देवतुल्यप्रवृत्तयः।
व्यवहारे स्वके लोकमानसस्य परिष्कृतेः॥ ५१॥
सत्प्रवृत्तिविकासस्य शुभे द्वेऽपि प्रयोजने।
स्वीकुर्वंति च मुख्यत्वाद् वंशराष्ट्राभिपूजिताः॥ ५२॥

टीका—आदर्शवादी जीवनक्रम में वे आत्म कल्याण और विश्व कल्याण के दुहरे प्रयोजन सधते देखते हैं। अंत:करण में उत्कृष्टता के प्रति श्रद्धा चिंतन में आदर्शों की पक्षधर मंगलमयी प्रज्ञा उभरती है। फलतः ऐसी देवोपम प्रवृत्ति के लोग अपने कर्म-व्यवहार में लोकमानस के परिष्कार और सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन के दो प्रयोजनों को प्रमुखता देते हैं और अपने वंश व राष्ट्र में पूजे जाते हैं॥ ४९-५२॥

व्याख्या—सामान्य दृष्टि वाले व्यक्ति परमार्थ परायण जीवन में व्यक्तिगत हानि देखते हैं। आत्मकल्याण की बात भी सोचते हैं तो संसार को मिथ्या कहकर केवल अपने भले की बात को महत्त्व देते हैं। महामानव स्तर के व्यक्ति ऐसा मार्ग पकड़ते हैं, जो आत्म कल्याण और विश्व कल्याण दोनों को एक साथ उपलब्ध कराता है। लोकमानस के परिष्कार के प्रयास से व्यक्ति स्वयं भी परिष्कृत होता रहता है। समाज में सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ाने में उसके अंदर भी वे पनपती हैं। इस प्रकार दोहरा लाभ मिल जाता है।

सञ्चितं ज्ञानमेतेषामभ्यस्तः पुण्यदायकः।
परार्थः सततं कार्यरूपतामधिगच्छतः॥ ५३॥
आत्मसंतोषमेतेऽतः प्राप्नुवंति तथैव तु।
सम्मानं सहयोगं च विपुलं ते भजंत्यपि॥ ५४॥
अनुकंपा च दैवी सा वर्षतीवात्र तेषु तु।
त्रिविधानां सुयोगानां कारणादंतरंगके॥ ५५॥
क्षेत्रे यांति महत्त्वं ते लभंते चोन्नतिं तथा।
संसारे प्रगतेर्मार्गे ते नराः अभियान्त्यलम्॥ ५६॥

टीका—उनका संचित सद्ज्ञान और अभ्यस्त पुण्य परमार्थ निरंतर कार्यान्वित होता रहता है। फलतः वे असीम आत्मसंतोष पाते हैं। लोक सम्मान और सहयोग उन्हें प्रचुर मात्रा में मिलता है। दैवी अनुकंपा निरंतर बरसती है। इन त्रिविध सुयोगों के कारण वे अंतरंग क्षेत्र में महान बनते, ऊँचे उठते और संसार क्षेत्र में प्रगति पथ पर आगे बढ़ते रहते हैं॥ ५३-५६॥

व्याख्या—सामान्य व्यक्ति अपने सद्गुणों को केवल अपने भले के लिए प्रयुक्त करने के मोह में उन्हें रोके रहता है। न वे

प्रयोग में आने पाते हैं, न अपना प्रभाव दिखा पाते हैं। सत्पुरुषों को अपने ज्ञान और पुरुषार्थ को अविरल प्रयुक्त करने का अभ्यास होता है। इसी आधार पर उन्हें ऊपर वर्णित तीन अतिमहत्वपूर्ण विभूतियाँ मिलती रहती हैं। वे अंतरंग और बाह्य जगत दोनों में संतोषजनक प्रगति करते और श्रेय सम्मान पाते हैं।

ईदृशा एव लोकाश्च महामानवसंज्ञकाः।
उच्यंते धन्यतां यांति स्वयं चान्यान्नरानपि॥ ५७॥
संपर्के चागतान् धन्यान् कुर्वते चंदनस्य ते।
द्रुमा अन्यान् सुगंधाश्च यथावृक्षान्निरंतरम्॥ ५८॥
तेषामेव जनानां च कारणात् सकलं स्वयम्।
वातावरणमित्यर्थं जायते गंधवंधुरम्॥ ५९॥
दुःखदग्धा अपीहैते गन्धं धूपइवोत्तमम्।
प्रकाशमपि तन्वंति प्रदीप इव प्रोज्वलम्॥ ६०॥
यस्मिन् काले तथा क्षेत्रे पुरुषाः ईदृशा भुवि।
जायंते तानि सर्वाणि धन्यतां यांति भूतले॥ ६१॥

टीका—इसी प्रकार के व्यक्तियों को महामानव कहते हैं। वे स्वयं धन्य बनते हैं। संपर्क वालों को चंदन वृक्ष की तरह धन्य बनाते हैं। उनके कारण समूचा वातावरण महकने लगता है। जलने पर भी वे धूप की तरह सुगंध और दीप की तरह सुगंध और दीप की तरह प्रकाश फैलाते हैं। जिस समय क्षेत्र में ऐसे लोग जन्मते हैं, वह भी उनकी गतिविधियों के कारण धन्य बन जाता है॥ ५७-६१॥

व्याख्या—महामानव की उपमा सदैव से चंदन वृक्ष से दी जाती रही है। सर्प जैसे दुष्ट प्राणी भी उनके संसर्ग में दुष्टता भूलकर शांति का अनुभव करते हैं। परंतु उनके विष दोषों से सत्पुरुष नितांत अप्रभावित रहते हैं। अपना प्रभाव, सुगंध, आसपास के वृक्षों तथा क्षेत्र पर डालते रहते हैं। कटने, घिसने, पिसने, जलने पर भी सुवास ही देते हैं। सभी उन्हें सम्मान सहित माथे से लगाते हैं, देवताओं पर चढ़ाते हैं। इसीलिए स्वयं धन्य होते हैं, संपर्क के व्यक्ति और क्षेत्र भी धन्य बन जाते हैं।

मुनयो वयमत्रैवं महत्तापथमाश्रिताः।
प्रतीयमानाश्चाभावैर्ग्रस्ताः अपि निरंतरम्॥ ६२॥
सम्मानास्पदमायाता जनानामत एव तु।
मार्ग एषोऽस्ति वै देवमानवानां सुनिश्चितम्॥ ६३॥
कर्तव्यमिदमस्माकं मार्गेऽस्मिन् गंतुमुन्मुखाः।
जनाः सर्वे यथास्युस्ते तथा प्रेर्या निरंतरम्॥ ६४॥
सुखमुत्कर्षजन्यं ते लप्स्यंते वयमप्यलम्।
श्रेयोऽधिकारिणः स्याम बहुमूल्यं यदुच्यते॥ ६५॥

टीका—हे मुनि वर्ग हम सब महानता के पथ पर चले हैं। अभावग्रस्त दीखने पर भी जन-जन के सम्मानास्पद बने हैं। देव जनों का यही मार्ग है। हमारा कर्त्तव्य है कि जन-जन को इसी मार्ग पर चलने की प्रेरणा दें। इससे उन्हें उत्कर्षजन्य सुख मिलेगा और हम श्रेयाधिकारी बनेंगे, जो बहुमूल्य कहा जाता है॥ ६२-६५॥

व्याख्या—महानता के पथ पर चलने वाले अभावग्रस्त जैसे दिखते भर हैं, होते नहीं। उनके पास दैवी संपदा की भारी पूँजी होती है, जिससे चाहें तो लौकिक संपदा भी पैदा की जा सकती है। जन-जन को श्रेष्ठ मार्ग पर चलने की प्रेरणा वे ही दे सकते हैं, जो स्वयं उस मार्ग के नैष्ठिक साधक हों और जनता की श्रद्धा के पात्र भी हों। श्रेष्ठ मार्ग पर चलने वालों को उन्नति का सुख मिलता है और चलाने वाले श्रेय पाते हैं।

महामानवसंज्ञानामुत्पादनमिहोदितम्।
उद्यानं कल्पवृक्षाणां स्थापनं पुण्यदं यथा॥ ६६॥
प्रयासेऽस्मिंश्च प्रत्येकदृष्ट्या स्वस्यापि सम्मतम्।
कल्याणं पुरुषैरन्यैः सहैव विश्वमंगलम्॥ ६७॥
स्वीकृतौ संयमस्याथ संतोषस्यापि ते जनाः।
विप्रवृतौ च सामर्थ्यमवशिष्यत एव यत्॥ ६८॥
सत्प्रवृत्तिविकासे च पुण्ये च परमार्थके।
नियुञ्जते तु ये तेऽत्र साधवः संस्मृता बुधैः॥ ६९॥

टीका—महामानवों का उत्पादन इस विश्व में कल्प वृक्षों के उद्यान के लगाने जैसा पुण्य फलदायक है। उस प्रयास में हर दृष्टि से, हर किसी का साथ ही अपना भी कल्याण है, जिसे विश्वकल्याण कहना अधिक उपयुक्त है। संयम एवं संतोष की ब्राह्मण वृत्ति अपनाने के उपरांत जो सामर्थ्य बचती है उसे सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन में लगाने, पुण्य परमार्थ में नियोजित करने वाले ही साधु कहलाते हैं॥ ६६-६९॥

व्याख्या—महामानवों को कल्पवृक्ष के समान कहा गया है। कल्पवृक्ष के सान्निध्य में हर व्यक्ति कामना पूर्ति का सुख पाता है। महामानवों के प्रयास से ही अभाव दूर होते हैं। इसीलिए महामानव बनाने, बढ़ाने का प्रयास सर्वोपरि परमार्थ है। संयम से बचाना और परमार्थ में लगाना ही साधुता है।

सतामेव च देशोऽयमस्माकं पथिशोभने।
आत्मकल्याणके पादन्यासोऽस्माभिः कृतोऽत्र च॥ ७०॥
द्वितीयश्चरणोऽयं स्याद्देवमानवनिर्मितौ।
संलग्नाः स्याम एवेह सुखं शांतिरनेन च॥ ७१॥
स्यातां पंथाः प्रशस्तः स्यात्प्रगतेरपि संततम्।
समृद्धेश्च नहि न्यूना योगाभ्यासादियं भुवि॥ ७२॥
लोकानां साधनायां च स्वीकृत्योभयथा स्वतः।
प्रयोजनं सुसिद्धं स्यान्निर्बाधं मंगलोन्मुखम्॥ ७३॥

टीका—हमारा देश तो संतों का है ही। आत्म कल्याण के मार्ग पर कदम बढ़ा चुके, अब दूसरा चरण यह उठाना

चाहिए कि संसार में देव मानवों के उत्पादन में जुट पड़ें। इसी से संसार की सुख-शांति बढ़ेगी। प्रगति और समृद्धि का पथ प्रशस्त होगा। लोक साधना किसी भी योगाभ्यास से कम नहीं है। इसे अपनाने पर दुहरा प्रयोजन निर्बाध रूप से सधता है। जिसका प्रवाह मंगलोन्मुख होता है॥ ७०-७३॥

व्याख्या—महानता के मार्ग पर दो चरणों में अग्रसर हुआ जाता है। आत्म कल्याण और जनकल्याण। लोक जीवन को ऊँचा उठाना ही लोक साधना है। इसी में ऊपर कहे दोनों चरण शामिल हैं। लोक साधना से वे सभी लाभ पाए जा सकते हैं, जो किसी उच्चस्तरीय योग साधना से प्राप्त होते हैं।

भारत संतों का देश रहा है, वेश से नहीं, प्रवृत्तियों से। ऋषिगण सारे विश्व में घूमकर जन-जन का मार्गदर्शन करते थे। इसीलिए सारे विश्व में भारत को संतों का देश माना जाता रहा है। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः अपने चरित्रों के प्रभाव से सारे विश्व के मानवों का शिक्षण करते रहने का उद्घोष ऋषियों का ही रहा है।

संत के वेश में तो संत गए ही हैं, व्यापारी एवं शासकों के रूप में भी इस देश से संत ही गए हैं। यदि कहीं अनीति करने वाले राजा मिले, तो उन्हें परास्त करके राज्य पर स्वयं अधिकार नहीं किया, उन्हीं में से किसी सत्पुरुष को राज्य सौंप दिया। श्रीराम ने बालि को मारकर सुग्रीव और रावण को मारकर विभीषण को राज्य दिया।

श्रीकृष्ण ने जीवन भर युक्त किया, पर कहीं की सत्ता नहीं छुई। सत्पात्रों को ही अधिकार सौंपते रहे। परशुराम जी ने भी २१ बार दुष्टों के हाथ से राज्य छीनकर सज्जनों को सौंपा था। स्वयं कुछ नहीं लिया। सभी का प्रयास एक ही रहा है, कि सज्जनों की परिपाटी विश्व स्तर पर बनी रहे।

पुराणानामृषीणां तां दिव्यां साधुपरंपराम्।
महामानवनिर्माणे रताः स्याम स्वयं तथा॥ ७४॥
प्रव्रज्या तीर्थयात्रायामपि तस्य कृते सदा।
अस्मादेव च लोकेषु पशुवृत्तिभ्य एव ते॥ ७५॥
पैशाचिक कुकृत्येभ्यो विरतिः स्यात्पिशाचता।
क्षीणा स्यात्पशुशोधने महामानवतोदयः ॥ ७६॥
तीर्थयात्राऽभिसंबद्धप्रयोजनप्रसंगतः ।
यथा समयमस्माकं गतयो विधयस्तथा ॥ ७७॥
वर्द्धिता अधिकं स्युः सा लक्ष्यप्राप्तिर्यतो भवेत्।
यां विना भूतले सत्ययुगस्य स्यान्न संभवः॥ ७८॥

टीका—हम ऋषियों की महान परंपरा अपनाकर महामानवों के उत्पादन में निरत रहें और उसके लिए प्रव्रज्या की तीर्थ-यात्रा में निरत रहें। इसी से लोगों को पशु-प्रवृत्तियों और पैशाचिक उद्दंडताओं से विरत होने का दबाव पड़ेगा। महामानव बढ़ते हैं, तो पशु सुधरते और पिशाच दबते हैं। तीर्थयात्रा के प्रयोजन में अब हमारी गतिविधियाँ समय को देखते हुए और भी अधिक बढ़ जानी चाहिए, ताकि हम लक्ष्य को प्राप्त कर सकें, क्योंकि बिना पृथ्वी पर सतयुग नहीं आ सकेगा॥ ७४-७८॥

व्याख्या—मानव की पशुता और पैशाचिकता को किसी दबाव या उपदेश से दूर नहीं किया जा सकता। उसे श्रेष्ठता का सशक्त वातावरण ही ठीक करता है और यह महामानवों की संख्या बढ़ने से ही संभव होता है। नरपशु उदाहरण से सुधर जाते हैं, पिशाचों पर दबाव देना पड़ता है, नियंत्रण में रखना पड़ता है। महामानव महामानवों के संपर्क से ही बनते हैं। इसीलिए महामानव तीर्थयात्रा क्रम में सतत संपर्क चलाते रहते हैं।

सत्पुरुषों के सान्निध्य से पशु स्तर के लोग सुधर जाते हैं, पिशाच स्तर वालों को शक्तिपूर्वक दबाना पड़ता है।

भगवान श्रीराम की वनयात्रा प्रारंभ हुई। अविकसित स्तर के आदिवासी जो केवल स्वार्थ में लगे रहते थे, वे सहज उत्साह में ही श्रेष्ठ मार्ग में लग गए। उनका स्वार्थ परायण होने का कारण उचित प्रेरणा-मार्गदर्शन का अभाव भर होता है। सत्पुरुषों के सान्निध्य से उनमें उत्साह जागता है केवट निषाद से लेकर कोल भील तक सज्जनता के आवरण में आ जाते हैं। किंतु मारीच, सुबाहु, ताड़का, खरदूषण आदि को शक्ति प्रयोग से दबाना पड़ता है।

श्रीकृष्ण के सान्निध्य में ग्वाल बालों से लेकर मथुरावासियों तक में सज्जनता का संचार हुआ, परंतु कंस, जरासंध, कौरवों आदि को बलपूर्वक ही दबाना पड़ा। महामानवों के बढ़ने से ही वातावरण बदलता है। जब जिस तरह का परिवर्तन आवश्यक हुआ तब उसी तरह के महामानव पैदा हुए हैं।

जब विदेशी आक्रांता स्वदेश में छा गए तो लगातार महाराणा प्रताप, शिवाजी, छत्रसाल, गुरु गोविंद सिंह, बंदा वैरागी जैसे शौर्य संपन्न सत्पुरुष पैदा हुए।

जनचेतना झंकृत करने के लिए चैतन्य, मीरा, सूर, तुलसी, नानक, दादू आदि की शृंखला उमड़ पड़ी।

भारत स्वतंत्रता के क्रम में तिलक, गोखले, रानाडे, गाँधी, सुभाष, नेहरू, पटेल, राजेंद्र प्रसाद, राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन और आजाद, भगतसिंह, सचीन जैसे सत्पुरुषों का क्रम बना आगे भी यही क्रम चलना है।

सत्पुरुषों के उत्पादन और वातावरण परिष्कार के लिए श्रेष्ठ जनों द्वारा तीर्थयात्रा क्रम ही उपयोगी रहा है।

नारद जी इसी निमित्त सदा चलते रहते थे रुकते नहीं।

बुद्ध के परिब्राजक सतत चलते रहने का संकल्प लेकर ही निकलते थे। दूर देशों तक उन्होंने हाथ में बोधिवृक्ष की

डाल लेकर तीर्थ यात्राएँ कीं।

जगद्‌गुरु शंकराचार्य ने भी भज गोविंदम् की धुन बोलते हुए देश के चारों कोने एक कर दिए थे।

चैतन्य महाप्रभु संकीर्तन से सद्‌भाव जगाते बंगाल से ब्रज तक और फिर द्वारिका तक तीर्थयात्रा क्रम से ही चले।

संत तुलसी दास जी ने तो सत्पुरुषों के समूह को चलता-फिरता तीर्थराज कहा है जो जग जंगम तीरथ राजू उसे सत्पुरुषों के उत्पादन का अमोघ सूत्र माना है।

मज्जन फल पेखिय तत्काला।
काक होंहि पिक, बकहु मराला॥

सत्पुरुषों के सान्निध्य से उस दिव्य तीर्थ में स्नान से कौए जैसी प्रवृत्ति के कठोर व्यक्ति कोयल जैसे मधुर स्वभाव के हो जाते हैं। बगुले जैसे छली हंस जैसे मुक्ता चुनने वाले नीर-क्षीर विवेक संपन्न हो जाते हैं। इसीलिए ऋषिगण तीर्थयात्रा क्रम को अधिक बढ़ाने का संकल्प लेते हैं।

प्रश्नोत्तरेण चानेन तत्रत्यानामभून्महान्।
संतोषस्तु सतां तस्माद् युगधर्मानुरूपतः॥ ७९॥
तीर्थयात्राऽभिसंबद्धां पुण्यां तां च परंपराम्।
सोत्साहं तैर्विधातुं तु निश्चितं समुदायगैः॥ ८०॥
शांतिपाठेन चाऽन्योन्यं वंदनक्रियया समम्।
सत्संगोऽद्यतनस्तत्र समाप्तिं प्रययौ शुभः॥ ८१॥

टीका—इस प्रश्नोत्तर क्रम से सभी उपस्थित संत समुदाय को बड़ा संतोष हुआ। उनने युग धर्म की दृष्टि से तीर्थयात्रा की पुण्य परंपरा को और भी अधिक उत्साह के साथ चलने का निश्चय किया। शांति पाठ और अभिवंदन की प्रक्रिया के साथ आज का संत समागम विसर्जित हो गया॥ ७९-८१॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः
श्री आश्वलायन-ऐतरेय-संवादे देवमानव-समीक्षा इति प्रकरणो नाम
॥ प्रथमोऽध्यायः॥

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

धर्म विवेचन प्रकरण

द्वितीयस्य दिनस्यात्र संगमे मुनयः समे।
मनीषिणो यथाकालं संगता उत्सुका भृशम्॥ १॥
मौद्‌गल्यः प्रश्नकर्त्ताऽभूदृषिरद्यतनो महान्।
प्रपच्छ भगवन् ह्यस्तु महामानवनिर्मितिः॥ २॥
अभिवृद्धिरिह प्रोक्ता महिमाऽस्यास्तथोदिता।
अनिवार्यत्वमेत्रैतत् विषये ज्ञातुमस्ति च॥ ३॥
कान् व्रतान् पालयन् मर्त्यः देवता जायते ध्रुवम्।
महामानव आदेयं तेन किं त्याज्यमत्र च॥ ४॥
विचार्यं किं विधेयं च किं किमेतत्तु विस्तरात्।
उच्यतां येन मर्त्याः स्युर्महामानवतां गताः॥ ५॥
आश्वलायन उवाच
मौद्‌गल्यप्रमुखा मान्या ऋषयः संगतास्त्विह।
सर्वे शृण्वंतु धर्मोऽस्ति केवलं ह्यवलंबनम्॥ ६॥
तथाविधं यदाश्रित्य मानवाः शांतिमाप्नुयुः।
सुखं चापि वसेयुस्ते रक्षिताः सर्वतः स्वतः॥ ७॥

टीका—दूसरे दिन के संत समागम में सभी उत्सुक मुनि-मनीषी यथासमय उपस्थित हुए। आज के प्रश्नकर्त्ता मनीषी मौद्‌गल्य थे। उन्होंने पूछा, हे भगवन् कल महामानवों के उत्पादन अभिवर्द्धन की महिमा और आवश्यकता बताई गई थी। उसे सुनकर यह जानने की उत्सुकता बढ़ी है कि किन व्रतों को अपनाने से मनुष्य देवमानव बनता है। उसे क्या छोड़ना पड़ता है और क्या अपनाना होता है? क्या सोचना और क्या करना पड़ता है? सो विस्तारपूर्वक कहें, जिससे मनुष्य महामानव बन सकें॥ १-५॥

आश्वलायन जी ने कहा, हे मौद्‌गल्य समेत सभी ऋषि वर्ग आप लोग ध्यानपूर्वक सुनें। धर्म ही एक मात्र अवलंबन है, जिसका आश्रय लेकर मनुष्य सुखशांति पाते, सुरक्षित रहते, आगे बढ़ते, और श्रेय पाते हैं॥ ६-७॥

वर्द्धंते चाऽधिगच्छंति श्रेयः सर्वविधं सदा।
धर्मो येषां प्रियः सर्वं जगत् स्निह्यति तेषु च॥ ८॥
बलिष्ठो जायतेप्यात्मा कृपा वर्षति च प्रभोः।
व्यक्तो धर्मस्तु येनामुं त्यजंत्येव जनाः समे॥ ९॥
स्वीकरोति च धर्मं यो नरः स्वागम्यते नरैः।
धर्मं रक्षति यः साक्षाद्रक्षितः स्वयमेव सः॥ १०॥
विकरोति च धर्मं यो विकृतिं याति स स्वयम्।
महत्त्वस्योपलब्धेर्ये नराः संतीच्छुकास्तु ते॥ ११॥
धारणां धर्मजां सर्वे गृह्णन्त्वे तथैव च।
धर्मात्मभिः समं स्वं ते कुर्युश्चाचरणं सदा॥ १२॥

टीका—जिन्हें धर्म प्रिय है वे वृद्धि को प्राप्त करते हैं और सब प्रकार के कल्याण को भी। उन्हें समस्त संसार प्यार

करता है। उनकी आत्मा बलिष्ठ होती है और ईश्वर का अजस्र अनुग्रह उपलब्ध होता है। इसलिए महानता उपलब्ध करने के इच्छुकों को धर्म धारणा अपनानी चाहिए और अपना आचरण धर्मात्माओं जैसा बनाना चाहिए। जिसने धर्म को छोड़ दिया, उसे सब छोड़ देते हैं। जो धर्म को अपनाता है उसे सब अपनाते हैं, जो धर्म की रक्षा करता है, उसकी अपनी रक्षा होती है। जो धर्म को हराने का प्रयास करता है, वह स्वयं हार जाता है॥ ८-१२॥

व्याख्या—धर्म-धारणा ही वह आदर्श है जिसे लक्ष्य मानकर महामानव स्वयं सफलता पाते एवं अनेकों के लिए दिशा धारा छोड़ जाते हैं। यदि स्वयं उदाहरण प्रस्तुत किया गया तो अन्य अनेकों सामान्यजन कैसे प्रेरणा ग्रहण करेंगे? अनुकरणीय कर्तृत्व धर्म के सूत्रों को जीवन में उतारकर ही बन पड़ता है, आचरण को श्रेष्ठ, उत्कृष्ट आदर्शवादिता का पक्षधर बनाना पड़ता है। धर्म का आचरण महामानवों का स्वयं का जीवन तो धन्य बनाती ही है, मेंहदी पीसने वाले के हाथ स्वत: रंग जाने के समान उन्हें तो लाभांवित करता ही है, समाज में सत्प्रवृत्तियों से भरा श्रेष्ठता का वातावरण भी बनता है।

व्याख्या—धर्म-धारणा ही वह आदर्श है जिसे लक्ष्य मानकर महामानव स्वयं सफलता पाते एवं अनेकों के लिए दिशा धारा छोड़ जाते हैं। यदि स्वयं उदाहरण प्रस्तुत किया गया तो अन्य अनेकों सामान्यजन कैसे प्रेरणा ग्रहण करेंगे? अनुकरणीय कर्तृत्व धर्म के सूत्रों को जीवन में उतारकर ही बन पड़ता है, आचरण को श्रेष्ठ, उत्कृष्ट आदर्शवादिता का पक्षधर बनाना पड़ता है। धर्म का आचरण महामानवों का स्वयं का जीवन तो धन्य बनाती ही है, मेंहदी पीसने वाले के हाथ स्वत: रंग जाने के समान उन्हें तो लाभांवित करता ही है, समाज में सत्प्रवृत्तियों से भरा श्रेष्ठता का वातावरण भी बनता है।

धर्म को जो सही अर्थों में समझते हैं, वे अनावश्यक क्रियाकृत्यों परंपरागत मान्यताओं में स्वयं को नहीं उलझाते। धर्म के तत्वदर्शन को जीवन में उतारते हैं। स्वयं को आत्मबल संपन्न बनाकर अन्य अनेकों के लिए प्रेरणा पुंज बनते हैं।

यश्चलेद्धर्ममार्गं च संस्थितोऽप्यत्र भूतले।
स्वर्गस्थैरिव देवैः स श्रेष्ठतां यास्यति स्वयम्॥ १३॥
श्रुत्वा ध्यानेन तत्सर्वं विचार्यापि दृढं ततः।
औत्सुक्यात्पुनरेवायं मौद्गल्यायन आह च॥ १४॥

टीका—जो धर्म मार्ग पर चलेगा, वह इस धरती पर रहते हुए भी स्वर्ग में रहने वाले देवताओं की तरह श्रेष्ठ बनेगा। इस बात को सुनकर तथा विचार कर मौद्गल्य अपनी उत्सुकता प्रकट करते हुए बोले॥ १३-१४॥

मौद्गल्यायन उवाच

धर्माः अनेके संत्यत्र संसारे देव तत्र च।
निर्धारणानि भिन्नानि समेषां निर्णयः कथम्॥ १५॥
कर्त्तव्यश्चैषु किं ग्राह्यं त्याज्यं किं पुरुषेण च।
संदेहेऽस्मिन् मतिस्तेन भ्रमतीव निरंतरम्॥ १६॥

टीका—मौद्गल्यायन ने कहा हे देव संसार में अनेकानेक धर्म हैं। सबके निर्धारणों में भिन्नता है। इनमें से किसे अपनाया जाए, किसे नहीं इसका किस आधार पर निर्णय किया जाए? इस संदेह में हमारी बुद्धि भ्रमित हो रही है॥ १५-१६॥

व्याख्या—अपनी स्वार्थ संकीर्णता और वर्ग विशेष के लिए गढ़ी गई मान्यताओं और परंपराएँ धर्म के यथार्थ रूप को विकृत बना देती हैं और सांप्रदायवाद को जन्म देती हैं। उसे पूर्ण नहीं समझना चाहिए।

आश्वालयन उवाच

एक एव तु धर्मोऽस्ति भद्रा निर्धार्यतामिदम्।
सर्वेभ्यश्च समानः स कर्त्तव्यं व्यक्तिगं च तत्॥ १७॥
सामाजिकं च दायित्वं मंतव्यं पुरुषैरिह।
औत्सुक्यं चिंतनस्यैवं शालीन्यं व्यवहारगम्॥ १८॥
चरित्रादर्शवादित्वं त्रयमेतत्समन्वितम्।
उच्यते धर्म इत्येवमृषिभिर्दिव्यदृष्टिभिः॥ १९॥

टीका—आश्वालयन ने कहा भद्र धर्म एक ही है। वह सब मनुष्यों के लिए एक जैसा है। उसे व्यक्ति गत कर्त्तव्य और सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वाह समझा जाना चाहिए। दिव्य दृष्टि संपन्न ऋषि चिंतन की उत्कृष्टता, चरित्र की आदर्शवादिता और व्यवहार की शालीनता के समन्वय को धर्म कहते हैं॥ १७-१९॥

व्याख्या—धर्म की गरिमा भावना क्षेत्र को दिशा देने के कारण सर्वोपरि मानी गई है। व्यक्तित्व का गठन एवं परिष्कार धर्म के स्वरूप पर निर्भर है। धर्म मात्र एक एवं शाश्वत ही हो सकता है। मानवी अंत:करण में उच्चस्तरीय आस्था जमाना, विचारों में सदाशयता जोड़ना, जिसका लक्ष्य हो, वह सारे विश्ववासियों के लिए सार्वभौम रहेगा। समाजगत अथवा वर्ण जातिगत विभाजनों के अनुरूप बदलेगा नहीं। यह भली भाँति समझ लिया जाना चाहिए कि भावना एवं विचारणा ही व्यक्ति की मौलिक संपदा एवं क्षमता है। इन्हीं का महत्त्व सर्वोच्च है। मानव के उत्थान पतन की भूमिका का सूत्र संचालन यहीं से होता है। यदि क्रिया-प्रक्रिया को नीति निष्ठा युक्त बनाने वाले धर्म का प्रारूप ही बदलने लगे तो नैतिकता समाज से लुप्त हो जाएगी। जहाँ धर्म है, वहीं नीति का, सदाचार का, श्रेष्ठता का निवास है। संप्रदायगत विभाजनों से सामान्य जनों को भ्रमित नहीं होना चाहिए, अपितु धर्म के सार्वभौम शाश्वत स्वरूप को समझने, व्यवहार में उतारने का प्रयास करना

चाहिए।

धर्म का उद्‌देश्य स्वतः पूरा हो जाता है, जब व्यक्ति उदात्त चिंतन अपनाने, संकीर्ण स्वार्थपरता त्यागने एवं विभूतियों को समाज कल्याण हेतु समर्पित करने को उद्यत हो जाता है।

त्रिवेणी संगमं चैनमवगाहंत एव ये।
कायाकल्पमिवात्रैते लाभं विन्दंति मानवाः॥ २०॥
ते मानवशरीरस्था देवा इव सदैव च।
श्रेयः सम्मानमित्यर्थं विंदन्त्यानंदमुत्तमम्॥ २१॥
भूय एव वदाम्येतद् धर्म एक इहोदितः।
समानश्चापि सर्वेभ्यो मनुष्येभ्यः स वर्तते॥ २२॥

टीका—इस त्रिवेणी संगम का अवगाहन करने वाले कायाकल्प जैसा लाभ अर्जित करते हैं। उन्हें मनुष्य शरीर में रहते हुए भी देवताओं जैसा श्रेय, सम्मान और आनंद मिलता है। मैं फिर कहता हूँ कि धर्म अनेक नहीं एक है। वह सभी मनुष्य मात्र के लिए एक जैसा है॥ २०-२२॥

व्याख्या—ऋषि श्रेष्ठ ने उत्कृष्ट चिंतन, आदर्शवादी चरित्र एवं शालीनता युक्त व्यवहार के समन्वय को त्रिवेणी संगम के समान पवित्र मानते हुए धर्म के इस स्वरूप को अपनाने वाले का कायाकल्प होने की व्याख्या यहाँ की है। वास्तविक त्रिवेणी यही है जो हमारे अंतः में विराजती है। मानव में काक होहिं पिक बकहुँ मराला के माध्यम से इसी की महत्ता बताई गई है। धर्म धारणा का जितना अच्छा स्पष्टीकरण इन तीन सूत्रों के माध्यम से होता दिखाई देता है, ऐसा किसी अन्य व्याख्या में दृष्टिगोचर नहीं होता। मनुष्य मात्र एक है, धर्म का स्वरूप शाश्वत है, वह भी एक है। गुण, कर्म, स्वभाव में यदि परिवर्तन न हो तो धर्म संबंधी सारे बाह्य उपकरण, शास्त्र-ग्रंथादि मात्र आडंबर बनकर रह जाते हैं। जो इस तत्वदर्शन को हृदयगंम कर उन पर चलने का प्रयास करते हैं, वे निश्चित ही धर्म परायण कहे जा सकते हैं।

वर्तते शाश्वतो देवविहितः स सनातनः।
सुयोजितः स मर्त्यस्य नूनमत्रांतरात्मनि॥ २३॥
प्रियानुभूतिर्धर्मः स आत्मनो विद्यते तथा।
जगन्मंगलमूलश्च निर्णयः परमात्मनः॥ २४॥
एकः सः स्वयमेवापि पूर्णः एव च विद्यते।
खंडशो भवितुं नैव सोऽर्हतीत्येव चिंत्यताम्॥ २५॥
कालानुसारं क्षेत्राणामनुसारमपीह च।
वर्गानुसारं वा धर्मपारम्पर्यमनेकधा॥ २६॥
दृश्यते यत्र धर्मः स संप्रदायो मतोऽथवा।
पक्ष एव मतः साक्षान्मर्त्यभेदकरोऽशुभः॥ २७॥

टीका—वह शाश्वत, सनातन और ईश्वरकृत है। उसे मनुष्य की अंतरात्मा में सँजोया गया है। वस्तुतः धर्म तो आत्मा की पुकार है, ईश्वर का निर्णय है और विश्व कल्याण का वास्तविक कारण है। वह एक और अपने में समग्र है। उसके खंड नहीं हो सकते हैं यह दृढ़ता से समझ लो। क्षेत्र, समय, वर्ग के आधार पर जो धर्म परंपराएँ चलती हैं वे संप्रदाय कहलाती हैं। मत, पक्ष तो अनेक हैं॥ २३-२७॥

स्वसमाजानिवार्याणि वीक्ष्याभीष्टानि तत्र ते।
मूर्द्धन्याः पुरुषास्तेषामाविर्भावं व्यधुः पृथक्॥ २८॥
कालेन सह चैतेषु परिवर्तनमप्यलम्।
जायते तत्र तत्रैव संप्रदायेषु तद्यतः॥ २९॥
परिष्कारकरामर्त्या महामानवसंज्ञकाः।
उत्पद्यंते प्रकुर्वंति जीर्णोद्धारमिवास्य ते॥ ३०॥
यत्र यत्रानिवार्यः स्याद् वीक्ष्य तेषु च विक्रियाम्।
वस्त्रगेहेष्विवायांति संप्रदायेषु विक्रियाः॥ ३१॥
जीर्णोद्धारश्चलत्येषां स्वच्छताऽपि तथैव च।
समाजस्योपयोगाय तदैवार्हन्ति वस्तुतः॥ ३२॥

टीका—अपने-अपने समाज की आवश्यकता देखते हुए मूर्द्धन्य जनों ने उनका आविर्भाव एवं प्रचलन किया है। समय बदलने के साथ-साथ उनमें हेर-फेर और सुधार परिवर्तन होता रहता है। हर धर्म संप्रदाय में सुधारक उत्पन्न होते रहते हैं, जो जब जहाँ टूट-फूट और विकृति दीखती है, तब उसकी मरम्मत करते रहते हैं। वस्त्रों और मकानों की तरह संप्रदाय में भी विकृतियाँ प्रवेश करती हैं और उनकी सफाई मरम्मत चलती रहती है। तभी वास्तव में ये समाज के उपयोगी हो सकते हैं॥ २८-३२॥

व्याख्या—देव संस्कृति की यह विशेषता रही है कि समय-समय पर मनीषी अवतरित होते रहे हैं, एवं युगानुकूल परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए अपेक्षित सुधार परिवर्तन धर्म दर्शन में करते रहे हैं। वे यह भली प्रकार से जानते हैं कि मूलतत्व दर्शन एक होते हुए भी समय के अनुसार धर्म संप्रदायों के कलेवर में परिवर्तन करना पड़ सकता है। रुका हुआ पानी सड़ता व कीचड़ बनकर दुर्गंध फैलाता है। यदि प्रवाह न बनाया जाए तो विकृतियाँ समाज के वातावरण को दूषित कर सकती हैं। समय-समय पर पुनिरीक्षण एवं तर्क, तथ्य, प्रमाणों के आधार पर विवेचना कर इसीलिए संस्कृति का परिशोधन किया जाता रहा है। यही एक महत्त्वपूर्ण कारण है कि अनेकों मत-मतांतर होते हुए भी देव संस्कृति अब भी एक बनी हुई है। पूर्वाग्रहों की विडंबना से वह सर्वथा मुक्त है।

संप्रदायस्य धर्मस्य भेदोऽस्माभिस्तु पूर्णतः।
ज्ञेय उद्गम एतेषामेक इत्यनुभूयताम्॥ ३३॥
एकस्यैव समुद्रस्य लहर्यस्ताः सुविस्तृताः।
सूर्यस्यैकस्य विद्यंते किरणास्ते समेऽपि च॥ ३४॥
मेघवर्षोदिता नद्यो निर्झरा इव ते समे।
तत्प्रवाहोऽभियात्यत्र जलधेर्दिशि संततम्॥ ३५॥

टीका—हमें संप्रदाय और धर्म का अंतर समझना चाहिए। साथ ही यह भी अनुभव करना चाहिए कि उन सब का उद्‌गम एक है। वे एक ही समुद्र की अनेकानेक आकार-विस्तार वाली लहरें हैं। एक ही सूर्य की अनेक किरणें हैं। मेघ वर्षा की एक ही प्रक्रिया से वे नदी-निर्झरों की तरह जन्मे हैं और उन सबका प्रवाह समुद्र में जा मिलने की दिशा में समान रूप से प्रवाहित हो रहा है॥ ३३-३५॥

व्याख्या—इस तथ्य को न समझने वाले, अपनी-अपनी श्रेष्ठता का दर्प दिखाते हुए झगड़ने रहते हैं, पर सत्य तो कुछ और ही है।

मौद्‌गल्ययायन उवाच

भवतः कृपया ज्ञातं महाप्राज्ञ समैरपि।
अस्माभिर्धर्म आधारो महामानवनिर्मितौ॥ ३६॥
स्पष्टं जातं च धर्मोऽस्ति व्यक्तिकर्तव्यगस्तथा।
समाजोत्तरदायित्वस्थित आदर्शनिर्वहः॥ ३७॥
बोध्यतां लक्षणान्यत्र यान्यादाय तु साधकः।
तत्तद् धर्मादिनिष्ठोऽपि महतां जीवनेऽर्जयेत्॥ ३८॥

टीका—मौद्‌गल्य जी ने कहा, महाप्राज्ञ आपकी कृपा से हमने समझा कि महामानव बनने में धर्म का आधार बनता है। यह भी स्पष्ट हुआ कि धर्म व्यक्तिगत कर्त्तव्यों और सामाजिक उत्तरदायित्वों के आदर्शनिष्ठ निर्वाह को कहते हैं। कृपया यह और स्पष्ट करें, कि वे कौन से लक्षण हैं, जिन्हें किसी भी धर्म संप्रदाय का साधक जीवन में अपनाकर महानता अर्जित कर सकता है॥ ३६-३८॥

आश्वलायन उवाच

लक्षणानि दशैवाऽस्य धर्मस्योक्तानि मूर्धगैः।
युग्मपंञ्चकरूपे च ज्ञातुं शक्या नरैस्तु ते॥ ३९॥
प्रथमे सत्यमेतत्तु विवेकश्चापरे पुनः।
कर्तव्यं संयमस्तत्र तृतीये त्वनुशासनम्॥ ४०॥
व्रतधारणमेतस्मिंश्चतुर्थे च पराक्रमः।
स्नेहसौजन्यमेवापि पञ्चमे सहकारिता॥ ४१॥
परमार्थश्च गणितुं स शक्यः शक्या दशैव च।
प्रहरित्वेन ते मर्त्यगरिम्णो गदितुं भृशम्॥ ४२॥

टीका—आश्वलायन ने कहा, मूर्द्धन्यों ने धर्म के दस प्रधान लक्षण बतलाए हैं। इन्हें पाँच युग्मों में भी जाना जाता है। प्रथम युग्म में आते हैं सत्य और विवेक। द्वितीय में संयम और कर्त्तव्य, तृतीय में अनुशासन और व्रत धारण, चतुर्थ में स्नेह-सौजन्य और पराक्रम तथा पंचम में सहकार और परमार्थ को गिना जा सकता है। इन दसों को मानवी गरिमा के प्रहरी दस दिक्पाल कहा जा सकता है॥ ३९-४२॥

व्याख्या—धर्म की परिभाषा को सत्राध्यक्ष ऋषि श्रेष्ठ आश्वलायन ने यहाँ जिन दस गुणों के रूप में स्पष्ट किया है, वह स्वयं में अद्‌भुत हैं। धर्मधारणा का मर्म समझने वाले सत्य, विवेक, संयम, कर्त्तव्य, अनुशासन, व्रतधारण, स्नेह, सौजन्य, पराक्रम, सहकार एवं परमार्थ जैसे मानवोचित गुणों को ही प्रधानता देते एवं अन्यान्यों को इन्हें अपनाने की प्रेरणा देते हैं। अध्यात्म के नाम पर दुंदुभि बजाने वाले बहुसंख्यक व्यक्ति इस विधा का क, ख, ग भी नहीं जानते एवं मात्र वेश बाह्याडंबर तक स्वयं को सीमित रखकर समयक्षेप तो करते ही हैं अन्य भोले व्यक्तियों के मन में धर्म के प्रति अनास्था जमा देते हैं। समय-समय पर मनीषीगण इसीलिए अवतरित होते रहते हैं ताकि वे जनमानस में संव्याप्त भ्रांतियाँ मिटा सकें एवं उन्हें धर्म के सही तत्वदर्शन का पक्षधर बना सकें।

धर्मस्यैषां दशानां तु लक्षणानां हि विवृतिः।
समन्विते‌ऽथ संक्षेपे वक्तुं पञ्चापि संभवाः॥ ४३॥
योगशास्त्र इमान्येव प्रकारान्तरतो बुधैः।
यमादि नामतस्तत्र प्रोक्तान्यात्मशुभान्यलम्॥ ४४॥
स्वीकृत्येमानि सिद्ध्येत्स संयमस्त्विंद्रियोदितः।
पञ्चानामपि तेषां च प्राणानां सिद्ध्यति स्वयम्।
उपप्राणैः सहैवात्र विद्या पञ्चाग्नि शब्दिता॥ ४५॥

टीका—इन धर्म के दस लक्षणों की व्याख्या संक्षेप में और समंवित रूप में करनी हो, तो उन्हें पाँच युग्म के रूप में भी माना जा सकता है। योगशास्त्र में इन्हीं को प्रकारांतर से पाँच यम और पाँच नियम कहा गया है, जो आत्म कल्याणकारी माने गए हैं। इन्हें अपनाने से पाँच जननेंद्रियों और पाँच कर्मेंद्रियों का संयम सधता है। इन्हें अपनाने के बाद ही पाँच प्राणों, पाँच उपप्राणों की पञ्चाग्नि विद्या संपन्न होती है॥ ४३-४५॥

योगिनश्चैतदाश्रित्य कुर्वतेऽनावृतान् समान्।
पञ्चकोषान् सिद्धयस्ता ऋद्धयश्चैभिरेव तु॥ ४६॥
संगताः संति चैतानि योगान् पंचविधास्तथा।
साधितुं तानि पञ्चैव तपांस्यर्हन्ति च क्रमात्॥ ४७॥

टीका—योगी जन इन्हीं को अपनाकर पाँच कोषों का अनावरण करते हैं। पाँच ऋद्धियाँ और पाँच सिद्धियाँ इन्हीं पाँच गुणों के साथ जुड़ी हैं। यही पाँच योग और पाँच तप साधने की आवश्यकता पूर्ण करते हैं॥ ४६-४७॥

शिवस्याप्यथ रामस्य पञ्चायतनमुत्तमम्।
बोधयंतीदमेते च वराप्ताः पाण्डुपुत्रकाः॥ ४८॥
पञ्चगव्यं पापनाशि पुण्यं पञ्चामृतं तथा।
इमान्येव यतस्ते द्वे चैतेषां पोषके ध्रुवम्॥ ४९॥

टीका—इन्हीं को गीता के पाँच पाण्डव, राम पंचायतन और शिव पंचायतन समझा जा सकता है। पापनाशक पंचगव्य और पुण्य संवर्द्धक पंचामृत भी इन्हीं को मानना चाहिए, क्योंकि वह इनके पोषक हैं॥ ४८-४९॥

पञ्चैव धर्मपुण्यानि जीवने व्यावहारिके।
व्यवहर्त्तुं परः प्रोक्तः पुरुषार्थो मनीषिभिः॥ ५०॥
एतानि पालयंत्यत्र जना ये प्रेरयंत्यपि।
पालितुं साधनान्येव वार्जयंति तथा शुभाम्॥ ५१॥
वातावृतिं विनिर्मान्ति श्रेयो गच्छंति ते जनाः।
लोकेऽथ परलोकेऽपि कृतकृत्या भवन्त्यलम्॥ ५२॥

टीका—इन पाँच धर्म पुण्यों को जीवन में उतारना मनीषियों द्वारा परम पुरुषार्थ माना गया है। जो इन्हें पालते हैं, पालने की प्रेरणा देते हैं, साधन जुटाते और वातावरण बनाते हैं, वे लोक और परलोक में श्रेय पाते तथा हर दृष्टि से कृत-कृत्य हो जाते हैं॥ ५०-५२॥

व्याख्या—जीवन की सार्थकता इसी में है कि कर्त्तव्य धर्म निबाहते हुए बहते निर्झर की तरह जिया जाए। जहाँ तक हो सके, दूसरों के लिए सार्थक एवं स्वयं को आत्मिक प्रगति की दृष्टि से ऊँचा उठाने वाला गरिमा भरा जीवन जीना ही श्रेयस्कर एवं वरणीय है। महापुरुषों का जीवनक्रम इसकी साक्षी देता है कि उन्होंने धर्म के इन दस लक्षणों का परिपालन करके एक समग्र सार्थक जिंदगी जी। वे न केवल स्वयं धन्य हुए, अन्य अनेकों के लिए प्रेरणा के प्रकाश स्तंभ भी बने।

मौद्गल्य उवाच

कृतकृत्या वयं देव ! श्रुत्वा धर्मस्य लक्षणम्।
भवतः मूलभूतं तज्जीवनं सर्वदेहिनाम्॥ ५३॥
प्रत्यक्षे जीवने किंतु धर्मस्यार्थास्तु स्वेच्छया।
प्रयोगाश्च कृताः कैश्चिन्मूलाधारातिदूरगाः॥ ५४॥
स्थितावेवं - विधायां च महत्तोपार्जनादिषु।
धर्मधारोपयोगः स कथमत्र तु संभवेत्॥ ५५॥

टीका—मौदगल्य जी बोले, हे देव अपने धर्म के मूलभूल लक्षण जो प्राणिमात्र का जीवन है, समझकर हम कृतकृत्य हुए हैं, किंतु प्रत्यक्ष जीवन में धर्म के मनमाने अर्थ प्रयोग किए गए हैं जो इन मूल आधारों से बहुत दूर हो गए हैं। ऐसी स्थिति में महानता के उपार्जन में धर्म-धारणा का उपयोग कैसे संभव है? ५३-५५॥

आश्वलायन उवाच

धर्मध्वजनि एवं च समाश्रित्य व्यधुर्बहुम्।
अनाचारमपि स्वार्थधियाऽनर्थानपि व्यधुः॥ ५६॥

टीका—आश्वलायन जी बोले, लोगों ने धर्म की आड़ में अनाचार भी बरते हैं। उसके चित्र-विचित्र अर्थ भी लगाए हैं॥ ५६॥

व्याख्या—मनुष्य का सहज स्वभाव है कि स्वार्थ की पक्षधर ऐसी मान्यता जो उसको लाभ पहुँचाती हो, पुष्टि स्वयं करे, अन्यान्यों से कराएँ ताकि बहुमत उसके पक्ष में हो। ऐसा बहुधा होता तब है, जब सभी उसके जैसे ही चिंतन के व्यक्ति समाज में विद्यमान हों एवं प्रतिकार हेतु आने का किसी में कोई साहस न हो।

ततोऽपि मूले धर्मस्य भेदो नैवोपजायते।
मेघाक्रांतो ग्रहाक्रांतो भवत्येव दिवाकरः॥ ५७॥
तथापि सत्ता नैवास्य तस्मात्स्वल्पं विकंपते।
गंगायां प्रपतंत्यत्र मलिनानि जलान्यपि॥ ५८॥
जलचरादिकजीवानां विष्ठादेरपि जाह्नवी।
पवित्रतां निजां नैव जहात्येषाऽन्यपावनी॥ ५९॥
आरोहंति च कीटास्ते प्रतिमां परमात्मनः।
न्यूनतां गौरवं नैव प्रयात्यस्यास्ततोऽप च॥ ६०॥
धर्मच्छायाश्रिता नूनमनाचाराः सदैव च।
संशोध्याः परमेतेन महत्तायामथापि च॥ ६१॥
उपयोगेऽपि धर्मस्य संदेहः क्रियतां नहि।
महामानवतां यांति धर्मात्मानो नरास्त्विह॥ ६२॥

टीका—तो भी इससे धर्म के मूल स्वरूप में कोई अंतर नहीं आता। सूर्य पर बादल छाते और ग्रहण पड़ते रहते हैं, तो भी उसकी सत्ता स्वल्प मात्र भी विकंपित नहीं होती। गंगा के प्रवाह में अनेकों गंदे स्तोत्रों से जल आकर उसमें मिलता रहता है तथा जलचर आदि जीवधारी भी उसमें गंदगी करते रहते हैं, तो भी उसकी पवित्रता में कोई अंतर नहीं आता, क्योंकि उसमें स्वतः अन्यों को पवित्र करने की शक्ति है। देव-प्रतिमा पर कृमि-कीटक भी चढ़ जाते हैं, पर इससे उनकी गरिमा कम नहीं होती। धर्म की आड़ में चलने वाले अनाचार को सुधारा-बदला जाना चाहिए, पर उसकी महत्ता एवं उपयोगिता के संबंध में कोई संदेह नहीं करना चाहिए। धर्म परायण ही महामानव बनते हैं॥ ५७-६२॥

ग्राह्या धर्मधृतिर्नूनं महामानवतां गतैः।
पराभवति चाधर्मी विपुलं वैभवं तथा॥ ६३॥
पराक्रमश्च नात्यर्थं तिष्ठतीति रिरक्षया।
उच्छलन्नपि नश्येत्स जलबुद्‌बुदतां गतः॥ ६४॥
इन्धनानीव लोकेऽस्मिंज्वलन्त्यपि च तत्क्षणात्।
भस्मतां यांति स्वप्लपेन कालेनैते सदैव च॥ ६५॥

टीका—महामानवों को अनिवार्यतः धर्मधारणा अपनानी होती है। अधर्मी का पराभव होता है। उसका विपुल वैभव और पराक्रम भी उसकी रक्षा में देर तक नहीं टिकता। पानी में उठने वाले बबूले की तरह क्षण भर की उछल-कूद के उपरांत उसका अंत होते देखा जाता है। अधर्मी क्षण भर ईंधन की तरह जलते-उबलते दीखते हैं, पर उनके राख बनकर समाप्त होने में भी विलंब नहीं लगता॥ ६३-६५॥

व्याख्या—अधर्म का स्वरूप विराट प्रलंयकारी दीखता भर है। दीपक की लौ बुझने के पूर्व तेजी से लपक उठती है पर अंततः बुझकर धुआँ ही परिणति बनकर रह जाता है।

अनीति के पक्षधरों आक्रांताओं के पास चाहे कितना ही वैभव क्यों न हो, बल की दृष्टि से वे संपन्न भले ही क्यों न हों, हार उनकी होकर ही रहती है। यह एक अकाट्य-शाश्वत सिद्धांत है एवं इसमें किसी को संशय नहीं होना चाहिए। विभिन्न अवतारों के प्राकट्य के समय अनीति हमेशा चरमसीमा पर रही है परंतु छोटे-छोटे साधनों एवं पुरुषार्थ की दृष्टि से नगण्य से व्यक्तियों को अपना सहायक बनाकर उन्होंने अधर्म की त्रासदी को मिटाया एवं धर्म की स्थापना की है। इससे एक तथ्य स्पष्ट होता है कि अधर्म-अनीति दमन से जूझने के लिए संघ शक्ति के जुटने भर की आवश्यकता है। वह नष्ट तो होगी ही, उसे झुकना पड़ेगा ही पर तब ही जब जन-जन का मन्यु जागे, उनमें चेतना उमगे।

व्यवस्था जगतश्चैषा कर्मणः फलमाश्रिता।
चलत्यत्र तरोर्जन्मप्रौढता मध्यगो महान्॥ ६६॥
कालो विलंबरूपोऽयं व्यत्येत्येवं सुकर्मणाम्।
परिणामस्य प्राप्तौ स विलंबः संभवत्यलम्॥ ६७॥
करका इव वर्षंति दुर्जनाः पीडयंति च।
मर्यादां सकलां धान्यसंपदामिव सर्वदा॥ ६८॥
ते स्वयं नष्टतां यांति द्रवीभूताः परं क्षुपाः।
प्ररोहंति पुनस्ते तु कथञ्चित्समये गते॥ ६९॥
विलम्बं वीक्ष्य गच्छेन्न भ्रमं कर्मफले नरः।
हताशेन न भाव्यं च शुभमार्गानुयायिनः॥ ७०॥

टीका—कर्मफल की सुनिश्चितता के आधार पर ही यह विश्व व्यवस्था चल रही है। वृक्ष को उगने से लेकर प्रौढ़ होने में देर लगती है। सत्कर्मों के सत्परिणाम मिलने में देर हो सकती है। इसी प्रकार दुर्जनों को ओलों की तरह बरसते और मर्यादाओं की फसल नष्ट करते देखा जाता है, पर ओले गलकर स्वयं नष्ट हो जाते हैं परंतु उनके कारण टूटे हुए पौधे कुछ समय बाद फिर नए सिरे से पल्लवित होते देखे गए हैं। कर्मफलों में विलंब लगते देखकर सन्मार्ग में प्रवृत्त किसी को भी न भ्रम में पड़ना चाहिए और न हताश होना चाहिए॥ ६६-७०॥

व्याख्या—बीज को गलकर वृक्ष का रूप लेने की प्रक्रिया समय साध्य है। जो अधीरता बरतते हैं कर्मों का प्रतिफल तुरंत चाहते हैं, उन्हें निराश ही होना पड़ता है। इससे यह नहीं सोचना चाहिए कि दुष्कर्मों की प्रतिक्रिया नहीं होती, जो दूरदर्शी होते हैं, वे कर्मफल व्यवस्था में सच्चे आस्तिकवादी की तरह विश्वास रखते हैं।

धर्मधारणया मर्त्या जायंत उन्नतास्तथा।
महामानवतां तस्मादधिगच्छंति चांततः॥ ७१॥
केवलं धर्मचर्चां ते श्रुत्वाऽधीत्याऽपि वा पुनः।
संतुष्टा नैव जायंते कृतां वा धार्मिकीं क्रियाम्॥ ७२॥
पर्याप्तं न विजानंति परं तत्रानुशासनम्।
विद्यते यद् विगृह्णन्ति तदैवैते स्वतस्तथा॥ ७३॥
नैवालस्यं प्रमादं वा भजंते ते मनागपि।
निर्धारणानि कर्तुं च व्यवहारान्वितानि तु॥ ७४॥
ईदृशा एव मर्त्यास्तु महामानवतामिह।
अञ्जसाऽऽसाद्य सार्थक्यं नयन्त्यत्र स्वजीवनम्॥ ७५॥

टीका—धर्म-धारणा अपनाकर मनुष्य ऊँचे उठते आगे बढ़ते और महामानव कहलाते हैं। वे मात्र धर्मचर्चा सुनने-पढ़ने से संतुष्ट नहीं होते और न धर्मानुष्ठानों के क्रियाकृत्य को ही पर्याप्त मानते हैं, वरन् उसके जुड़े हुए अनुशासन को अपनाते और निर्धारणों को क्रियान्वित करने में आलस्य प्रमाद नहीं बरतते। ऐसे लोग सहज ही महामानव बनने की जीवन सार्थकता उपलब्ध करते हैं॥ ७१-७५॥

निर्मातव्यं जगत्सर्वं महामानवरूपिभिः।
कल्पवृक्षैः सुपूर्णं तन्नन्दनं वनमुत्तमम्॥ ७६॥
साधु विप्रस्तरा देवपुरुषा निर्वहंतु च।
उपार्जनस्य दायित्वमेतन्मर्त्यशुभावहम्॥ ७७॥
एतदर्थं व्यवस्थास्यात्स्वाध्यायस्याथ संततम्।
सत्संगस्य तथा सेवासाधनासंयमादिकाः॥ ७८॥
क्रियान्विता भवन्त्यत्र सत्प्रवृत्तय एव च।
धर्मस्यात्रमहत्त्वं च बोध्यं बोध्याः परेऽपि च॥ ७९॥
परिणतीस्तस्य प्रत्यक्षास्तथ्यतर्कप्रमाणकैः।
शक्याः कर्तुं प्रबुद्धैश्चेन्नराणां हृदयंगमाः॥ ८०॥

टीका—संसार को महामानवों के कल्पवृक्षों से हराभरा नंदन वन बनाया जाना चाहिए। इस उपार्जन का मंगलमय उत्तरदायित्व साधु ब्राह्मण स्तर के देवपुरुषों को उठाते रहना चाहिए। इसके लिए स्वाध्याय और सत्संग की व्यवस्था बनी रहनी चाहिए। साधना, संयम और सेवा की सत्प्रवृत्तियों की नियमित रूप से कार्यान्वित होते रहना चाहिए। धर्म का महत्त्व समझा और समझाया जाना चाहिए। उसके प्रत्यक्ष परिणामों के आधार पर हृदयगंम कराया जा सके, तो उसे सहज ही लोग अपनाने लगेंगे॥ ७६-८०॥

अञ्जसैव तदा धर्ममनुयास्यंति तं जनाः।
धर्मात्मानः स्वमाचारं प्रस्तुन्वंतु नृसम्मुखे॥ ८१॥
उत्तमं चेज्जनाः सर्वेऽप्यनुयास्यंति तं सदा।
आचरंति च यच्छ्रेष्ठाः सामान्या अनुयांति तम्॥ ८२॥

टीका—धर्मात्मा अपना आचरण उदाहरण लोगों के सम्मुख रखें तो लोग उसका अनुकरण करने लगेंगे। प्रतिभाशाली जो करते हैं, उसी का अनुकरण अनुगमन होने लगता है॥ ८१-८२॥

प्रारंभ में थोड़े ही लोगों पर प्रभाव पड़े तो भी हर्ज नहीं। हर व्यक्ति अपनी बात मान ले, यह आवश्यक तो नहीं।

धार्मिका धर्ममाख्यांतु परं तेन सहैव च।
आचरंतोऽपि निष्ठां स्वामादर्शे प्रस्तुवन्तु च॥ ८३॥
आचरंति जना एवं येऽपि ते वस्तुतः समे।
धर्ममुत्तमरीत्याऽत्र सेवंते सत्यसंश्रयाः ॥ ८४॥
लभंते पुण्येमेतेऽत्र जना धर्मप्रचारगम्।
तस्य सेवाविधेश्चापि साधनाया उताऽपि च॥ ८५॥
धर्मस्य चर्चया किञ्चित्सिद्ध्येन्नैव प्रयोजनम्।
वाचालयोपदेशस्य भाररूपतया भुवि ॥ ८६॥

टीका—धर्मप्रेमी, धर्म का बखान विवेचन भी करें, किंतु साथ-साथ उसका आचरण करते हुए आदर्श के प्रति अपनी निष्ठा का प्रमाण परिचय भी प्रस्तुत करें। जो ऐसा करते हैं वे धर्म की सच्ची सेवा करते हैं। धर्म प्रसार की महती सेवा-साधना का पुण्य और श्रेय ऐसों को ही मिलता है। धर्म की चर्चा करने मात्र से किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। वाचलतापूर्ण उपदेश भार रूप ही होते हैं॥ ८३-८६॥

अतीतकालीन इतिहास महान धर्म प्रेमियों, सच्चे धर्म सेवियों से भरा पड़ा है।

कर्मणो वचनस्यात्र भिन्नत्वादुपहास्यताम्।
उपदेष्टा व्रजत्यत्राविश्वासो वर्द्धतेऽपि च॥ ८७॥
महामानवतां यातुं धर्मस्याचरणं तथा।
धर्मविस्तरजं कार्यविधिं चोभयपक्षगम् ॥ ८८॥
श्रुत्वाऽस्य स्वीकृतेर्दिव्यः परामर्शः सुखावहः।
श्रोतॄणां तत्र सोऽभूच्च भविष्यत्समये समैः॥ ८९॥
अत्र कार्यविधौ ध्यानं दातुं चाऽधिकमेव तु।
निश्चितं स्वप्रयासे च क्रमो नव्यः सुयोजितः॥ ९०॥
आरण्यकं स्वकं दिव्यं सर्वे स्थापयितुं तथा।
प्रयोजनमिदं कृत्वा तीर्थयात्राऽभिनिर्गमे ॥ ९१॥
उपक्रमाय सोत्साहं योजना विस्तृता निजे।
चित्ते निर्मातुमारब्धा व्यधुः स्फुरितचेतनाः॥ ९२॥

टीका—वचन और क्रम की भिन्नता रखने पर उपहास होता है, अविश्वास बढ़ता है। महामानव बनने के लिए धर्माचरण और धर्म विस्तार की उभयपक्षीय कार्यविधि अपनाने का परामर्श सभी श्रोता जनों को बहुत सुहाया। उनने भविष्य में इस ओर अधिकाधिक ध्यान देने और प्रयास करने का निश्चय किया। इस संबंध में अब तक के अपने प्रयास में नई तत्परता के समावेश का नया कार्यक्रम बनाया। वे आरण्यक चलाने और तीर्थयात्रा पर इस प्रयोजन के लिए निकलने की उत्साहपूर्वक तैयारी के लिए सुविस्तृत योजनाएँ अपने-अपने मन में बनाने लगे, क्योंकि उनकी चेतना जग गई थी॥ ८७-९२॥

समये च समाप्तेऽयं सत्संगोऽद्यतनस्ततः।
वातावृतौ शुभोत्साहपूर्णायां विधिपूर्वकम्॥ ९३॥
समाप्तस्तेऽन्वभवन् सर्वे महामानवतैव च॥
लब्धव्या पुरुषैरेवं भवेत्स्वर्गः स्वयं धरा॥ ९४॥

टीका—समय समाप्त होने पर आज का सत्संग उत्साह भरे वातावरण में विधिवत समाप्त हो गया। सभी ने अनुभव किया कि महामानव बनना मनुष्य जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है, उसी से पृथ्वी स्वयं स्वर्ग बन जाएगी॥ ९३-९४॥

इति श्रीमत्प्रज्ञापनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,
श्री आश्वलायन-मौद्गल्य ऋषिसंवादे धर्म विवेचन इति प्रकरणो नाम
॥ द्वितीयोऽध्यायः॥

॥ अथ तृतीयोऽध्यायः॥

सत्य-विवेक प्रकरण

दिनं तृतीयमद्याभूत्सत्संगस्य यथाविधि।
यथापूर्वं शुभोत्साहयुक्तवातावृतौ पुनः॥ १॥
गोष्ठ्या अद्यतनायाश्च शुभारंभो ह्यभूदयम्।
आप्तुममृतवर्षां तु उत्सुकाः सर्व एव हि॥ २॥
कौण्डिन्यः प्रश्नकर्ता स पप्रच्छाद्यतनो मुनिः।
पूर्वोक्तानां तु युग्मानां विषये बुद्धिमत्तमः॥ ३॥

टीका—संत समागम का आज तीसरा दिन था। नित्य की भाँति उत्साह भरे वातावरण में आज की ज्ञान गोष्ठी का शुभारंभ फिर हुआ। सभी इस अमृतवर्षा को अधिक अपना लेने के लिए उत्सुक हो रहे थे। आज के प्रश्नकर्त्ता बुद्धिमान कौंडिन्य मुनि के पूर्वोक्त युग्मों के संबंध में पूछा॥ १-३॥

कौण्डिन्य उवाच

संगतिः काऽनयोरत्र देव सत्यविवेकयोः।
तयोर्युग्मेन धर्मस्य पञ्चमस्य कथं शुभा॥ ४॥
क्रियते चरणस्यैषापूर्तिं रेतद् विविच्यताम्।
भवता विस्तराद् येन धर्मरूपं नरो व्रजेत्॥ ५॥

टीका—कौण्डिन्य बोले, हे देव सत्य और विवेक की परस्पर क्या संगति है? उन दोनों का युग्म किस प्रकार धर्म

के पाँच चरणों में से एक की पूर्ति करता है, सो उसका विस्तार पूर्वक विवेचन करें, जिससे धर्म का रूप मनुष्य समझ सकें ॥ ४-५ ॥

व्याख्या—पिछले दिनों महामानवों के विकास के लिए धर्म की आवश्यकता तथा धर्म के ऐसे लक्षण बतलाए गए थे, जो प्रत्येक धर्म-संप्रदाय में समान रूप से विद्यमान हैं। उन्हीं लक्षणों में से प्रथम युग्म का विस्तार करने का आग्रह विचारवान् श्रोताओं की ओर से किया गया।

आश्वलायन उवाच

सत्यस्यार्थस्तु श्रेयोऽस्ति यदाचारे निगूहितम्।
तिष्ठति, भ्रमस्वार्थौ तौ स दुराग्रह एव च ॥ ६ ॥
स्वरूपं नौत्सहंते ते प्रत्यक्षं तस्य निर्गतम्।
भित्वा चावरणं गन्तुं याथार्थ्यं दूरदर्शिनः ॥ ७ ॥
वैपरीत्येन वाप्येतत्सत्यमास्ते तिरोहितम्।
मान्यतानां विभिन्नानां पारंपर्यस्य कारणैः ॥ ८ ॥
भिन्नस्याज्ञानहेतोश्च सत्यं भिन्नं प्रभासते।
अतो विवेकपूर्वं च गहनं परिचीयते ॥ ९ ॥

टीका—आश्वलायन ने कहा, सत्य का अर्थ श्रेय। वह आवरणों से ढका रहता है। भ्रम, स्वार्थ और आग्रह उसका यथार्थ स्वरूप प्रकट नहीं होने देते। दूरदर्शिता से इन आवरणों को वेधकर यथार्थता तक पहुँचने की आवश्यकता पड़ती है। विभिन्न स्तरों की मान्यताओं, परंपराओं के कारण सत्य आवरणों में छिपा होता है। अज्ञान के कारण भी कुछ से कुछ भासता है, इसलिए विवेकपूर्वक गहराई में उतरना पड़ता है ॥ ६-९ ॥

व्याख्या—सत्य का स्वरूप छिपाने वाले तीन आवरण भ्रम, स्वार्थ और आग्रह कहे गए। भ्रम के अंतर्गत जानकारी का अभाव, एकांगी जानकारी, गलतफहमियाँ एवं तत्काल के आकर्षण आदि प्रकरण आते हैं।

स्वार्थ में औचित्य को छोड़कर अपने पराए का भाव, व्यापक हित की जगह सीमित का लाभ, दूसरे की श्रम प्रतिभा जैसी विभूतियों पर अपनी छाप डालना आदि सम्मिलित रहते हैं। इसे संकीर्णता भी कह सकते हैं।

आग्रह के अंतर्गत परंपरावश, अभ्यासवश, भयवश, प्रमादवश, अहंकारवश दूसरे पक्ष को न देखने की प्रवृत्तियाँ आती हैं। इसे दुराग्रह भी कह सकते हैं।

यह सभी सत्य से दूर रखने वाली वृत्तियाँ हैं, अतः विवेक का अभ्यास ही इनको भेदकर सत्य का बोध कराता है।

सत्य प्रत्यक्ष दृश्यमान होते हुए भी मायाजाल में उलझा होने के कारण सामान्यतया प्रकाश में नहीं आ पाता। यह एक विडंबना भी है और विवेकवानों के लिए एक परीक्षा भी।

यह सत्य है, कि भारतीय संस्कृति देव संस्कृति है और हमारा वास्तविक हित उसी के अनुगमन से होगा पर पश्चिमी भौतिकवादी भोगवाद की लहर हमें अधिक उपयोगी दिखाई देती है, यह एक भ्रम है।

यह सत्य है कि हर घर में बेटे भी हैं और बेटियाँ भी। बेटियों के संबंध का प्रश्न आता है, तो लोग बन जाते हैं सिद्धांतवादी। पर जब बेटे का प्रश्न आता है तब दहेज की आकांक्षा करने लगते हैं। सत्य की यह उपेक्षा स्वार्थजन्य है।

यह सत्य है कि परिवार निर्माण में नारी की भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण है, इसलिए उसे योग्यता तथा सम्मान दोनों दिए जाने चाहिए। किंतु परंपरागत आग्रह के कारण उसे मानते हुए भी क्रियान्वित नहीं किया जाता। यह सत्य पर आग्रह का आवरण है।

सत्यभागं वचः सत्यं मन्यते यादृशं श्रुतम्।
दृष्टं वा विद्यते यच्च कर्तव्यं तद्विना छलम् ॥ १० ॥
यथार्थतोऽस्य प्राकट्यं सत्यमत्राभिधीयते।
सीमामिमां समुल्लंघ्य यान्त्यग्रे तत्त्वदर्शिनः ॥ ११ ॥
सत्यं यथार्थतैवेति श्रेयो भावत्वमेव च।
सद्भावभरितश्रेयः साधनायै च कर्म यत् ॥ १२ ॥
कथितं च वचः सत्यं विद्यते तत्परं भवेत्।
बालबोधाय च प्रोक्तमलंकारधियाऽपि वा ॥ १३ ॥

टीका—सत्य वचन को सत्य का एक अंग मानते हैं। जैसा सुना-देखा या किया जाता है, उसे बिना छल किए यथार्थ रूप में प्रकट कर देना सत्य का मोटा स्वरूप है, पर तत्वदशी लोग इस परिधि से आगे जाते हैं कि यथार्थता ही सत्य है। श्रेय भावना सत्य है। सद्भावनापूर्ण श्रेय साधना के लिए किए गए कृत्य और कहे गए वचन भी सत्य हैं। भले ही उन्हें बालबोध के लिए आलंकारिक ढंग से हेर-फेर करके भी कहा गया हो ॥ १०-१३ ॥

व्याख्या—सत्य का मोटा स्वरूप सबकी समझ में सहज ही आ जाता है। सत्य का सूक्ष्म स्वरूप कठिनाई से समझ में आता है। दोनों समझे बिना सत्य अधूरा रह जाता है। तत्वदर्शी सूक्ष्म तत्व को अधिक महत्त्व देते हैं, इसीलिए विवेक पूर्वक सत्य की उस गहराई तक जाने का आग्रह करते हैं।

कहानीकार और कवि के कथन में सत्य कम, कल्पना अधिक होती है। पर वे झूठे नहीं कहलाते। अपनी कल्पना के आधार पर जीवन के उन सत्यों को स्पष्ट कर देते हैं, जिसे वैसे समझना या समझाना कठिन होता है।

श्रेष्ठ चिकित्सक परिस्थितियाँ देखकर रोगी को कभी उसके छोटे असंयम से भी बड़े नुकसान की बात कहकर भयभीत कर देते हैं। कभी कठिन रोगों को भी सामान्य कहकर उनका मनोबल बनाए रखते हैं। यह सब उद्देश्य और सद्भाव को देखते हुए झूठ की सीमा में नहीं आता।

मनोवैज्ञानिक मनोरोगियों के साथ तथा कुशल अभिभावक और शिक्षक बालकों के साथ ढेरों बनावटी शब्द प्रयोग में लाते हैं पर वे सभी श्रेय तत्व के नाते श्रेष्ठ सत्य माने जाते हैं।

संबद्धताऽनयोरस्ति मुने सत्यविवेकयोः ।
परस्परं भवेदेको यत्र तत्रैव चापरः॥ १४॥
विवेकेनैव सत्यस्य स्वरूपं ज्ञायते तथा।
तदाश्रित्यैव सत्यस्य प्राप्त्यै च प्रक्रमेन्नरः॥ १५॥
ग्रस्तः पूर्वाग्रहैर्मर्त्यो भवत्येव स्वभावतः।
पारंपर्यस्य वंशस्य वातावरणकस्य च॥ १६॥
संस्काराणां च हेतोस्ता मान्यतास्तस्य व्यक्तिगाः।
स्वभावं यांति ता एव सर्वस्वं मन्यते च सः॥ १७॥

टीका—सत्य और विवेक परस्पर जुड़े हुए हैं। जहाँ एक होगा वहाँ दूसरा भी रहेगा। विवेक से सत्य का स्वरूप समझा और उसके सहारे सत्य की प्राप्ति के लिए आगे बढ़ा जाता है। मनुष्य स्वभाव से ही पूर्वाग्रहों से ग्रसित होता है। वंश परंपरा, वातावरण और संचित कुसंस्कारों के कारण उसकी कुछ अपनी मान्यताएँ और आदतें बन जाती हैं। वह उन्हीं को सब कुछ मान लेता है॥ १४-१७॥

व्याख्या—सत्य और विवेक एक सिक्के के दो पहलू हैं और एक गाड़ी के दो पहियों की तरह हैं। सत्य के लिए विवेक का सहारा चाहिए तथा विवेक की सार्थकता सत्य तक पहुँचने में ही है। मनुष्य में पूर्वाग्रह के तीन कारण बतलाए गए हैं।

(१) वंश परंपरा के आधार पर कुछ मान्यताएँ बन जाती हैं। जातिगत छोटे-बड़े की मान्यता वंश परंपरा के आधार पर है। अपने से भिन्न वंश के श्रेष्ठ गुण वालों को भी अपने से हीन सिद्ध करने का मन इसी आधार पर होता है। अनेक अलन-चलन कुरीतियाँ यह सब वंश परंपरा पर आधारित हैं।

(२) वातावरण जन्य पूर्वाग्रह भी सत्य से दूर रखे रहते हैं। जो सुख में पले हैं, वे किसी दु:खी या भूखे की मजबूरी नहीं समझ पाते। दरिद्रता में पले व्यक्ति संपन्नों के उत्तरदायित्वों के बारे में कोई सद्भाव नहीं रखते। भीड़ में सामूहिक लहर उठती है, तो समझदार भी तोड़-फोड़ करने लगते हैं। उस माहौल के बाहर आते ही विचार काम करने लगता है।

(३) संचित संस्कार-अभ्यास। यह बिल्कुल व्यक्तिगत आग्रह होता है। जिसे व्यंग्य करने का अभ्यास है, उसे यह नहीं समझ पड़ता, कि लोग अकारण बुरा क्यों मान जाते हैं। खरचीले हाथ वाला मितव्ययिता के लाभ नहीं समझना चाहता और कंजूस उदारता से बचकर रहना चाहता है। आलसी श्रम की महत्ता को, क्रोधी शालीन व्यवहार को, आवारा समय के महत्त्व को झुठलाते ही रहना चाहते हैं, इस स्तर के सभी अभ्यासगत पूर्वाग्रह किसी न किसी सत्य को नजरंदाज करते रहते हैं।

प्रतिपादनमन्येषां तथा तेऽनुभवा अपि।
अयोग्या हि प्रतीयंते तेन चाग्रहिणो नराः॥ १८॥
सत्यं स्वमान्यतां यावन्मन्यते सीमितं परम्।
अपेक्ष्याऽन्योक्तिव्याख्यैव ज्ञातुं रूपं च तस्य तु॥ १९॥
विवेकिनो भवन्त्येव न्यायाधीशा इव स्वतः।
निष्पक्षा आग्रहैर्हीना औचित्या श्रयिणोऽभयाः॥ २०॥
स्वीकारे च त्रुटेः स्वस्या संकोचं नाश्रयंति ते।
नाग्रहश्च समग्रस्य स्वस्य तेषां मतस्य च॥ २१॥

टीका—ऐसे व्यक्ति को दूसरों के प्रतिपादन और अनुभव गलत प्रतीत होते हैं। ऐसी दशा में आग्रही मनुष्य अपनी ही मान्यता तक सत्य को सीमित मानता है। जबकि उसका समग्र स्वरूप जानने के लिए अन्यान्य कथनों पर विचार किए जाने की आवश्यकता है। विवेकशील न्यायधीश की तरह निष्पक्ष होते हैं, आग्रही नहीं होते। जहाँ जितना औचित्य परिलक्षित होता है, उसे बिना संकोच के स्वीकार करते हैं। ऐसे लोगों को न भूल मानने में संकोच होता है और न अपने मत के समग्र होने का ही आग्रह होता है॥ १८-२१॥

व्याख्या—मानवी अचेतन कुछ इस प्रकार ढला हुआ है कि अपने मत के पक्ष में वह अनेकों प्रमाण जुटा लेता है एवं दूसरों के सही प्रतीत हो रहे मंतव्यों को भी सहज स्वीकारता नहीं। किसी भी तथ्य को समझने के लिए उसके हर पहलू पर विचार किया जाना चाहिए। एकांगी चिंतन तो संकीर्ण बुद्धि की तरह है। कुएँ में बैठे मेंढक को अपने चारों ओर की दुनिया ही सब कुछ लगती है। ऐसे कूपमंडूक मनुष्यों में भी विद्यमान होते हैं, जो अपने इक्कड़पन सोचने की पूर्वाग्रहयुक्त आदत के कारण अन्यान्य व्यक्तियों के मतों को हँसी में उड़ा देते हैं, भले ही प्रकारांतर से वह उनके हित में ही क्यों न जाती हो। जो समझदार होते हैं, वे इतने विनम्र होते हैं कि गलती बताई जाने पर भी क्षुब्ध नहीं होते, अपितु ऐसों के प्रति कृतज्ञता ही जताते हैं। सर्वांगपूर्ण प्रगति का रहस्य ही यही है कि अपने को पूरी तरह खाली रखा जाए, पक्ष एवं विपक्ष दोनों मतों को सुनने समझने का विवेक विकसित किया जाए।

व्यक्ति को पता नहीं रहता कि वह स्वयं किन-किन पूर्वाग्रहों के प्रभाव में है। इसलिए सत्य शोध करने के इच्छुक को विभिन्न पक्षों से विचार करने वाले विचारकों के मतों को भी अध्ययन करने और संतुलित निष्कर्ष निकालने का अभ्यास करना चाहिए। विवेक इसी प्रकार तीव्र होता है। न्यायाधीश का न्याय और विज्ञान की प्रगति इसी आधार पर संभव हुई है। इसीलिए सत्पुरुष परामर्श लेने तथा उदारतापूर्वक भूल

सुधार करने के अभ्यस्त होते हैं।

यथार्थं च परिज्ञातुं तर्कं तथ्यं प्रमाणकम्।
अन्वेष्टुमुभयोः पक्षे विचारः कर्तुमिष्यते॥ २२॥
तदैव शक्यते ज्ञातुं विद्यते का यथार्थता।
प्रयुञ्जते बुद्धिमेनां न्यायाधीशा विशेषतः॥ २३॥
शृण्वंत्युभयवार्तां ते पक्षयोः कुर्वते तथा।
यत्नं तथ्यं तल्लब्धुमावेशेऽज्ञानतोऽपि वा॥ २४॥
बलादपि च यत्प्रोक्तं पक्षपात धिया नहि।
तत्र ध्यानं प्रकुर्वंति तत्त्वजिज्ञासवः क्वचित्॥ २५॥
गृह्यते नीतिरेषैव यदा तर्हि तु संभवम्।
यथार्थता परिज्ञानं सत्यं द्रष्टुं च वस्तुतः॥ २६॥

टीका—यथार्थता को जानने के लिए तर्क, तथ्य और प्रमाण ढूँढ़ने का उभयपक्षीय प्रतिवेदन पर विचार करना पड़ता है। तब कहीं पता चलता है कि यथार्थता क्या है? न्यायाधीश इसी बुद्धि का प्रयोग करते हैं। दोनों पक्षों की बात सुनते हैं। तथ्य तक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं। आवेश या अज्ञान में तथा बलपूर्वक पक्षपात के कारण जो कहा गया है, तत्वजिज्ञासु उस पर ध्यान नहीं देते। यही नीति अपनाने पर यथार्थता समझ सकना संभव होता है और सत्य के दर्शन होते हैं॥ २२-२६॥

व्याख्या—सत्य तक पहुँचने के लिए न्यायाधीश की तरह विभिन्न पक्षों के तर्क, तथ्य, प्रमाण सुनने समझने का सुझाव ऋषि ने दिया है। परंतु सावधान भी किया है कि तीन स्थिति वालों के कथन को निर्णय का आधार नहीं बनाना चाहिए।

(१) आवेशग्रस्त द्वारा दिए गए तथ्य प्रामाणिक नहीं होते। आवेशग्रस्त स्थिति ही असंतुलन की है। असंतुलन को आधार बनाकर संतुलित निर्णय हो ही नहीं सकता, इसीलिए सत्य शोधक को आवेशग्रस्त मनोभूमि में किसी निर्णय पर नहीं पहुँचना चाहिए।

(२) अज्ञान में कई बार लोग ऐसी बातें कह जाते हैं जो उनके स्वयं के खिलाफ पड़ जाती है। जानकारी पूरी न हो तो सत्य शोधक को निर्णय लेने से पूर्व कुछ चिंतन कर लेना चाहिए।

(३) बलपूर्वक पक्षपात, किसी लोभ, भय या किसी अहसान के दबाव में दिए गए विवरण प्रामाणिक नहीं होते। सही निर्णय लेने के लिए साधक को ऐसी दबाव भरी मनःस्थिति के बाहर आने का प्रयास करना चाहिए।

कौण्डिन्य उवाच

दृश्यते प्राय एवात्र महाभाग ! बुधा अपि।
हानिलाभस्थितिज्ञा न हितं चिन्वन्ति दूरगम्॥ २७॥
कुर्वते भ्रमतश्चात्र निर्णयं विपरीतगम्।
कथमेतद् भवत्यस्माद् विवेकी रक्ष्यतां कथम्॥ २८॥

टीका—कौण्डिन्य ने कहा, हे महाभाग देखा गया है कि अपना हानि-लाभ पहचानने वाले समझदार व्यक्ति भी दूरगामी हितों को नहीं पहचान पाते, भ्रम में गलत निर्णय ले बैठते हैं, ऐसा क्यों होता है? और ऐसी भूलों से विवेकवान का बचाव कैसे होता है? ॥ २७-२८॥

आश्वलायन उवाच

दूरदर्शित्वभावोऽपि विवेकस्यार्थतां गतः।
न च वस्तुपरिज्ञानमात्रं तस्यार्थ इष्यते॥ २९॥
विवेकबुद्धिरादत्ते परिणामान् सुदूरगान्।
प्रारंभे हानिमादाय भविष्यत्यधिको यदि॥ ३०॥
लाभः समर्थनं तस्य कर्मणः कुरुतेऽत्र च।
लाभदानि प्रतीयंते कार्याण्यादौ झटित्यलम्॥ ३१॥
दुःखदानि तथांते च जायंते कानिचित्तथा।
आदौ कष्टप्रदायंते सुखदानि भवंति च॥ ३२॥
एतादृश - प्रसंगेषु भ्रांतिग्रस्ता भवंति ते।
अदूरदर्शिनो ये तु लाभं पश्यंति चादिमम्॥ ३३॥
तदर्थं महतीं हानिं भविष्यत्कालजां त्विमे।
प्राप्नुवंति नरा येनाभ्युदयं नोपयांति ते॥ ३४॥

टीका—आश्वलायन बोले, विवेक का तात्पर्य दूरदर्शिता भी है। वह मात्र समझदारी तक ही सीमित नहीं है। विवेकवान दूरगामी परिणामों को भी देखते हैं और आरंभ में तनिक सी हानि उठाकर भविष्य में यदि अधिक लाभ की संभावना हो, तो उसका समर्थन भी करते हैं। कई काम तत्काल तो लाभदायक प्रतीत होते हैं, किंतु अंत में दुःख देते हैं। कुछ आरंभ में तो कष्टकर लगते हैं, किंतु उनका परिणाम अंततः सुखद होता है। ऐसे प्रसंगों में अदूरदर्शी तो भ्रमग्रस्त होते हैं और तत्काल लाभ के लिए भविष्य में बड़ी हानि उठाते हैं, साथ ही अभ्युदय को भी प्राप्त नहीं हो पाते॥ २९-३४॥

व्याख्या—समझदारी की परिभाषा यहाँ सही परिपेक्ष्य में समझना अनिवार्य है। तथाकथित समझ के धनी बुद्धिमान तो समाज में अनेकों व्यक्ति देखे जाते हैं, किंतु विवेकशीलता की पूरक दूरदर्शिता का उनमें नितांत अभाव होता है। बहुसंख्य व्यक्ति इसी में आते हैं। मनुष्य जीवन जितनी कठिनाई से मिलता है उतना ही दुष्कर है, अपने दूरगामी हितों को भली-भाँति पहचानकर अपने क्रियाकलापों को तदनुसार नियोजित करना। चासनी में लिपटकर प्राण गँवाने वाली मक्खी की तरह तात्कालिक आकर्षण तो मायाजाल से भरे इस संसार में पग पग पर विद्यमान हैं। उनसे स्वयं को बचाना एक बहुत बड़ा पराक्रम पुरुषार्थ है। मनुष्य को वह समझ, जिसे विवेक नाम दिया गया है, से भली-भाँति संपन्न बनाकर सृजेता ने उसे अपना मुकुटमणि बनाकर इस जगती पर भेजा है। अन्यान्य

जीवों को यह विशेषता प्राप्त नहीं है। फिर यह क्यों होता है कि उसकी इस दुर्लभ निधि समझ पर भी समय-समय पर पर्दा पड़ता रहता है एवं प्रगति के स्थान पर अवनति की ओर पतन के गर्त में लुढ़कने लगता है। प्रस्तुत प्रसंग में इसी जिज्ञासा को उठाया व सत्राध्यक्ष द्वारा उसके समाधान का प्रयास किया गया है।

वस्तुतः विवेक की सामान्य समझदारी तक ही सीमित नहीं माना गया है। समझ तो सभी प्राणियों में होती है। भक्ष्य-अभक्ष्य सभी पहचानते हैं। अपने-पराए बच्चों की पहचान भी सभी कर लेते हैं। किससे उनको हानि हो सकती है, यह भी सभी जीव समझते हैं। पर विवेक तो दूरगामी परिणामों पर विचार करके तदनुसार निर्धारण को कहते हैं। मनुष्य ने प्रगति विवेक के आधार पर की है। साधना, अनुशासन, व्यवस्था, तंत्र यह सब विवेक के आधार पर ही विकसित हुए हैं। तत्काल के आकर्षणों को छोड़कर स्थायी लाभ इसी आधार पर मिल जाते हैं।

विवेकिनः परं ये तु लघ्वीं हानिं विलोक्य ते।
हानिमादिसमुद्भूतां स्वीकृत्यापि प्रयोजने॥ ३५॥
शोभने लग्नचित्ताश्च मोदंते परिणामतः।
व्यवसायरता मल्ला कृषका वा यथा च ते॥ ३६॥
विद्यार्थिनस्तपोवेषा मालाकारा अथापि च।
एतेषां धैर्यमेवैतान् कुरुते लक्ष्यगान् सदा॥ ३७॥

टीका—जो विवेकवान हैं, वे तुरंत ही छोटी हानि को देखकर कृषक, माली, विद्यार्थी, व्यवसायी, पहलवान की तरह आरंभिक घाटा एवं कष्ट सहकर भी सत्प्रयोजनों में लगे रहते हैं और अंत में उस प्रयास के सत्परिणाम का आनंद लेते हैं। इनका धैर्य ही इन्हें लक्ष्य तक पहुँचाता है॥ ३५-३७॥

व्याख्या—विवेक का लक्षण है तत्काल के लाभ के आकर्षण अथवा प्रारंभिक कष्ट के भय से श्रेष्ठतम उपलब्धियों की ओर बढ़ने से रुके नहीं। इसके लिए दूरदर्शिता के साथ सुनियोजन की भी आवश्यकता पड़ती है। कृषक, माली, विद्यार्थी, व्यवसाई और पहलवान आदि इसी कोटि के साधक होते हैं। कृषक भूखा होने पर भी पास में रखे हुए बीज बोने के अन्न को खाने के आकर्षण से बचा रहता है। बीज को मिट्टी में डालते समय प्रत्यक्ष हानि दिखती है, श्रम भी बहुत पड़ता है, पर फसल के लिए वह यह सब स्वीकार करता है, तभी फसल पाता है। माली कृषक की तरह सर्दी गर्मी भूल कर पौधों को लगाता और पालता-पोसता है। अपने ही लगाए पौधों को एक स्थान से उखाड़ना दूसरी जगह लगाना बेकार का श्रम-सा दीखता है। अपने लगाए, पोसे पौधों को कैंची से काटना बेदर्दी का काम दीखता है, परंतु बगीचे की सुंदरता, पौधों की सुसज्जा इसी से उभरती है।

अदूरदर्शिनो जाले स्पशित्वा लोभसंगताः।
विहगानां च मत्स्यानां गतिं गच्छंति मानवाः॥ ३८॥
ते स्मरंति न लोभेन जायमानां सुदुर्गतिम्।
शार्करेष्वप्सु गच्छन्त्या मक्षिकाया अपीदृशी॥ ३९॥
दुर्गतिर्जायते यस्मादुचितानुचितस्थितिम्।
सत्यासत्य विविक्तिं च विवेकः कुरुते स्वयम्॥ ४०॥
भिन्नभ्यस्ता जना अत्र प्रवाहे वहदेव तत्।
असत्यं सत्यरूपेण गृह्णंति भ्रममोहिताः॥ ४१॥
स्वयं तिष्ठन्ति तेऽन्यांश्च तथैवोपदिशन्त्यपि।
बहवः किं नराः कार्यं कुर्वते चिंतयंति किम्॥ ४२॥

टीका—अदूरदर्शी जाल में फँसने वाली मछली चिड़िया की तरह प्रलोभन कर आतुर होकर यह भूल जाते हैं कि अंधा लालच क्या हानि करता है? चासनी पर टूट पड़ने वाली मक्खी की भी ऐसी ही दुर्गति होती है। विवेक ही उचितानुचित का सत्यासत्य का निर्णय कर पाता है, अन्यथा अभ्यस्त प्रवाह में बहने वाले तो असत्य को ही सत्य मान लेते हैं। अधिकांश लोग क्या करते और क्या सोचते हैं, इसी भ्रम में मोहित वे स्वयं भी भ्रमित हो जाते हैं और दूसरों को भी भ्रमित करते हैं॥ ३८-४२॥

व्याख्या—मनुष्य के लिए बिना विवेक की शरण लिए यह निर्णय लेना कठिन हो जाता है कि कौन-सा रास्ता अनुकरणीय है। दैनिक जीवन में जो भी घटनाक्रम देखने में आते हैं, उनमें अभ्यस्त ढर्रा ही दृष्टिगोचर होता है। यदा-कदा अपवाद रूप में कहीं कोई औचित्य के रूप में वरण करने योग्य प्रसंग होता भी है तो विवेक बुद्धि के अभाव में उसे पहचान पाने में सामान्य मनुष्य असमर्थ ही रहते हैं। यह तथ्य मोटे तौर से अधिकांश जनमानस पर लागू होता देखा जा सकता है।

ढर्रे के चिंतन के कारण ही मनुष्य एक प्रकार के स्वसम्मोहन के शिकार देखे जाते हैं, जिसमें जो कुछ भी अपने आस-पास घट रहा है उसमें काट-छाँट किए बिना हंस की तरह नीर-क्षीर विवेक अपनाए बिना भेड़चाल अपनाना उन्हें सरल, सुविधाजनक प्रतीत होता है। ढर्रे को तोड़ना, मछली के धारा को चीरकर उलटा चल देने के समान है। ऐसा साहस बहुधा देखने में नहीं आता।

आधारमिममाश्रित्य सत्यासत्यविनिर्णयः।
भवितुं युज्यते नात्र नृगरिम्णोऽनुकूलगम् ॥ ४३॥
किमिहास्ति समावेश आदर्शित्वस्य कुत्र सः।
सत्यस्योत्कृष्टतायाश्चत्वसत्यास्ति विवेचनम्॥ ४४॥
एतदाश्रित्य कर्त्तव्यं भवतीह परीक्ष्यताम्।
तर्कप्रमाणशाणे तदौचित्यं हेम नान्यथा ॥ ४५॥

टीका—सत्य असत्य का निर्णय इस आधार पर करना

चाहिए कि मानवी गरिमा के अनुरूप क्या है? आदर्शवादिता का समावेश किसमें है? सत्यासत्य की विवेचना इसी उत्कृष्टता के आधार पर होनी चाहिए। तर्क और प्रमाण की ऐसी कसौटी बनानी चाहिए जिससे सत्य रूपी स्वर्ण की सही परीक्षा हो सकना संभव हो॥ ४३-४५॥

व्याख्या—पिछले प्रतिपादनों में प्रचलित ढर्रे में न बहने की सलाह दी गई थी। सत्यानुयायी जन-प्रवाह को नहीं मानवीय गरिमा और आदर्शवादिता के पक्ष में तर्क ही तथ्य की कसौटी को प्रयोग करते हैं। सत्य की ही नहीं, सत्य पथ के पथिक की परीक्षा भी इसी कसौटी पर होती है। जनप्रवाह के वेग में असुविधाओं और यश के आकर्षणों की अग्नि परीक्षा में से सत्य का साधक केवल उत्कृष्अ आदर्शों के पक्ष में निर्णय लेता हुआ अपने खरे होने का प्रमाण देता है।

राजहंस इव क्षीरनीरयोर्निश्चयं नरः।
कुर्याद् यत् तदुत्कृष्टं गृह्यतां हर्षपूर्वकम्॥ ४६॥
उष्णता च प्रकाशश्च यथा सूर्ये गुणावुभौ।
समन्वयस्तथा सत्ये प्रवृत्योस्तु द्वयोरपि॥ ४७॥
यथार्थता च तत्रैका न्यायनिष्ठमिदं तथा।
दूरदर्शित्वमन्या सा प्रवृत्तिर्मङ्गलोन्मुखी॥ ४८॥
समन्वयोऽनयोः पूर्णसत्यमत्राभिधीयते।
यदेकांगगतं तच्चापूर्णमेवाभिमन्यताम्॥ ४९॥

टीका—मनुष्य को राजहंस की तरह नीर-क्षीर विवेक करना चाहिए और जो उत्कृष्ट है, उसी को हठपूर्वक ग्रहण करना चाहिए। जिस प्रकार सूर्य में गर्मी और रोशनी दो गुण हैं, उसी प्रकार सत्य में दो प्रवृत्तियों का समन्वय है, एक यथार्थता दूसरी मंगलोन्मुख न्यायनिष्ठ दूरदर्शिता। इन दोनों का समन्वय ही पूर्ण सत्य है, एकांगी तो अधूरा रहता है॥ ४६-४९॥

व्याख्या—सत्य के एक पक्ष यथार्थ को तो मनुष्य जल्दी पकड़ लेता है। पर दूसरे पक्ष लोक हितकारी न्यायनिष्ठा, दूरदर्शिता को कम ही लोग पकड़ पाते हैं। ऋषि कहते हैं कि उसके बिना सत्य अधूरा रह जाता है। दूरदर्शिता ऐसी जिसमें न्याय और लोकमंगल सधता हो, बड़े प्रयत्न से आती है। उसके लाभ भी बहुत हैं, मानव को महामानव वही बनाती है, परंतु उसके मुकाबले में आकर्षण और भ्रम भी कम नहीं आते। उनसे बचने के लिए उस उत्कृष्ट वृत्ति को हठपूर्वक पकड़ने का सूत्र ऋषि समझा रहे हैं। सभी महापुरुषों ने ऐसा ही किया है। हंसवृत्ति भी यही है।

सत्य के उत्कृष्टता के साधक का आदर्श हंस और चातक होता है। हंस इस बात से प्रभावित नहीं होता कि किसने क्या खाया वह तो उत्कृष्टता के मोती चुगता है। वह न मिले तो उसे अभक्ष्य खाने की अपेक्षा लंघन मंजूर होता है। विवेक की दृष्टि से तो उसका नीर-क्षीर विवेक प्रसिद्ध है ही।

चातक मात्र स्वाति बूँदों का ही पान करता है। हीन रसपान करने की अपेक्षा प्यासा रह जाना पसंद करता है। उत्कृष्टता के साधक ऐसे ही नैष्टिक होते हैं।

कौण्डिन्य उवाच

कृपालो मानवे पूर्णं सत्यं प्राप्तुं सदैव सा।
समीहा विद्यतेऽथापि शक्तिः पूर्णा च विद्यते॥ ५०॥
तथापि विकलं सत्यं कथमादाय तिष्ठति।
भवेद् विडंबनायाश्च कथं मुक्तिरिदं वद॥ ५१॥

टीका—कौण्डिन्य ने कहा, हे कृपालु मनुष्य में पूर्ण सत्य प्राप्त करने की चाह भी है और सामर्थ्य भी, फिर भी वह एकांगी सत्य में उलझकर क्यों रह जाता है? इस विडंबना से मुक्ति कैसे मिले? कृपया यह रहस्य स्पष्ट करें॥ ५०-५१॥

व्याख्या—किसी भी उपलब्धि के लिए इच्छा और सामर्थ्य यह दो महत्त्वपूर्ण आधार माने जाते हैं। मनुष्य में यह दोनों होते हुए भी उसे अभीष्ट उपलब्धि क्यों नहीं होती, यह रहस्य कौण्डिन्य जानना एवं इस प्रतिपादन से अन्य उपस्थित साधकों को लाभांवित कराना चाहते हैं।

मनुष्य पूर्णतः चाहता है इसका प्रमाण हर कदम पर मिलता है। उसे उसके बिना संतोष नहीं मिलता। चाहे विज्ञान के माध्यम से हो, चाहे दर्शन के माध्यम से, वह सृष्टि के रहस्य स्पष्ट करने पर तुला रहता है।

सामर्थ्य में मनुष्य की समता कोई प्राणी नहीं कर सकता, यह सर्वमान्य है। रामचरित मानस में लिखा है।

नर तन सम नहिं कवनिऊ देही।
जीव चराचर जाँचत जेही॥

शास्त्रों के अनुसार देवता भी मनुष्य शरीर में इसलिए आना चाहते हैं कि सत्य की जिस गहराई तक जाने की सामर्थ्य मनुष्य में है, वह किसी अन्य देहधारी में नहीं।

एक रोचक प्रसंग मिलता है कि सिकंदर ने सिंध के ब्राह्मणों से कुछ बेढब प्रश्न पूछे थे। उद्देश्य था उनकी मानसिक क्षमता की परीक्षा लेना। उसमें एक प्रश्न था सबसे बुद्धिमान जीव कौन है? विद्वान ने उत्तर दिया वह जो मनुष्य की निगाह से बचा है।

भाव यह था, कि जितने भी जीव मनुष्य की निगाह में आए, उसने सभी को अपने नियंत्रण में ले लिया। उसके नियंत्रण के बाहर वही रह सकता है जो उसकी निगाह से बच जाए। अर्थात् मनुष्य की सामर्थ्य का कोई मुकाबला नहीं।

पुराणों में अनेक प्रसंग हैं जब देवताओं में शर्त लगी, मनुष्य की परीक्षा ली गई। लंबे से लंबे संघर्ष के बाद मनुष्य ने अपनी श्रेष्ठता सिद्ध की और देवताओं ने उनकी सराहना

की, अभिनंदन किया। देव शक्तियाँ भी मनुष्य की सामर्थ्य के सामने नतमस्तक होती रही हैं।

ऐसा मनुष्य एकांगी सत्य में ही फँसकर क्यों रह जाता है यहाँ पर यही जिज्ञासा ऋषि द्वारा व्यक्त की गई है।

आश्वलायन उवाच

सत्यं नारायणः साक्षादसीमश्चापि विद्यते।
सीमिता च मनुष्याणां बुद्धिराग्रहिणी लघुः॥ ५२॥
अंशो ज्ञातस्तया नूनमेक एवाधुनाऽपि च।
शेषं ज्ञेयं च यत्तत्तु विद्यतेऽत्यधिकं ततः॥ ५३॥
मनुष्यः सत्यसंप्राप्तयै क्रमशोऽभ्यक्रमीदिह।
साफल्यमंशतश्चापि तत्र सोऽध्यगमत्तथा॥ ५४।
अपर्याप्तानि मन्तुं च ज्ञानानि स्वस्यतानि वा।
पूर्वजानां स्वकानां न लघुतावहमस्ति तु॥ ५५॥

टीका—आश्वलायन जी बोले, सत्य ही नारायण है। नारायण असीम है और मानवी बुद्धि सीमित है, वह विविध आग्रहों से और भी छोटी हो गई है। उसने अब तक सत्य का एक अंश ही जाना है, जो जानना शेष है, वह कहीं अधिक है। मनुष्य क्रमशः सत्य की प्राप्ति के लिए क्रमिक यात्रा करता रहा है और आंशिक सफलता प्राप्त करता रहा है। पिछली जानकारियों को अपर्याप्त मानने में अपनी या पूर्वजों की कोई हेठी नहीं है॥ ५२-५५॥

व्याख्या—मनुष्य अपने क्षेत्र में समग्र है, किंतु विराट के स्तर पर बहुत ही सीमित। वह किसी न किसी काल और क्षेत्र में बँधा रहता है, इसलिए उसी परिधि के सत्य समझ सकता है। वह भी तब, जब दिमाग को खुला रखा हो। उसे यदि आग्रहों के दायरे में सीमित रख छोड़ा है, तो अपने काल और क्षेत्र के अनुरूप भी सत्य को पकड़ नहीं पाता।

प्रत्येक पीढ़ी की अपनी काल-परिधि होती है। उस परिधि से बाहर निकलने पर सत्य के नए आयाम सामने आते हैं। जिनके सामने वह आयाम नहीं आए उन्होंने उसे मान्यता नहीं दी, तो कोई दोष नहीं हुआ। परंतु पूर्व जानकारी को सब कुछ मान लेने पर नए आयामों की उपेक्षा होती है, तो वह शेष है।

बाल्ये वस्त्राणि यान्येष परिधत्ते शिशुः सदा।
तानि प्रौढे न गृह्णाति कोऽपि काले विनिर्गते॥ ५६॥
देशकालानुरूपेण यदीत्थं ताः परंपराः।
स्वीकृता भिन्नरूपेण तत्र नो विग्रहादिकम्॥ ५७॥
विद्यते सर्व एवैते धर्मात्मानो विदंतु तत्।
तथ्यं गृह्णन्तु सत्यं च विवेकं हितमात्मनः॥ ५८॥

टीका—बालकपन में जो वस्त्र पहने जाते हैं, समय बीत जाने पर प्रौढ़ावस्था में उन्हें कोई नहीं पहनता। इस प्रकार यदि देशकाल के अनुरूप परंपराएँ भिन्न प्रकार से अपनाई गई हों, तो उसमें विग्रह जैसी कोई बात नहीं है। सभी धर्म प्रेमियों को तथ्य समझना और सत्य तथा विवेक को अपनाना ही उचित है, चूँकि इसमें उनका अपना भी कल्याण है॥ ५६-५८॥

व्याख्या—परंपरा की भिन्नता का प्रश्न सामने आने पर बहुधा विग्रह उठ जाते हैं। एक परंपरा का अभ्यस्त व्यक्ति दूसरी परंपरा वाले को हीन भाव से देखने का प्रयास करता है। परंतु सत्य और विवेक को देखना चाहिए कि किन्हीं परिस्थिति विशेष में कोई खास परंपरा उचित रही। जितने अंशों में परिस्थितियाँ बदलीं, उतने अंशों में परंपराओं में परिशोधन कर लेने में न किसी धर्म का उल्लंघन होता है और न किसी निष्ठा का हनन होता है। इससे तो औचित्य को परिपोषण मिलता और विकासक्रम आगे बढ़ता है।

वार्ता काऽपि चचालायमितिहासो नृणां क्रमात्।
अस्मादेव न चान्योऽस्ति पंथा विज्ञात उत्तमः॥ ५९॥
प्राप्तज्ञानस्य लाभं च विंदन्तोऽतो यदस्ति च।
अज्ञातं ज्ञातुमेवादः प्रयासोऽपि विधीयताम्॥ ६०॥
इतिहासं च सम्मान्य भविष्यन्निर्मितिस्तथा।
निर्धारणस्य हेतोश्चाऽपिहिता बुद्धिरिष्यते॥ ६१॥
तत्त्वज्ञानस्य सिद्धांतस्त्वयमेव हि विद्यते।
आधारमिममाश्रित्य विज्ञानं जृम्भितं स्वयम्॥ ६२॥
यथास्थानं स्वपादौ च स्थिरौ यैर्विहितौ नरैः।
प्रगतेः पथि यातुं च शक्यं नाग्रहिभिस्तु तैः॥ ६३॥

टीका—मानवी प्रगति का इतिहास क्रम से चला है और इससे भिन्न कोई उत्तम मार्ग विदित भी नहीं है। अतः उपलब्ध जानकारी का लाभ उठाते हुए भी जो अविज्ञात है, उसे समझने का प्रयास करें। इतिहास का सम्मान करते हुए भी भविष्य में निर्माण एवं निर्धारण के लिए मस्तिष्क खुला रहे। तत्वज्ञान का सिद्धांत यही है। विज्ञान इसी आधार पर विकसित हुआ है। पैरों को यथास्थान जमाए रखने के आग्रही प्रगति पथ पर अग्रसर नहीं हो सकते॥ ५९-६३॥

व्याख्या—व्यवधान या विघ्न बाधा उपस्थित होने पर भी अपने उद्देश्य से विचलित न होना दृढ़ता का प्रमाण है। परंतु अपने दृढ़ता सिद्ध करने के प्रयास में व्यक्ति प्रगति ही न करे, यह कोई समझदारी नहीं हुई। विचारों की दृढ़ता और बात है तथा विचारों की जड़ता उससे भिन्न है। जड़ता अपने से भिन्न कुछ सुनना नहीं चाहती, दृढ़ता बिना विवेक की कसौटी पर कसे किसी भी बात को यों ही स्वीकार नहीं कर लेती।

प्रस्तुत जानकारी का लाभ उठाते हुए जानकारी बढ़ते चलने के क्रम से ही तत्वज्ञान, विज्ञान, सभ्यता सभी का विकास हुआ है। इस क्रम को रुकने नहीं देना चाहिए। प्रत्येक फैक्ट्री सफल उत्पादन के साथ उसमें नए सुधारों पर

शोध करती रहती है। नई दृष्टि देने वालों को यह कहकर अपमानित नहीं किया जाता कि तुम पिछले उत्पादन का महत्त्व घटा रहे हो। बल्कि प्रोत्साहन देकर अपने उत्पादन का स्तर बढ़ाया जाता है।

मन्तव्यं धर्ममूलं च सत्यमेवाप्तुमप्यतः।
अतिरिक्ताश्च भिन्नास्ता ज्ञातुं वाञ्छाऽस्तु मान्यता॥ ६४॥
औचित्यस्य यथार्थस्य दिशायामभियातृभिः।
निष्पक्षस्याधिगंतव्यो न्यायस्याश्रय उत्तमैः॥ ६५॥
ज्ञानं चेदृशमेवात्र मनुष्यं सत्यमार्गणे।
करोत्यग्रेसरं येन पूर्णलक्ष्याप्तिसंभवः॥ ६६॥
पुरुषा आग्रहिणः स्वं च सीमाबंधनमेव तु।
सर्वस्वं मन्यमाना हि भजन्ते हि दुराग्रहम्॥ ६७॥
दूरं सत्यात्समग्राच्च तिष्ठन्त्येव निरंतरम्।
विवेकालंबनं तस्मात्सत्याप्त्यै ध्रुवमिष्यते॥ ६८॥

टीका—धर्म के मूल स्वरूप को सत्य माना जाए। इसके अतिरिक्त अन्यान्य मान्यताओं के संबंध में अधिक जानने की इच्छा रखी जाए। औचित्य और यथार्थ की दिशा में बढ़ते हुए उत्तम पुरुषों के द्वारा निष्पक्ष न्याय का आश्रय लिया जाए। ऐसा विवेक ही मनुष्य को सत्य की खोज में अग्रसर करता है। पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँच सकना इसी प्रकार संभव हो पाता है। आग्रही अपने सीमा बंधन को ही सब कुछ मानकर उसका हठ करते हैं और समग्र सत्य से दूर ही बने रहते हैं। इसलिए विवेक का अवलंबन सत्य की प्राप्ति के लिए अनिवार्य माना गया है॥ ६४-६८॥

व्याख्या—वेदांत का प्रथम सूत्र है अथातो ब्रह्मजिज्ञासा अब ब्रह्म की जिज्ञासा करते हैं। जिज्ञासा, नया जानने की इच्छा प्रत्येक प्रगति का आधार रही है। विवेकवान जानने योग्य की खोज और वरण का क्रम सतत बनाए रखते हैं।

आरोचतेदं सर्वेभ्यो विवेचनमिहाद्भुतम्।
भ्रांतेभ्यो विकृतारीतीः प्रति चाग्रहिणस्तु ये॥ ६९॥
तेभ्यः याथार्थ्यबोधाय सर्वैरनुमितं त्विदम्।
दूरदर्शित्वयुक्ताश्च प्राप्तुं वै ज्ञानशीलता॥ ७०॥
अनिवार्यं विधातुं च लोकमानसमुन्नतम्।
नियते समये सत्रं समाप्तिं तदगादलम्।
हर्षिता धर्ममासाद्य संप्रदायतिरोहितम्॥ ७१॥

टीका—आज का विवेचन सभी को बहुत सुहाया। भ्रांतियों और विकृतियों के प्रति आग्रही लोगों को यथार्थता समझाने के लिए सभी ने अनुमान किया कि दूरदर्शी विवेकशीलता को अपनाने के लिए उन्नत लोक मानस बनाना आवश्यक है। सत्र नियत समय पर विधिवत् समाप्त हो गया। सभी लोग संप्रदायों की चहारदीवारी में बँटे-छिपे धर्म को जानकर अतीव प्रसन्न हुए॥ ६९-७१॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः
श्री आश्वलायन कौण्डिन्य ऋषिसंवादे 'सत्य-विवेक', इति प्रकरणो नाम
॥ तृतीयोऽध्यायः॥

॥ अथ चतुर्थोऽध्यायः॥

संयमशीलता-कर्त्तव्यपरायणता प्रकरण

चतुर्थो दिवसस्त्वद्य सत्रस्याभूच्छुभोदयः।
मनीषिणां समेषां हि संगतानामवर्द्धत ॥ १॥
जिज्ञासूनां स उत्साहो धर्मस्यास्य विशालताम्।
महत्त्वं चान्वभूवँस्ते जगन्मंगलमुत्तमम्॥ २॥
ज्ञानगोष्ठी समारब्धा विधिवद्विद्वदुत्तमः।
विद्रुथः प्रणमन्नेवाध्यक्षं पप्रच्छ सादरम्॥ ३॥

टीका—आज सत्र का चौथा दिन था। उपस्थित मनीषियों एवं जिज्ञासुओं का उत्साह बढ़ रहा था। उन्हें धर्म की महानता और विशालता का और भी अच्छी तरह अनुभव होने लगा था। आज की ज्ञानगोष्ठी विधिवत आरंभ हुई, तो विद्वान विद्रुथ ने अध्यक्ष का अभिवादन करते हुए आदर सहित पूछा॥ १-३॥

विद्रुथ उवाच

धर्मस्यापरयुग्मस्य भगवन् प्रविवेचनम्।
क्रियतां कश्च संबंधः कर्तव्ये संयमेऽस्ति च॥ ४॥
उभौ कथं सुसंबद्धौ मतौ तौ हि परस्परम्।
उदतारीन्महाप्राज्ञ एवं स आश्वलायनः॥ ५॥

टीका—विद्रुथ बोले, हे भगवन् धर्म के दूसरे युग्म की विवेचना करें। संयम और कर्त्तव्य का आपस में क्या संबंध है? दोनों एक दूसरे के साथ जुड़े हुए या गुँथे हुए क्यों माने गए हैं? महाप्राज्ञ आश्वलायन ने उत्तर देते हुए इस प्रकार कहा ॥ ४-५॥

आश्वलायन उवाच

सत्राध्यक्षः अबोधयत् समुदायमुपस्थितम्।
सज्जनाः! भगवान् प्रादात् प्रत्येकस्मै नराय तु॥ ६॥
विभूतिर्विपुलायाश्च सुप्तास्तिष्ठंति नित्यशः।

स्थूलेऽस्मिंश्च तथा सूक्ष्मे शरीरे बीजरूपतः॥ ७॥
साधनायाः प्रयत्नेन तास्तु वर्द्धयितुं तथा।
परिपुष्टा विधातुं च शक्याः सर्वैस्तु मानवैः॥ ८॥
उद्बोधिता न चाप्येता इयत्यां संति विग्रहे।
मात्रायां येन निर्वाहक्रमं शान्त्या सुखेन च।
पर्याप्ताः पूरितुं तास्तु संति चाक्षयतां गताः॥ ९॥

टीका—सत्राध्यक्ष श्री आश्वलायन जी ने उपस्थित जन-समुदाय को समझाया कि सज्जनों भगवान ने हर व्यक्ति को विपुल परिमाण में विभूतियाँ प्रदान की हैं। वे उसके स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों में बीज रूप में प्रसुप्त स्थिति में पड़ी हैं। साधना के थोड़े प्रयत्न के साथ उन्हें जगाया-बढ़ाया और परिष्कृत किया जा सकता है। न जगाया जाए तो भी वे इतनी मात्रा में हैं कि निर्वाहक्रम को सुख-शांति से भरा-पूरा रखने की दृष्टि से पर्याप्त हैं, इन्हें अक्षय समझना चाहिए॥ ६-९॥

व्याख्या—हर मानव तनधारी उस विराट चेतन का एक अंग है। विधाता ने मनुष्य में विभूतियों के रूप में अगणित विशेषताएँ कूट-कूट कर भर दी हैं। जानकारी के अभाव में तो बहुमूल्य वस्तु को भी निरर्थक समझकर फेंक दिया जाता है। पारस पर कपड़ा पड़ा हो तो समीपस्थ लोहे का टुकड़ा स्पर्श पाने पर भी सोने में नहीं बदलता। लगभग यही स्थिति सूक्ष्म विलक्षणताओं से संपन्न मनुष्य की है। जौहरी अपनी कीमती अलभ्य वस्तुओं को सँभालकर रखता है। कोषगारों में जमा धनराशि कड़े पहरे में रखी व स्थानांतरित की जाती है। हर कोई उनके समीप नहीं पहुँच सकता। केवल वह व्यक्ति जो हैसियत रखता है अथवा जिसकी साख है, वह विधिपूर्वक इस राशि को पाने का हकदार है।

आत्मिक विभूतियाँ विधाता ने तीन शरीरों के रूप में काया के सूक्ष्म संस्थान में छिपाकर रखी हैं। इन्हें प्रयास-पुरुषार्थ द्वारा जगाया जा सकता है। बिना साधना अनुशासनों के ये प्रसुप्त स्थिति में पड़ी रहती हैं। सामान्य अंश जो उनका बहिरंग में दृश्यमान है वह निर्वाह आदि के लिए सामान्य जीवनचर्या के लिए पर्याप्त भंडागार की असीम सामर्थ्य का परिचय देकर उन संभावनाओं की एक झलक झाँकी दिखाते हैं, जिन्हें जगाया जा सके तो अतिमानवी क्षमताएँ अर्जित कर सकना संभव है।

भगवान ने मनुष्य को विभूतियाँ देते समय दोनों प्रकार के व्यक्तियों का ध्यान रखा है। (१) जो विकास के इच्छुक हैं, उच्च लक्ष्यों की आकांक्षा रखते हैं। (२) वे जो सामान्य जीवन जीना चाहते हैं।

जिस रूप में विभूतियाँ मिली हैं, उसी रूप में इनका ठीक-ठीक प्रयोग कर लिया जाए, तो मनुष्य का निर्वाह सही, संतोषप्रद ढंग से हो सकता है। पर विशिष्ट स्तर पाना है, तो तीनों शरीरस्थ विभूतियों को जागृत, विकसित करके उनका उपयोग करना आवश्यक है। स्थान-स्थान पर आप्त वचनों के माध्यम से मनुष्य को अपने इस भंडागार को तीन शरीर पंचकोशों षट्चक्रों से विनिर्मित वैभव साम्राज्य को हस्तगत करने ऋद्धि-सिद्धि संपन्न बनने के संकेत दिए गए हैं। जो इन सूत्रों को समझते हैं, वे साधना पुरुषार्थ में प्रवृत्त होते एवं सिद्ध पुरुष महामानव की स्थिति को प्राप्त करते हैं।

आसां दुरुपयोगं नो प्राणिनोऽन्ये तु कुर्वते।
स्वस्थं जीवन्त्यतः सर्वे ससुखं सर्वदैव च॥ १०॥
केवलं मानवोस्त्येष दर्पोन्मत्तस्तु यः सदा।
मर्यादास्ताभिनत्त्याऽसंयमं स्वीकरोति च॥ ११॥
प्रकृतेर्दण्डसंस्थित्या स्खलत्येव पदे-पदे।
दुःसहं दुःखमाप्नोति समुदायोऽत्र सोऽब्रवीत्॥ १२॥

टीका—अन्य प्राणी इनका अपव्यय-दुरुपयोग नहीं करते, अतएव स्वस्थ और सुखी जीवन जीते हैं। मात्र मनुष्य ही ऐसा है जो दर्प में उन्मत्त होकर मर्यादाओं को तोड़ता है असंयम बरतता है और प्रकृति की दंड व्यवस्था के अनुसार पग-पग पर ठोकरें खाता और दुःसह दुःख सहता है॥ १०-१२॥

व्याख्या—रोग और दुःखों का कारण भगवान की ओर से किसी सामर्थ्य की कमी के कारण पैदा नहीं होते। वे होते हैं ईश्वरीय प्रकृति द्वारा स्थापित मर्यादाओं के उल्लंघन से। जब तक उल्लंघन बंद करके अनुशासन को अंगीकार नहीं किया जाता, सारे उपचार बेकार हो जाते हैं। यह मर्यादाएँ वह समझता तो है, पर उन्मत्त होकर उन्हें भूल जाता है, तोड़ देता है।

जनसमुदाय उवाच

प्रज्ञ ब्रूतामिहास्माकं पुरोऽसंयमाशु तम्।
यस्माद्धेतोर्नरोरोग - शोकाक्रांतश्च जायते॥ १३॥
वयं सर्वे स्वरूपं तत्तस्य ज्ञातुं समुत्सुकाः।
परिणामं, च येन स्याज्जीवनं सफलं तु नः॥ १४॥

टीका—जनसमुदाय ने पूछा हे प्रज्ञावान् उस असंयम का वर्णन कीजिए, जिसके कारण मनुष्य को रोग शोकों से आक्रांत होना पड़ता है। हम सब उसके स्वरूप और प्रतिफल को जानने के इच्छुक हैं, जिससे हमारा मनुष्य जीवन सफल हो सके॥ १३-१४॥

कौण्डिन्य उवाच

चतस्रो भगवाञ्छक्तीः प्रत्येकस्मै नराय तु।
दत्तवाञ्जन्मतो, शक्तिरिन्द्रियाणां मताऽऽदिमा॥ १५॥
द्वितीया कालशक्तिश्च विचाराणां तृतीयका।
साधनानाञ्चतुर्थी सा शक्तिः प्रोक्ता बुधैरिह॥ १६॥

शक्तयस्तिस्र एतेषां शरीरे मनसि स्थितः।
चतुर्थी विपुलायां सा मात्रायां विद्यतेऽभितः॥ १७॥
संपदा प्रकृतेरत्र पुरुषार्थेन स्वेन याः।
अर्जितुं शक्यते मर्त्यैर्यथेच्छं प्रकृतेः सदा॥ १८॥

टीका—कौण्डिन्य बोले, हे सज्जनो भगवान ने हर मनुष्य को चार स्तर की शक्ति जन्मजात रूप से प्रदान की है, इनमें एक है, तीसरी विचारशक्ति और चौथी साधनशक्ति। तीन शक्तियाँ उसके शरीर और मन में भरी पड़ी हैं। चौथी प्रकृति संपदा के रूप में सर्वत्र विपुल परिमाण में विद्यमान है। वह अपने पुरुषार्थ द्वारा उसमें से जितनी चाहे बटोर सकता है॥ १५-१८॥

व्याख्या—यहाँ चारों शक्तियों के स्वरूप और अनुशासन समझने योग्य हैं। इनमें इंद्रियशक्ति और विचारशक्ति यह हर प्राणी के साथ पैदा होती है। मनुष्य को यह अन्यों की अपेक्षा विशेष क्रम में प्राप्त हैं। संसार की सारी कुशलताएँ इन्हीं शक्तियों के प्रयोग से बनी हैं, जैसे मजदूर, पहलवान और इंद्रिय शक्ति के बिना काम नहीं कर सकते। विद्वान, वकील, विचारकों में विचार शक्ति प्रधान होती है, परंतु इंद्रिय शक्ति के बिना वे उसे व्यक्त नहीं कर सकते।

पहलवान, खिलाड़ी, चित्रकार, शिल्पी, संगीतकार यह सब अपने विचार संयोग से इंद्रियों का कलात्मक प्रयोग कर सकने में कुशल हो जाते हैं। साधना एवं अभ्यास द्वारा इन दोनों शक्ति यों को विकसित तथा उचित अनुपात में संचित किया जाता है।

शिक्षक, विद्वान, वकील, डॉक्टर, इंजीनियर, लेखक अपनी विचारशक्ति को इंद्रियशक्ति के सहारे प्रकट करते हैं। लिखना, ऑपरेशन करना, पढ़ना आदि क्रियाएँ इसी क्रम में आती हैं।

समय संपदा, इंद्रिय और विचार शक्तियों की तरह मनुष्य के अधिकार में नहीं होती। वह उसे घटा बढ़ा नहीं सकता। परंतु वह मिलती सबको है। प्रति दिन २४ घंटे सबको मिलते हैं। जब तक जीवन है तब तक समय भी मिलता है। पर उसका मूल्य मनुष्य अपनी इंद्रिय और विचार शक्ति के संयोग से ही पा सकता है। इस संयोग की कुशलता को पुरुषार्थ कहा जाता है। जो किसी समय की अवधि में अपनी इंद्रिय और विचार शक्ति का जितना अच्छा उपयोग कर सकता है वह उतना ही पुरुषार्थी कहा जा सकता है।

साधन शक्ति दैवी संपदा है। साधन सब भगवान ने बना रखे हैं। मनुष्य इनका रूपांतरण भर अपनी इच्छा के अनुसार कर सकता है। यही नहीं उन्हें कहीं अपनी या किसी दूसरे की अधिकार सीमा में एकत्र भी कर सकता है। परंतु उनको इच्छानुरूप स्वरूप देना या एकत्रित करना बिना पुरुषार्थ के संभव नहीं। इसीलिए ऋषि कहते हैं कि इन्हें पुरुषार्थ के द्वारा जितना चाहे बटोरा जा सकता है। संसाधनों की विपुल संपदा प्रकृति के भांडागार में समाई हुई है। अनेकों व्यक्ति पराक्रम पुरुषार्थ से इन्हें हस्तगत कर संपन्न होते, स्वयं को पुष्ट बनाते देखे जा सकते हैं। लेकिन इस उपयोग की भी अपनी सीमा है। जब यह अनावश्यक दोहन की स्थिति में पहुँच जाता है तो उसे प्रकृति की प्रताड़नाएँ भी सहनी पड़ती हैं। यही बात प्रकारांतर से अन्य तीन मानव की सीमा रेखा में आने वाली शक्ति यों इंद्रिय संपदा, समय संपदा एवं विचार संपदा पर भी लागू होती है। जब इनका महत्त्व भूलकर इनका अनावश्यक दुरुपयोग किया जाता है एवं इन्हें व्यर्थ ही अकारण नष्ट किया जाता है तो मनुष्य को तरह-तरह के त्रास भुगतने पड़ते हैं। जितनी महत्त्वपूर्ण निधियाँ ये सभी शक्तियाँ अपने आप में हैं, उतना ही महत्त्वपूर्ण उनका सार्थक सदुपयोग एवं सुनियोजन भी है। ऋषि इसी कारण मनुष्य के रोग-शोकों का कारण जानने के लिए असंयम के स्वरूप का भी स्पष्टीकरण चाहते हैं ताकि हानियों को जानते हुए मनुष्य उनसे बचने के उपाच सोच सके।

जननेंद्रियस्य जिह्वायाश्चाञ्चल्यमधिगत्य तु।
नरा बुद्धिं निजामत्रोदरं तद्दूषयंत्यलम्॥ १९॥
शारीरिकैर्मानसैश्च रोगैर्ग्रस्तो भवंत्यलम्।
आलस्येन प्रमादेन समयं यापयंति च ॥ २०॥
ते दरिद्रा विकासेन रहिता एव सर्वदा।
तिष्ठंति मानसं चैषां शरीरं मलपीडितम्॥ २१॥
दोषजीर्णं जराग्रस्तमिवाशक्तं भवेत्ततः।
संपदा समयोऽप्यस्ति प्रभुदत्ता नरश्च याम्॥ २२॥
श्रमे नियोजितां कृत्वा योग्यताः संपदा अपि।
सर्वा एवार्जिताः कर्तुं सक्षमो नात्र संशयः॥ २३॥
श्रमपूर्वं च यावान् स कालो व्यत्येति शोभने।
पुरुषार्थे जीवितं यत्तज्जीवनं मान्यतामिह॥ २४॥

टीका—जीभ और जननेंद्रिय का चटोरापन अपनाकर लोग अपना पेट तथा मस्तिष्क खराब करते हैं और शारीरिक, मानसिक रोगों से ग्रसित होते हैं। समय को आलस्य-प्रमाद में बिताने वाले दरिद्री और पिछड़ेपन से ग्रस्त बने रहते हैं। उनके शरीर और मन को जंग खा जाती है तथा वे जराग्रस्त की तरह अशक्त हो जाते हैं। समय भी ईश्वर प्रदत्त संपदा है। श्रम में उसे नियोजित रखकर हर प्रकार की योग्यताएँ तथा संपदाएँ अर्जित की जा सकती हैं। जितना समय श्रमपूर्वक श्रेष्ठ पुरुषार्थ में व्यतीत हुआ है, उतना ही जीवन जिया मानना चाहिए॥ १९-२४॥

व्याख्या—इंद्रिय शक्ति के सदुपयोग के सूत्र यहाँ ऋषि ने स्पष्ट किए हैं। एक है इंद्रिय शक्ति को व्यसनों में बरबाद न होने देना। दूसरा है उपयोगी श्रम में इन्हें लगाना। जितने समय

इंद्रियों को श्रम में लगाया जाएगा, उतनी ही योग्यता और संपन्नता बढ़ेगी।

यह सत्य स्वीकार करने वाले खिलाड़ी लंबे समय तक अभ्यास का श्रम करते हैं। शिल्पी और व्यापारी लंबे समय अपने-अपने श्रम में लगाते हैं। कलाकार और संगीत साधक भी लंबी अवधि तक अपनी कला निखारने के श्रम करते हैं। इसी आधार पर संपन्नता और योग्यता पाते हैं। इसीलिए कहा है, जितना समय इस प्रकार श्रम, पुरुषार्थ में लगा उतना ही जीवन जिया समझा जाना चाहिए।

बलमांतिरिकं नूनं विचारोऽयं तथैव च।
स यस्मिन् क्वापि लक्ष्ये तु तत्तथा विनियुज्यते॥ २५॥
प्रगतिस्तदनुरूपेण तत्र साफल्यमप्यलम्।
जायते परमेनं तु लोकास्ते नाशयंत्यपि॥ २६॥
कल्पनासु विनिक्षिप्य विकृतासु च तं नराः।
बाधाः प्रकृतिमार्गे च भावयंति सुकंटकाः॥ २७॥

टीका—विचार आंतरिक बल और पुरुषार्थ है, उसे जिस किसी भी लक्ष्य पर नियोजित किया जाता है उसी में तदनुरूप प्रगति होती और सफलता मिलती है। लोग अस्त-व्यस्त और विकृत कल्पनाओं में उलझाए रहकर उसे नष्ट भी करते हैं और विकृतियों में उलझाकर अपने लिए संकट भी उत्पन्न करते हैं॥ २५-२७॥

व्याख्या—विचारशक्ति के संबंध में बड़ा महत्त्वपूर्ण और व्यावहारिक तथ्य स्पष्ट किया गया है। लक्ष्य तक पहुँचने का पुरुषार्थ इंद्रिय शक्ति के माध्यम से ही करना पड़ता है और उसी आधार पर सफलताएँ प्राप्त होती हैं। पर इंद्रिय शक्ति को पकड़कर विशेष दिशा में लगा देने का पुरुषार्थ विचार बल द्वारा ही संभव होता है। जो विचार दुर्बल हैं उस दिशा में इंद्रिय शक्ति कभी लग ही नहीं पाती और उपलब्धियाँ तो उसके बाद ही मिलती हैं।

सही दिशा में इंद्रिय शक्ति न लग पाने से उपलब्धियाँ नहीं मिलतीं। बात यहीं तक सीमित नहीं, विचार बहकते हैं तो इंद्रियाँ भी बहकती हैं और हजार तरह की परेशानियाँ मनुष्य स्वयं पैदा कर लेता है।

न्यूनता साधनानां न विद्यते कुत्रचित्क्षितौ।
तेऽधिगन्तुं च शक्यास्तु योग्यतां श्रमशीलताम्॥ २८॥
मनोयोगमथोद्‍बोध्य सर्वैरेव च मानवैः।
सार्थयंति धनं सद्‍भ्यो युञ्जते ये सदागमम्॥ २९॥
मात्राऽल्पाऽपि च तस्यैषा प्रयच्छति महत्फलम्।
सन्निवेशं समाश्रित्य यद्यप्यतुलवैभवाः॥ ३०॥
नरा दुरुपयुञ्जाना नाशयंतस्तु तत्स्वयम्।
यांति नाशं यथा नौका छिद्रे जाते निमज्जति॥ ३१॥

टीका—साधनों की कमी नहीं। वे योग्यता, श्रमशीलता और मनोयोग बढ़ाकर अभीष्ट मात्रा में उपार्जित किए जा सकते हैं। ईमानदारी से कमाने और सत्प्रयोजनों में ही उन्हें प्रयुक्त करने वाले धन को सार्थक बनाते हैं। उसकी थोड़ी मात्रा भी सदुपयोग के आधार पर महान प्रतिफल प्रदान करती है, जबकि विपुल संपदा वाले भी उसका दुरुपयोग करने पर उसे नष्ट करते, साथ ही स्वयं भी नष्ट होते हैं। छेद होने पर नौका पानी में डूब जाती है॥ २८-३१॥

व्याख्या—यह एक स्मरणीय तथ्य है कि योग्यता, श्रम और मनोयोग के संयोग से ही साधन बनते हैं, बढ़ते हैं।

धन सार्थक बनता है नेकी से कमाने और भलाई में खरच करने से। घातक बनता है। दुरुपयोग से भी छिद्र हीन नौका पार कर देगी, बड़ी से बड़ी छेद वाली होगी तो डुबो देगी।

साधन कमाना मनुष्य के हाथ में है। गई-गुजरी परिस्थितियों में भी अनेकों व्यक्तियों ने अध्यवसाय पुरुषार्थ के माध्यम से साधन जुटाकर स्वयं को संपन्न बनाया है। योग्यता अकेली पर्याप्त नहीं। योग्यता के साथ परिश्रम एवं काम में तन्मयता का संपुट न हो तो वह भी निरर्थक ही चली जाती है। एक बार कमा लेने पर भी उसके यदि सदुपयोग का मार्ग न बनाया गया तो वह सारा परिश्रम व्यर्थ ही जाता है, उपार्जन कर्त्ता को कष्ट पहुँचाता व अपयश का भागी बनाता है।

दुग्धे दुग्धे च चालन्यां पश्चात्तापोऽभिलभ्यते।
असंयमस्य छिद्रेषु पूर्वोक्तेषु चतुर्ष्वपि॥ ३२॥
संपदाया जीवनस्य स्त्रवन्त्यंशास्ततो नरः।
दीनं दरिद्रमात्मानमभाग्यमसहायकम्॥ ३३॥
अनुभवंति नरा ये तु समये सावधानताम्।
आश्रित्य संयमं चात्मशक्तिस्त्रोतोऽन्तयंति नो॥ ३४॥
परं विवेकपूर्वं तत्सर्वं सद्‍भ्यो नियुञ्जते।
क्वोपयोज्या संयमेन सञ्चिताः संपदा इति॥ ३५॥
संबन्धे बोधयत्यस्मान् यत्तु धर्मानुशासनम्।
भद्राः शृण्वंतु तत् सर्वे भवंतो ध्यानपूर्वकम्॥ ३६॥

टीका—चलने में दूध दुहने से मात्र पश्चाताप ही हाथ रहता है। इसी प्रकार असंयम के उपरोक्त चार छिद्रों में होकर जीवन संपदा के महत्त्वपूर्ण अंश बह जाते हैं और मनुष्य अपने आपको दीन, दरिद्र, असहाय, अभागा अनुभव करता है। बुद्धिमान वे हैं, जो समय रहते इस दिशा में सतर्कता बरतते हैं और संयमी रहकर अपने शक्ति भंडारों को नष्ट नहीं होने देते, वरन् विवेकपूर्वक उन्हें सत्प्रयोजनों में ही नियोजित किए रहते हैं। संयम द्वारा संचित संपदा का कहाँ उपयोग करना चाहिए, इस संबंध में धर्मानुशासन जो कहता है, उसे भद्रजनों आप ध्यानपूर्वक सुनें॥ ३२-३६॥

व्याख्या—शक्ति का मूल स्रोत जीवन संपदा जब तक संचित है, उसके अपव्यय के छिद्र बंद कर दिए गए हैं। जीवन को साध लिया गया है तो मनुष्य से बढ़कर सौभाग्यशाली कोई नहीं। आगे बढ़ने का मार्ग उसके लिए खुला है। भौतिक उपलब्धियों आत्मिक प्रगति का पथ उसे समृद्धि के चरम शिखर पर ले जाता है। अक्षय जीवन जीते हुए वह स्वयं तो धन्य होता ही है, संचित संपदा सामर्थ्य के सुनियोजित द्वारा विश्व वसुधा को भी लाभांवित करता है। असंयम के माध्यम से इस जीवन को क्रमशः खोखला बनाते हुए उपलब्धियों को खोते चले जाना एक ऐसी विडंबना है, जिसका वर्णन करते हुए शास्त्र वचनों में अनेकों अनुशासन मानवी गरिमा के अनुरूप बताए गए हैं। वह स्वयं को तो हानि पहुँचाता ही है, समष्टि का एक अंग होने के नाते स्रष्टा के प्रति कृतघ्नता बरतने का दोषी भी ठहरता है। ऋषि यहाँ पर मात्र संयम को ही नहीं, संचित सामर्थ्य के सुनियोजन परमार्थ हेतु उनके सदुपयोग को एक प्रकार का धर्मानुशासन बताते हुए उसे अमल में लाने के लिए जोर दे रहे हैं।

मनुष्याय प्रभुर्यत्र व्यतरच्चिन्तनं महत्।
स्वतंत्रमपि कर्त्तृत्वं तत्राबध्नादपि प्रभुः॥ ३७॥
नरं त्वनेककर्तव्यशृंलाभिरुदारधीः।
संगच्छध्वं संवदध्वं कर्तुं स व्यवहारगम्॥ ३८॥

टीका—मनुष्य को ईश्वर ने जहाँ स्वतंत्र चिंतन और कर्तृत्व की क्षमता प्रदान की है, वहाँ उसे अनेकानेक कर्त्तव्यों की जंजीरों में भी जकड़ा है, क्योंकि वह उदारचेता है, संगच्छध्वं संवदध्वम् को व्यावहारिक रूप देना चाहता है॥ ३७-३८॥

व्याख्या—परमात्मा उदारचेता है। अर्थात् प्राणी मात्र के हित के लिए अपने अनुदान उदारतापूर्वक खरच करना चाहते हैं। परंतु साथ ही साथ संगच्छध्वं अर्थात सबकी सहयोगात्मक प्रगति को भी व्यावहारिक स्वरूप देना चाहते हैं। मनुष्य को स्वतंत्र चिंतन और कर्तृत्व की क्षमता इसलिए दी है कि वह स्वयं भी बढ़े और सहयोगात्मक वातावरण बनाते हुए औरों को भी बढ़ाए।

सौंपे गए विशेष कर्तव्य पूरे कर सकने योग्य विशेष विभूतियाँ, विशेष क्षमताएँ मनुष्य को दी गई हैं। यदि मनुष्य कर्तव्यों से मुकरता है अथवा विशेष क्षमताओं का अन्य कोई उपयोग करता है तो ईश्वरीय अनुबंधों का उल्लंघन करता है।

उदारता मात्र देने को नहीं कहते। देने के साथ अनुशासन का जुड़ा होना यही बताता है कि परमेश्वर कितना न्यायकारी, नियम व्यवस्था को पसंद करने वाला है। यदि यह न होता तो अनुदान लुटाते रहते, अनुकंपाएँ बरसती रहतीं, कुपात्र भी उस बहती गंगा में हाथ धोते एवं कहीं भी कर्त्तव्यों का, मर्यादा का स्थान नहीं होता। मनुष्य स्रष्टा को प्रिय है, उसका राजकुमार है उसी कारण दुलार व सुधार की समन्वित नीति के नाते उसे अनुदानों के साथ कर्त्तव्यों से भी बाँध दिया गया है। यह प्रकारांतर से मानव के हित में ही है। मनुष्य आजादी से अपने संबंध में सोच सकता एवं कर्तृत्वों का निर्धारण कर सकता है पर यह छूट एक सीमा विशेष में ही है। परमात्मा एक स्व नियंत्रित, सुनियोजित व्यवस्था है जिसके चलते वह मर्यादाओं का उल्लंघन करते ही तुरंत उनके दुष्परिणामों को भी भोगता है। ये उसे सचेत करने एवं सही मार्ग पर लाने हेतु व्यावहारिक दृष्टि से जरूरी भी है।

पशवो नाभिजानंति कार्याकार्यस्थितिं ततः।
कार्यं स्वं कुर्वते सर्वं प्रकृतेः प्रेरणानुगम्॥ ३९॥
स्वातन्त्र्यं च मनुष्याय दत्त्वाऽपेक्षितमत्र यत्।
उपयोगं विशेषायाः सुविधायाः स आचरेत्॥ ४०॥
कर्तव्यपालनाख्येषु कार्येष्वेव न चान्यथा।
चित्तं सन्तुलितं स्वस्थं वपुश्चारित्र्यमुज्ज्वलम्॥ ४१॥
कर्तुं दायित्वमस्यास्ति त्रीण्येतानि प्रभोश्च मे।
न्यासं विविच्य रक्षंति तान्ययोग्योपयोगतः॥ ४२॥
प्रयोजनेषु सत्स्वेव योजना - बद्धरूपतः।
युञ्जते ते दृढन्यासा लक्ष्यं यान्ति च निश्चितम्॥ ४३॥

टीका—पशुओं को कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का ज्ञान नहीं होता, वे मात्र प्रकृति-प्रेरणा का अनुसरण करके ही अपना काम चला लेते हैं, किंतु मनुष्य को जो स्वतंत्रता प्रदान की गई है, उसके साथ ही ईश्वर ने यह अपेक्षा भी की है कि वह इस विशेष सुविधा का उपयोग मात्र उन्हीं कार्यों में करेगा, जिन्हें कर्त्तव्य पालन कहते हैं। शरीर को निरोग, मन को संतुलित और चरित्र को उज्ज्वल रखना मनुष्य का उत्तरदायित्व है। इन तीनों को ईश्वर की धरोहर समझकर जो उन्हें अनुपयुक्तताओं से बचाए रहते हैं, सत्प्रयोजनों में योजनाबद्ध रूप से जुटाए रहते हैं, उनके पैर लड़खड़ाते नहीं और अभीष्ट लक्ष्य तक निश्चय पूर्वक पहुँचते हैं॥ ३९-४३॥

व्याख्या—ध्यान देने योग्य सूत्र है, विशेष शक्तियों के उपयोग की स्वतंत्रता केवल निर्धारित कर्त्तव्यों के लिए है।

यह भी ईश्वर द्वारा सौंपे गए कर्त्तव्य हैं, कि (१) शरीर को स्वस्थ-निरोग रखें। (२) मन को संतुलित बनाएँ, भटकने न दें। तथा (३) अपने चरित्र को साफ सुथरा रखें, क्योंकि इनके बिना उच्चस्तरीय कर्त्तव्यों का पालन संभव नहीं होता।

इन उद्देश्यों में भी मनुष्य भटक जाता है शरीर को उच्चादर्शों में लगाने के लिए स्वस्थ रखना है, वह भूल जाता है। उसे सुंदर और ताकतवर इसलिए बनाना चाहता है, कि दूसरों को रिझा सके और मनमानी कर सके। इसी तरह मन को संतुलित नहीं, तुष्ट करने के फेर में पड़ जाता है। चरित्र

उज्ज्वलता की जगह झूठी वाहवाही के लिए प्रयास करने लगता है। ऋषि कहते हैं, कि भ्रमों में जो नहीं पड़ते, वे न लड़खड़ाते हैं, न भटकते हैं, लक्ष्य तक पहुँच ही जाते हैं।

विद्रुथ उवाच

साधकाः ज्ञातुमिच्छंति प्राज्ञ संयमकारणान्।
संचितां शक्ति मत्रैते कर्तव्यस्यैव पालने॥ ४४॥
कथं न साधकाः सर्वे समर्थास्तु भवन्त्यहो।
महत्ता मार्ग आर्षे का गन्तुं बाधास्तु वृत्तयः॥ ४५॥

टीका—विद्रुथ बोले, हे प्राज्ञ साधक समझना चाहते हैं कि समय द्वारा अपनी शक्तियाँ बचाकर कर्त्तव्य पालन में प्रयुक्त करने में साधक में समर्थ क्यों नहीं होते? महानता के इस ऋषि प्रणीत मार्ग पर बढ़ने में कौन-सी प्रवृत्तियाँ बाधक होती हैं॥ ४४-४५॥

आश्वलायन उवाच

भद्रा! मर्त्यस्य तृष्णा सा वासनाऽहंत्वमप्यलम्।
गभीरत्वं समुद्रस्य तिरस्कुर्वन्ति वस्तुतः॥ ४६॥
एतेषां पूर्तिहेतोश्चेत्समस्ताः सुविधास्तथा।
संपदा अपि विश्वस्य दत्ता स्यान्नहि तृप्तिदा॥ ४७॥
दावानलस्य ज्वालेव संति त्रीण्यपि निश्चितम्।
एतेषां शान्तये न्यूनं जगतो वैभवेंधनम् ॥ ४८॥

टीका—आश्वलायन बोले भद्रजनो मनुष्य की वासना, तृष्णा, अहंता समुद्र से भी अधिक गहरी है। इनकी पूर्ति के लिए संसार की समस्त सुविधा-संपदा झोंक दी जाए तो भी पूर्ति न हो सकेगी। यह तीनों ही दावानल जैसी अग्नि ज्वालाएँ हैं। इन्हें शांत करने के लिए संसार के समस्त वैभव का ईंधन भी कम है॥ ४६-४८॥

व्याख्या—सत्राध्यक्ष ने वासना, तृष्णा और अहंता को समुद्र और अग्नि ज्वाला के समकक्ष बताया है। समुद्र तीन चौथाई है और सूखी जमीन एक चौथाई। एक चौथाई से तीन चौथाई को कभी पाटा नहीं जा सकता। इसी तरह साधनों से वासना, तृष्णा, अहंता का पेट भरा नहीं जा सकता।

ज्वाला देखने में तो छोटी दीखती है। लगता है, उसे थोड़े से सामान से ढक देना संभव है। पर वह सामान ईंधन के समान है, वह उससे शांति नहीं होती। पुरातन काल से लोग इस भ्रम में पड़ते आ रहे हैं। प्रयास बहुतों ने किया, पर सफल न हो सका।

एतेषां तुष्टये सर्वं न्यूनमेवार्जितं नृणाम्।
लोभादिकं तु पूर्त्यै स्यादलं नासीमितं कृतम्॥ ४९॥
घृतेन दीप्यते वह्निर्मोहान्धस्तेन मानवः।
कर्तव्यं पालनं नैव चिंतयत्येष चात्मनः॥ ५०॥
लोभातिरिक्तं नैवायं किञ्चित्कुत्रापि पश्यति।
कर्तव्यनिश्चये बुद्धिर्नैवास्यैवं प्रवर्तते॥ ५१॥
तस्य पालनहेतोश्च साहसोत्साहयोः कथम्।
भावः स उदयं गच्छेद् विनाऽऽभ्यां सिद्धिरेव का॥ ५२॥

टीका—इनकी तुष्टि के लिए जो भी जुटाया जाएगा, वह कम पड़ जाएगा। लोभ, मोह और अहंकार की पूर्ति के लिए कितना ही कुछ किया जाए, वह कम ही पड़ता जाएगा। घृत डालने से आग और भड़कती है। ऐसी दशा में मोहांध व्यक्ति कर्त्तव्यपालन की बात सोच ही नहीं पाता। उसे लालच के अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं। ऐसी दशा में कर्त्तव्य निर्धारण में उसकी बुद्धि काम ही नहीं देती। उसका पालन करने के लिए उत्साह और साहस जगेगा ही कैसे? और बिना कर्त्तव्य पालन के कोई लक्ष्य सिद्ध नहीं हो सकेगा॥ ४९-५२॥

व्याख्या—वासना से मोह, तृष्णा से लोभ और अहंता से अहंकार उसी प्रकार बढ़तें हैं, जैसे घी या ईंधन से अग्नि। जब ये दोष बढ़ जाते हैं तो मनुष्य की सोचने समझने की शक्ति क्षीण और नष्ट हो जाती है। उनका सम्मोहन मनुष्य पर छा जाता है। गीता में लिखा है सम्मोहित व्यक्ति की स्मृति भ्रमित हो जाती है। स्मृति भ्रम होते ही बुद्धि की क्षमता नष्ट हो जाती है। बुद्धि नाश के साथ मनुष्य भी नष्ट हो जाता है।

यहाँ ऋषि समझा रहे हैं कि कर्त्तव्य के प्रति उत्साह और साहस आगे तब कर्त्तव्य सधता है। पर दोषों से सम्मोहित व्यक्ति तो कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य सोच ही नहीं पाता। उसे निभाने की स्थिति तो दूर की बात है। आदमी लक्ष्य सिद्धि तो चाहता है, पर लक्ष्य तक जाने का मार्ग कर्त्तव्य पालन से ही बना है। उस पर चले बिना लक्ष्य पर कैसे पहुँचे?

कर्तव्यपालनं नूनं गौरवं महतां महत्।
तेनैवाप्नोति संतोषः पुरुषो दुर्लभं परम्॥ ५३॥
कर्मयोगो मतः सर्वसुलभः सर्वसम्मतः।
कल्याणकारकोऽत्यर्थं यत्रचैकमतं नृणाम्॥ ५४॥
कर्तव्यपालकान् मर्त्यान् शूरान् धर्मरतांस्तथा।
भक्तान् वदंति कर्तव्ये सार्थक्यं जीवनस्य तु॥ ५५॥
व्यवस्था प्रगतिश्चात्र विद्यंते सुप्रसन्नता।
दायित्वमुह्यते कर्मपालनाधारमाश्रितम् ॥ ५६॥
मनुष्यश्चेदृशो याति गौरवं दर्शयत्यपि।
मार्गं स्वयं मनुष्येभ्योऽसंख्येभ्यो धन्यजीवितः॥ ५७॥

टीका—कर्त्तव्य पालन ही सबसे बड़ा गौरव है। संतोष उसी से मिलता है। कर्मयोग को सर्वसुलभ, सर्वमान्य और सर्वोपरि कल्याणकारक माना गया है। इसमें सबका एक मत है। कर्तव्य कर्म करने वाले शूरवीर धर्मनिष्ठ और ईश्वर भक्त माने जाते हैं। जीवन की सार्थकता भी कर्त्तव्यपालन में है। प्रसन्नता, व्यवस्था और प्रगति भी इसी में है। उत्तरदायित्वों का निर्वाह कर्त्तव्यपालन के आधार पर ही बन पड़ता है।

ऐसा ही स्वनामधन्य मनुष्य गौरवशाली बनता और असंख्यों का मार्गदर्शन करता है॥ ५३-५७॥

व्याख्या—कर्त्तव्य के लिए मनुष्य के मन में उत्साह क्यों उभरे? इस मनोवैज्ञानिक समस्या का हल ऋषि जानते हैं। व्यक्ति को उत्साह आता है उपलब्धियों के लिए। ऋषि स्पष्ट करते हैं, कि जीवन की महानतम उपलब्धियाँ कर्त्तव्य के आधार पर ही मिलती है, जैसे

गौरव जिसे पाने के लिए मनुष्य सदा लालायित रहते हैं और शास्त्र भी उसे पाने योग्य कहते हैं।

संतोष जिसे जीवन की सर्वोपरि उपलब्धि कहा है। बड़ी से बड़ी चीज या पद पाकर भी यदि संतोष अनुभव न हुआ, तो वह निरर्थक सी लगती है। संतोष प्यार के दो शब्दों में भी मिला, तो उस पर राज्य न्योछावर हो जाते हैं।

शूरवीर, धर्मनिष्ठ और ईश्वर भक्त कहलाना असामान्य गौरव माना जाता है। इसका भी आधार कर्त्तव्य ही है।

जीवन की सार्थकता तथा दूसरों का हितकर सकने का पुण्य-परमार्थ, यह भी ऐसी उपलब्धियाँ हैं, जिन्हें छोटे से छोटे व्यक्ति ये लेकर बड़े-से-बड़े महापुरुष तक महव देते हैं।

यश भी पुण्य के आधार पर मिलता है। रामचरित मानस में लिखा है पावन यश कि पुण्य बिनु होई पुण्य कुछ और नहीं, उच्चस्तरीय कर्त्तव्यों का फलितार्थ है।

इन सब आधारों, तथ्यों को जो ध्यान में रखते हैं, उनमें कर्त्तव्यों के प्रति उत्साह, साहस और उमंग रहती है, वे कर्त्तव्य समझने में या उसके परिपालन में कभी नहीं चूकते।

योगेषु कर्मयोगोऽतो विद्यते महतां महान्।
गीता सर्वस्वमप्येतन्मूलं संसारसंपदाम् ॥ ५८॥
कर्तव्यपालनं नूनं सुलभं मोददं तथा।
भूयो भूय इदं सर्वैः स्मर्तव्यं हि दिवानिशम्॥ ५९॥
व्यवधानं च तस्यात्राकरणे केवलं त्विदम्।
दुष्प्रवृत्तिर्न मर्त्यास्तु क्षमंते रोद्धुमात्मनः॥ ६०॥
लोभे नियंत्रणं नैव संभवत्यपि चैव हि।
अंधस्येव स्थितिर्मोहाज्जायते च नृणामिह॥ ६१॥

टीका—योगों में कर्मयोग की महत्ता महान कही गई है। यही गीता का सार व विश्व वैभव का मूल है। कर्तव्य पालन सुलभ भी है और आनंददायक भी, यह बात बार-बार दिन रात याद रखनी चाहिए, किंतु उसके न बन पड़ने में एकमात्र व्यवधान यही है कि लोग अपनी दुष्प्रवृत्तियों पर अंकुश नहीं रख पाते। लालच पर नियंत्रण करते नहीं बन पड़ता। मोह से अंधे जैसी स्थिति बन जाती है॥ ५८-६१॥

व्याख्या—जो कर्तव्य मानव होने के नाते सौंपा गया है, उसे पूरा करना ही मानव का सबसे बड़ा धर्म है। योगत्रयी की जीवन साधना में कर्मयोग को सर्वोपरि स्थान प्राप्त है। व्यावहारिक अध्यात्म की इस साधना से गीताकार के अनुसार व्यक्ति जीवन्मुक्ति की दिशा में सहज ही बढ़ता रह सकता है। मोक्ष निर्वाण संबंधी सारा ब्रह्मज्ञान अपने स्थान पर है एवं कर्मयोग की जीवन साधना अपनी जगह। जो इसकी उपेक्षा करता है वह इहलोक तो खोता ही है, परलोक को भी खो देता है। गीताकार कहते हैं कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्। मनुष्य को कर्म साधना का उपदेश देते हुए कहा गया है कि वह फल के परिणाम की आकांक्षा किए बिना उनमें लिप्त हुए बिना सतत् कर्म करता रहे। यही सच्चा अध्यात्म है।

कर्मयोग सुलभ होते हुए भी उसमें निरत न हो पाने का एक ही कारण है चिंतन में सतत समाने वाली, व्यामोह पैदा करने वाली दुष्प्रवृत्तियों को पनपते रहना, उन पर नियंत्रण न होना एवं विवेक को खोकर अपना लक्ष्य भूल जाना। यह मानव के साथ जुड़ी एक ऐसी विडंबना है जो उसे आत्मिक प्रगति के मार्ग पर चलने में सतत रोड़ अटकाती रहती है।

अहंकारी भवत्येवोन्मादीवावेशतां गतः।
सत्सु चैतेषु दोषेषु समीहा मानवस्य तु॥ ६२॥
आकांक्षाः केवलं ताश्च सदा पूरयितुं द्रुतम्।
उच्छलंति स्वकर्तव्यपालने स्युस्तथाऽक्षमाः ॥ ६३॥
स्पृहास्तं तु नयन्त्येव यत्र कुत्राऽपि वै बलात्।
स्पृहावात्यागृहीतश्च शान्तिं विंदति नो मनाक्॥ ६४॥
त्यागोऽप्यपेक्ष्यते नूनं कर्तव्यस्यात्रपालने।
श्रमश्चाऽपि तथा सार्वभौमं पौरुषमप्यलम्॥ ६५॥
इमा सर्वाविभूतीश्च लिप्सा सा पूर्वमेव हि।
उदरस्थाः करोत्येव लुब्धोऽकिञ्चित्करो भवेत्॥ ६६॥

टीका—अहंकारी उन्मादी जैसा आवेशग्रस्त होता है। इन दोष-दुर्गुणों के लिए मनुष्य की इच्छा मात्र महत्त्वाकांक्षाएँ पूर्ण करने के लिए ही उभरती रहती है। वह कर्त्तव्यपालन में समर्थ हो ही नहीं पाता। लिप्साएँ उसे कहीं से कहीं, घसीट ले जाती हैं। लिप्सापूर्ति के झंझावात में पड़ा हुआ व्यक्ति क्षण भर भी शांति प्राप्त नहीं कर पाता है। कर्तव्यपालन में त्याग भी करना पड़ता है और श्रम पुरुषार्थ भी। इन सब विभूतियों को लिप्सा अपने पेट में पहले से ही उदरस्थ कर लेती है। ऐसी दशा में लोलुपों से ही करते-धरते नहीं बन पड़ता॥ ६२-६६॥

व्याख्या—कर्त्तव्य के लिए आदर्शनिष्ठ उत्साह उमड़ना चाहिए। पर अहं के कारण महत्त्वाकांक्षाओं का उन्माद उमड़ता है तो फिर कर्त्तव्य किस के सहारे हो?

कर्तव्य में त्याग, श्रम, पुरुषार्थ लगाना पड़ता है पर लूट, खसोट, मौज, मजा की लिप्सा के रहते वे कहाँ पैदा हों, कहाँ

रुकें?

शांत चित्त से कर्त्तव्य निर्धारण और विवेकपूर्वक प्रगति के चरण बनाए जाते हैं। महत्त्वाकांक्षा में लिप्त व्यक्ति को क्षण भर भी शांत चित्त से सोचने का अवसर ही नहीं मिलता।

ऐसी स्थिति में कुछ कर न पाना ही नियति बन जाती है। जो सोचने, करने की स्थिति बनाए रह पाते हैं वे विपरीत स्थिति में भी करने योग्य कर ही लेते हैं।

क्रिया विचारणा भिन्ने कर्तव्यस्यात्र पूर्तये।
मनोयोगः श्रमोऽथापि संयमश्चाप्यपेक्षिताः॥ ६७॥
योक्तुं तेषां च प्राप्त्यर्थं नरः संयमशीलताम्।
भजेदेव स्पृहा चापि नियम्यैव च वै नरैः॥ ६८॥
इयन्नैव च ये कर्तुं पारयंति नरा भवेत्।
दिवास्वप्नायितं तेषां कर्मयोगः सदैव तु॥ ६९॥
प्रतिकूलस्थितौ चापि कर्मयोगी न त्रस्यति।
युद्ध्यमानस्तु ताभिः स बुद्ध्या तरति चापदः॥ ७०॥

टीका—सोचना और करना भिन्न है। कर्त्तव्यपालन के लिए जिस मनोयोग और श्रम संयम का लगाया जाना आवश्यक है, उसे बचाने के लिए मनुष्य को संयमशील बनना पड़ता है। लिप्साओं पर अंकुश लगाना पड़ता है। जो इतना नहीं कर पाते, उनके लिए कर्मयोग एक दिवास्वप्न मात्र बनकर रह जाता है। प्रतिकूल स्थिति आ जाने पर भी कर्मयोगी त्रस्त नहीं होता है, उन विपत्तियों पर विजय प्राप्त कर लेता है॥ ६७-७०॥

व्याख्या—सही सोचना प्रथम चरण है। परंतु सोचने के साथ श्रम, पुरुषार्थ, अभ्यास का क्रम न बिठाया जाए तो कर्त्तव्य नहीं सधता।

लिप्सा पर अंकुश लगाना आना चाहिए। आकांक्षा पूर्ति नहीं उनके शोधन का, अध्यात्म और ईश्वरनिष्ठ जीवन का अधिक महत्त्व है, जो यह नहीं कर पाते वे प्रगति के स्वप्न शेखचिल्ली की तरह देख सकते हैं। या तो कर्त्तव्य पथ पर बढ़ ही नहीं पाते और बढ़ते हैं तो जरा से व्यवधानों से अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। कर्मयोगी व्यवधानों को अपने श्रम पुरुषार्थ के बल पर पार करते हैं और धन्य कहलाते हैं।

सुरसा वदनात्सोऽयं मारुतिर्निर्गतो बहिः।
मशकं रूपमाश्रित्य मनुजन्माऽपि चेदृशम्॥ ७१॥
परित्यज्य निराशां वै दुराशां दूरयन्नपि।
कर्मयोगी भवेदेवं जीवश्चेश्वरतां व्रजेत्॥ ७२॥
योगाभ्यासेषु सर्वेषु तपः संयमजं मतम्।
अनिवार्यमहंकारो लोभो मोहस्तथैव च॥ ७३॥
अंकुशास्त्रय एवैते दंभा उन्नतिबाधकाः।
स्वल्पसंतोषवृत्त्या च वर्तितव्यं सुयोगिभिः॥ ७४॥
उत्साहः स्वस्तथाऽऽकांक्षा आदर्शैः योक्तुमुत्तमाः।
विनाऽऽदर्शं सदिच्छां च ज्ञानं पापायतेऽपि तु॥ ७५॥

टीका—सुरसा के मुख से हनुमान मच्छर बनकर बाहर निकल आए। कुत्साओं को नियंत्रित करके ही मनुष्य कर्मयोगी बन सकता है। हर योगाभ्यास में संयम की तपश्चर्या अनिवार्य रूप से आवश्यक बताई गई है। कर्मयोगी को लोभ, मोह और अहंकार के तीन शत्रुओं का दमन करना चाहिए। स्वल्प संतोषी बनकर रहना चाहिए और उमंगों-आकांक्षाओं को आदर्शों के साथ जोड़ना चाहिए। बिना सदिच्छाओं के, बिना आदर्श के ज्ञान भी पाप पूर्ण हो जाता है॥ ७१-७५॥

व्याख्या—हनुमान अपने लक्ष्य तक पहुँचना चाहते थे, सुरसा से मुक्ति पाना आवश्यक था। लिप्साएँ लौकिक पुरुषार्थ के अनुपात में बढ़ती ही जाती हैं। लिप्साओं के सामने पुरुषार्थी नहीं स्वल्प संतोषी बनकर ही पार जाना उचित है। हनुमान जी ने यही किया। प्रत्येक प्रगति के इच्छुक साधक के लिए भी यही अभीष्ट है। योग का लक्ष्य है जीव ऊपर उठकर ईश्वरत्व तक पहुँचे, इसके लिए नीचे खींचने वाली कुत्साओं से बचना है। यह कार्य संयम से ही संभव है। इसीलिए हर प्रकार के योग में संयम का अनिवार्य स्थान है।

आदर्श पहचानना ही पर्याप्त नहीं। अपनी आकांक्षाएँ और उमंगें उनके साथ जोड़नी होती हैं। मात्र जानकारी है पर आकांक्षा नहीं तो जानते हुए न बढ़ना और भी बड़ा पाप बन जाता है।

तृष्णाः स्वाश्च वशीकुर्याद् यावदेव नरः स्वयम्।
तावदेव स्वकर्तव्यपालनं संभवेद् भृशम्॥ ७६॥
संयमाधारमाश्रित्य सञ्चितैर्विभवैर्नरः।
साधनानि स्वकर्तव्यपालनस्यार्जितुं क्षमः॥ ७७॥
ब्राह्मणविप्रवृत्तेश्चाभ्यस्ता वै साधवो मताः।
अस्यार्थश्चायमेवास्ति दुष्प्रवृत्तिरिमास्तथा॥ ७८॥
महत्त्वपूर्णाकांक्षाश्च नियम्यैव च संभवेत्।
परोपकारो विप्राणां यश्च नैसर्गिको गुणः॥ ७९॥

टीका—जो मनुष्य अपनी तृष्णाओं पर जितना अंकुश लगा सकेगा, उसके लिए उतनी ही तत्परता के साथ कर्तव्य पालन संभव हो सकेगा। संयम के आधार पर संभव हुई बचत से ही कर्त्तव्यपालन के आवश्यक साधनों को लगाया जा सकना संभव होता है। ब्राह्मण तथा ब्रह्मणवृत्ति के व्यक्ति ही साधु बन सकते हैं। इसका अर्थ है—महत्त्वाकांक्षाओं त्रिविध दुष्प्रवृत्तियों का दमन करने के उपरांत ही परमार्थ-परायण होसकना संभव है, जो ब्राह्मणों का स्वाभाविक गुण देखा जाता है॥ ७६-७९॥

व्याख्या—यहाँ ऋषि कहते हैं कि ब्राह्मण वह है जिसमें संयम की सहज वृत्ति है। जो आवश्यकताएँ बढ़ाने में नहीं, दुष्प्रवृत्तियों के दमन में गौरव समझता है। साधु का अर्थ है,

सहज परमार्थ परायण। जिसमें ब्राह्मणवृत्ति नहीं, उससे साधु के कर्त्तव्य-उत्तरदायित्व नहीं सँभाल सकेंगे।

धर्मस्याऽपरयुग्मस्य कर्तव्यसंयमाख्ययोः।
द्वयोरन्योऽन्यसंबंधे ज्ञाते ते तुतुषुः स्थिताः॥ ८०॥
स्पृहा - नियमनान्नूनं विना कर्तव्यपालनम्।
संभवेन्नैव तथ्यं च जना जानन्ति ये त्विदम्॥ ८१॥
समर्थास्ते नरा एव धर्तुं धर्मस्य पावनम्।
पादं तृतीयं येनेमे देवत्वं प्राप्नुयुर्ध्रुवम्॥ ८२॥
प्रतिपादनमेतच्च ज्ञानगोष्ठ्यामभून्मतम्।
समेषां कृतकृत्यांश्च मेनिरे स्वान् समे ततः॥ ८३॥
नियते समये सोऽयं समारोहो विसर्जितः।
भ्रांतेर्वात्या विधूता च यया लोकोविखंडितः॥ ८४॥

टीका—धर्म के दूसरे युग्म संयम और कर्त्तव्य का अन्योन्याश्रय संबंध समझने पर सभी उपस्थित जनों को बहुत संतोष हुआ। लिप्सा-नियमन के बिना कर्त्तव्य-धर्म का पालन नहीं बन सकता, इस तथ्य को जो लोग समझते हैं, वे ही धर्म के तीसरे चरण की अवधारणा करने में समर्थ होते हैं, जिससे सभी देवत्व को प्राप्त हो सकते हैं। ज्ञानगोष्ठी में आज का प्रतिपादन सभी को बहुत भाया और उन्होंने अपने को इस प्रतिपादन से कृतकृत्य माना। नियम समय पर समारोह विधिवत विसर्जित हुआ। भ्रांति का वातचक्र ध्वस्त हो गया, जिसने मनुष्यों को खंड-खंड कर अलग-अलग फेंक दिया था॥ ८०-८४॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः
श्री आश्वलायन विद्रुथ ऋषिसंवादे संयमशीलता-कर्त्तव्यपरायणता इति प्रकरणो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥

॥ अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥

अनुशासन-अनुबंध प्रकरण

पञ्चमे दिवसे तत्र निश्चिते समये पुनः।
ज्ञानगोष्ठी समारब्धा सत्संगसमयोद्भवा॥ १॥
जिज्ञासवः समे स्वानि चासनानि तु भेजिरे।
प्रेरणा भावबोधिन्यो लभ्यंते प्रतिपादनैः॥ २॥
प्रतिपादनमाश्रुत्य सर्वं सर्वे व्यधुश्च तत्।
हृदयंगममेतेऽत्र संगताः पुरुषाः स्वयम्॥ ३॥

टीका—पाँचवे दिन संत समागम की ज्ञानगोष्ठी नियत निर्धारण के अनुसार निश्चित समय पर आरंभ हुई। सभी जिज्ञासुओं ने अपने-अपने आसन सँभाले। प्रवचन-प्रतिपादनों से सभी को भावभरी प्रेरणाएँ मिल रही थीं। सभी प्रतिपादनों को सुनने के साथ-साथ गंभीरतापूर्वक हृदयगंम भी कर रहे थे॥ १-३॥

उद्दालक उवाच

देवधर्मस्य श्रुत्वेतद् युग्मयोऽस्तु विवेचनम्।
आनन्दः परमः प्राप्तः समैरस्माभिरुत्तमः॥ ४॥
तत्पालनाय सर्वेषामुत्साहः समुदेति च।
वचोऽमृतमिदं नव्यं जीवनं नः प्रयच्छति॥ ५॥
प्रकाशमपि, तद् युग्मं तृतीयं कृपया भवान्।
प्रकाशयतु संबंधः कोऽनुबंधस्य चास्य तु॥ ६॥
अनुशासनस्य मध्ये स भिन्नता का च विद्यते।
व्यवहारोपयोगी च बोधो धर्मस्य स्यादयम्॥ ७॥

टीका—उद्दालक बोले, हे देव धर्म के दो युग्मों की विवेचना सुनकर हम सब को बड़ा आनंद प्राप्त हुआ है। उनके परिपालन में सभी को भारी उत्साह उमड़ रहा है। आपके अमृत वचन हम सबको नया जीवन नया प्रकाश दे रहे हैं। अब कृपा कर तृतीय युग्म पर प्रकाश डालें और बताएँ कि अनुशासन और अनुबंध का परस्पर क्या संबंध है? उनके बीच भिन्नता क्या है, जिससे धर्म का व्यवहारोपयोगी बोध हो जाए॥ ४-७॥

आश्वलायन उवाच

अनुशासनमत्राहुर्गुणं सामाजिकं बुधाः।
सभ्यता शब्दितोऽप्येतदनुबंधस्तथास्ति सः॥ ८॥
गुणस्त्वांतरिको यां च संस्कृतिं कथयन्त्यपि।
सुसंस्कारित्वशब्देन जना जानंति कुत्रचित्॥ ९॥
द्विधैतयोः प्रयोगस्तु क्षेत्रयोर्भवति द्वयोः।
एकमुद्गममूलं तु द्वयोरेवास्ति वस्तुतः॥ १०॥

टीका—श्री आश्वलायन ने कहा विद्वानों ने अनुशासन को सामाजिक गुण कहा है और इस बाह्य अनुबंध को सभ्यता के नाम से भी जाना जाता है। इसका दूसरा रूप आंतरिक गुण के रूप में होता है, जिसे सुसंस्कारिता या संस्कृति के नाम से जाना जाता है। इनके प्रयोग तो दोनों क्षेत्रों में दो प्रकार से होते हैं, पर उनका मूल उद्गम एक ही है॥ ८-१०॥

व्याख्या—धर्म के तृतीय युग्म के रूप में यहाँ पर सभ्यता अनुशासन के रूप में बहिरंग में कार्य करने वाले एवं संस्कृति

अनुबंध के रूप में अंतरंग में क्रियाशील दो गुणों की चर्चा की गई है। सभ्यता एक प्रकार का बाह्य अनुबंध है एवं संस्कृति एक प्रकार का आत्मानुशासन। इस प्रकार दोनों ही एक दूसरे के पूरक एवं मिलकर समग्र बनते हैं। इन दोनों का मूलभूत स्तोत्र एक ही है। शब्दों के रूप में इन्हें चाहे जिस तरह अभिव्यक्ति दी जाए, व्यक्तित्व को निखारने उसे पूर्ण मानव के रूप में विकसित करने के लिए इन दोनों ही गुणों को अपरिहार्य माना गया है।

अनुबंध की व्याख्या करते हुए उसे अंतः से उद्भुत अनुशासन बताया गया है। संस्कृति, जो संस्कारो का अभिवर्द्धन कर अंतःक्षेत्र को प्रखर बनाती है, इसी का पर्यायवाची शब्द है। सभ्यता बहिरंग से निभने वाला अनुशासन है, अंतः की बाहर अभिव्यक्त होने वाली प्रतिक्रिया है। इस प्रकार मोटे तौर से दोनों ही गुण एक ही मूल से उपजने वाले वृक्ष की दो शाखाएँ हैं।

सुसंस्कारिता को किसी भी वर्ग, समाज, देश या संस्कृति का मेरुदंड कहा जा सकता है। इसके अभाव में बाह्योपचार निरर्थक है। सारा वैभव इसके न होने की स्थिति में धूलि के समान हो जाता है। कितने ही समूह बाहर से संपन्न पर संस्कारों की दृष्टि से खोखले नजर आएँ तो समझना चाहिए कि यह वैभव क्षणिक है। अंदर का शून्य बाहर भी विपन्नता उपजा कर छोड़ेगा। यह भी उचित ही कहा गया है कि सभ्यता अथवा अनुशासन आंतरिक अनुबंध सुसंस्कारिता के पूरक हैं। दोनों का सह अस्तित्व एक-दूसरे के कारण है, यद्यपि दोनों के कार्य क्षेत्र अलग-अलग हैं।

अनुशासन मर्यादापालन को कहते हैं और अनुबंध आत्मसंयम के लिए किए गए पुरुषार्थ को। मनुष्यता को स्वतंत्रता तो मिली है। वह स्वेच्छा से कुछ भी भला-बुरा कर सकता है, किंतु धर्म-धारणा ने उस पर सन्मार्ग में ही चलते रहने हेतु अनुशासन के अंकुश भी लगाए हैं। किंतु अंकुश के बिना वह सही रास्ते पर चलता नहीं। स्वच्छंद होने की स्थिति में कहीं भी भटकता है, पर जब महावत का अंकुश अनुशासन उसकी गतिविधि को नियंत्रित करता और अभीष्ट दिशा में चलने का मार्गदर्शन करता है, तभी उसकी क्षमता का सही उपयोग होता है। उसके बिना वह उच्छृंखलता अपनाकर विनाशकारी घटनाक्रम भी खड़े कर सकता है। हर समाज, वर्ग, समूह के लिए ऋषिगणों ने बाह्य मर्यादाओं, वर्जनाओं एवं संस्कार रूपी आत्मानुशासन का प्रावधान यही सोचकर किया है कि मनुष्य स्वभावतः उच्छृंखल है। उसे नियंत्रित रखने एवं आत्मिक प्रगति के पथ पर बढ़ाने हेतु इस प्रकार का सीमा बंधन अनिवार्य है। देव संस्कृति की यह विशेषता अपने आप में अनुपम है।

शालीनता समुद्भूतं द्वयमेवेति मन्यताम्।
यथाऽऽदर्शान् प्रति त्वास्था सद्भावःसद्विचारणाम्॥ ११॥
तत्रोदयं समायातो यत्रोत्कृष्टं च चिंतनम्।
अपरान् प्रति सम्मानभावना यत्र चात्मनि॥ १२॥
सौजन्यस्य समारोहस्तत्रैवैतत्तु संभवेत्।
कर्तव्यपालनं नूनं नागराणां न चान्यथा॥ १३॥
निर्वहेच्च सदाचारस्तत्र चाप्यनुशासनम्।
व्यवहारे समागच्छेत् सभ्यता शब्दितं तु यत्॥ १४॥
संभवेच्छलयुक्तं न नाटकीयस्य वस्तुतः।
सौजन्यस्य च पाखण्डं झटिति प्रकटं भवेत्॥ १५॥

टीका—दोनों ही शालीनता के उत्पादन हैं। जहाँ आदर्शों के प्रति आस्था होगी, वहाँ सद्भावना, सद्विचारणा पनपेगी। जहाँ उत्कृष्ट चिंतन चल रहा होगा, दूसरे के प्रति सम्मान का भाव होगा, अपने में सज्जनता का आरोपण रहा होगा, वही नागरिक कर्त्तव्यों का परिपालन बन सकेगा। वहीं शिष्टाचार निभेगा और सभ्यता के रूप में जाना जाने वाला अनुशासन अपनाया जा सकेगा, यह छलपूर्वक नहीं हो सकता। नाटकीय सज्जनता का पाखंड प्रकट होने में देर नहीं लगती॥ ११-१५॥

सभ्यता का व्यवहार सुसंस्कारिता के बलबूते ही बन पड़ता है। जैसा अंतरंग होता है वैसा ही बहिरंग में परिलक्षित होता है। कोई यह चाहे कि वह बाहर से साज सज्जा एवं वेशभूषा से स्वयं को सभ्य सम्माननीय बना ले तो भी उसका अंतरंग उसके चिंतन के अनुरूप होने के कारण, वह व्यवहार में कहीं न कहीं अपनी झलक दिखा ही देगा। उच्चस्तरीय भाव परक चिंतन की परिणति सभ्य अनुशासित व्यवहार के रूप में होती है। आदर्शनिष्ठा सदैव अच्छे आचरण, दूसरों के प्रति परमार्थ पारायणता, पर-दुःख कातरता, एकात्मभाव के रूप में परिलक्षित होती है। अंतः की सुसंस्कारिता कभी भी अंतः तक ही सीमित होकर नहीं रह जाती। चिंतन श्रेष्ठ हो एवं व्यवहार में उसका कोई प्रतिबिंव न झलके तो उस चिंतन से क्या लाभ? सुसंस्कारिता, सदाचार, सभ्य व्यवहार, कर्त्तव्य परायणता को जन्म दे तो ही उसकी सार्थकता है। इस प्रकार संस्कृति व सभ्यता एक दूसरे से अन्योन्याश्रित रूप से संबद्ध हैं।

प्रयासाऽऽसादितो यस्तु शिष्टाचारः स जायते।
अल्पेऽपि प्रातिकूल्ये तु विशीर्णत्वं स्वतः क्षणात्॥ १६॥

टीका—सीखा हुआ शिष्टाचार, तनिक सी प्रतिकूलता पड़ते ही अस्त-व्यस्त हो जाता है॥ १६॥

व्याख्या—बाह्य जगत का लोकाचार जिस नींव पर टिका है वह है आत्मानुशासन संस्कारों की श्रेष्ठता, आदर्शनिष्ठा। ऐसे लोकाचार में स्थिरता होती है। मात्र प्रदर्शन के लिए किए

जाने वाले आडंबर तो क्षणिक होते हैं, थोड़ी सी चमक भर दिखाकर तिरोहित हो जाते हैं। दुनिया की यह रीति है कि यहाँ बहिरंग को अधिक प्रधानता दी जाती है। जो दूरदृष्टि संपन्न विवेकशील होते हैं, अंतरंग की सुसंस्कारिता को ही दृष्टि में रखकर व्यक्ति का तदनुसार मूल्यांकन करते हैं। यदि शिष्टाचार शिक्षण द्वारा अभ्यास में आ भी गया तो भी उसकी जड़ें मजबूत बनाना चाहिए। उथलेपन की विडंबना से बचना चाहिए।

यथार्थत्वं गभीरत्वं यत्र तत्र समापतेत्।
झञ्झावातोऽपि चेत्तर्हि सदाचारतरुर्दृढः ॥१७॥
न भवेच्चलमूलः सस्थिरता तत्र पूर्ववत्।
पारम्पर्येण संस्कार-निर्मितिर्युज्यते त्वतः ॥१८॥

टीका—जहाँ यथार्थता और गंभीरता होती है, वहाँ आँधी-तूफान आने पर भी सद्व्यवहार रूपी परिपुष्ट वृक्ष की जड़ें हिलती नहीं। स्थिरता यथावत् बनी रहती है। अतः संस्कारों को पैदा करने की परम्परा बनाये रखनी चाहिए॥१७-१८॥

व्याख्या—संस्कारों को व्यवहार में समाविष्ट करके ही कोई व्यक्ति सुसंस्कृत कहलाया जा सकता है। महामानवों की यही रीति-नीति रही है। वे वास्तविकता एवं गंभीर आदर्शवाद में विश्वास रखते हैं। न तो स्वयं हवा में उड़ते हैं, न दूसरों को इसके ख्वाब दिखाते हैं। अंतः में दृढ़ता से जमे संस्कार व्यक्ति को प्रखर तेजस्वी मनस्वी बनाते हैं। ऐसे व्यक्ति जो कहते हैं, वह प्रभावकारी होता है। कथनी व करनी में अन्तर न होने से वे सहज ही सभी के लिए अनुकरणीय बन जाते हैं। महामानव प्रगति का समापन किसी बिन्दु विशेष को न मानकर सतत संस्कार अभिवर्धन की, आदर्शवादिता को अंतः में समाविष्ट करते रहने को अपनी परम्परा सतत चलाए रखते हैं। उनका जीवन जीती-जागती किताब बन जाता है। वह बताता है कि किसी को भी ऊँचा उठना हो, तो उसे पहले अपनी जड़ें मजबूत बनाना चाहिए। उथलेपन की विडम्बना से बचना चाहिए।

संबंधे संस्कृतेरेतद् विद्यते साऽऽत्मनिर्भरा।
भवति स्वगरिम्णस्तु द्रष्टारः सम्मुखे स्थिताः॥ १९॥
नराः किं कुर्वते नैतज्जातु पश्यंति कुत्रचित्।
अशुभेषु शुभेष्वेते संति कालेषु मानवैः॥ २०॥
भिन्नप्रकृतिभिर्योगे स्वौत्कृष्ट्यं प्रतिनिर्भराः।
झञ्झावाते न जायंते विक्षुब्धा गिरयश्चला॥ २१॥

टीका—संस्कृति की यह विशेषता है कि यह आत्म निर्भर होती है। अपनी गरिमा का बोध रखने वाले यह नहीं देखते कि सामने वाले क्या करते हैं। वे भले और बुरे अवसरों पर विपरीत प्रकृति के व्यक्तियों से पाला पड़ने पर भी अपनी उत्कृष्टता के संबंध में आत्मनिर्भर रहते हैं। बवंडर आने पर भी पर्वत न तो हिलते हैं और न विक्षुब्ध विपन्न होते हैं॥ १९-२१॥

व्याख्या—अनुकूलताएँ-प्रतिकूलताएँ जीवन में सदैव आती रहती हैं। किंतु इन झंझावातों से अप्रभावित बने रहकर आदर्शनिष्ठ व्यक्ति प्रयास-पुरुषार्थ में सतत निरत रहते हैं। वे इन क्षणिक परिवर्तनों से विचलित नहीं होते। उन्हें अपने सुदृढ़ संस्कारों के कारण स्वयं पर, अपने श्रेष्ठता के समर्थक चिंतन पर विश्वास होता है एवं वही उन्हें सारी कठिनाइयों से उबारकर महानता के पथ पर ले जाता है।

श्रेष्ठतानां समाजस्था मर्यादा अनुशासनम्।
उच्यते पालनीयं तत्सर्वैरेव च मानवैः॥ २२॥
अनुशासनजा नूनं व्यवस्था स्थिरता ततः।
प्रगतिः स्थिरताहेतोः समागच्छति च क्रमात्॥ २३॥

टीका—श्रेष्ठता की समाजगत मर्यादाओं को अनुशासन कहते हैं। वह सभी के लिए पालने योग्य है। उसके प्रति किसी को उपेक्षा या अवज्ञा नहीं बरतनी चाहिए। अनुशासन से व्यवस्था चलती है। व्यवस्था से स्थिरता रहती और प्रगति होती है॥ २२-२३॥

व्याख्या—समाज की सुव्यवस्था का मूलभूत आधार है निर्धारित अनुशासनों का परिपूर्ण निष्ठा के साथ निर्वाह। न्याय एवं प्रशासनिक विभाग शासन तंत्र की ओर से इस कार्य को निभाते हैं। वे नागरिकों को इस बात का आश्वासन देते हैं कि समूहगत व्यवस्था में कहीं ढील न आने दी जाएगी। जहाँ भी कहीं वर्जनाओं का उल्लंघन होगा, वहाँ समुचित दंड का भी प्रावधान होगा।

जहाँ तक समाज का नागरिक स्तर पर प्रश्न उठता है, वह जन-जन के मन में संव्याप्त अनुशासन पर निर्भर है। सामाजिक बंधनों से कोई भी मुक्ति नहीं है। वे सबके ऊपर समान रूप से लागू होते हैं। किसी भी समूह, समाज या तंत्र की व्यवस्था का मूल है हर एक के मन में अनुशासन की जिम्मेदारी की भावना का विकसित होना। राष्ट्रीय चरित्र का यही मापदंड है कि वहाँ के नागरिक अपने कर्त्तव्यों के प्रति कितने सचेत हैं। किसी ने उनके लिए क्या किया, इससे अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि वे समाज एवं राष्ट्रगत वर्जनाओं का पालन करते हैं, अथवा नहीं।

उद्धता शिक्षिता मर्त्याः स्वाहंकारसमुद्भवम्।
कुसंस्कारत्वमाश्रित्योच्छृङ्खलत्वं चरंत्यलम्॥ २४॥
फलतस्तु सहंते ते दुःखान्यन्येभ्य एव च।
भवंति दुःखदा नीचैः पतंतः पातयन्त्यपि॥ २५॥
अनुशासनहीनत्वात् विशीर्णत्वमुपैति यत्।
तस्मात्संपन्नता नश्येत् सामर्थ्येन सहैव तु॥ २६॥
अपेक्षया च लाभस्य ततो दृश्यं तु दुःखदम्।

प्रत्यक्षतामुपैत्येवं पश्चात्तापोऽवशिष्यते॥ २७॥

टीका—उद्धत अनगढ़ लोग अपनी अहंता की कुसंस्कारिता से प्रेरित होकर उच्छृंखलता बरतते हैं। फलतः स्वयं गिरते और दूसरों को गिराते हैं। अनुशासनहीनता से जो बिखराव उत्पन्न होते हैं, उसके कारण उपलब्ध समर्थता एवं संपन्नता बुरी तरह नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है और उनके द्वारा लाभ के स्थान पर हानि का दुःखदाई दृश्य ही सामने आता है एवं पश्चाताप ही शेष रहता है॥ २४-२७॥

व्याख्या—समाज समग्ररूप में एक अनुशासनबद्ध तंत्र है। मनुष्य उसकी एक इकाई है। किसी भी भवन का यदि एक भाग कमजोर होता है तो वह शीघ्र ही गिर जाता है। लकड़ी में लगी घुन शहतीर को खोखला कर उसे टूटने को विवश कर देती है। इस पर टिकी बुनियाद कमजोर ही होती है। सेना के सिपाही एक होकर जब लड़ते हैं तो सामने वालों के छक्के छुड़ा देते हैं। अनियंत्रित युद्ध करें तो मुट्ठी भर व्यक्ति ही इन पर काबू पा सकते हैं।

समाज तंत्र पर भी यही बात लागू होती है। अहमन्यता व्यक्ति को उद्धत बना देती है एवं वे सभ्यता की अपनी वर्जनाएँ भूलकर जो व्यवहार करते हैं, अंततः वह उनके एवं सारे समूह-समाज के विनाश का कारण बनता है। झाड़ू की सीकें जब तक एक साथ बँधी हैं, तब तक उपयोगी भी हैं। एक बार अलग होने पर वे कूड़े में फेंकने लायक रह जाती हैं। मनुष्य समर्थ है, सर्वगुण संपन्न है, किंतु अनुशासन के अभाव में वह एक उच्छृंखल वन में घूमते शेर के समान है। संस्कारवश उत्पन्न अनगढ़ता और चिंतन में समाई अहंता उनकी सामर्थ्य को भी क्षीण कर डालती है एवं ऐसे व्यक्ति अंततः दुःख के कारण बनते हैं। इन्हें जानना-पहचानना व इनके सुधार के प्रयास करना बहुत अनिवार्य है ताकि समाज की व्यवस्था सुचारु रूप से चलती रहे, सभी सुख-शांतिपूर्वक एक साथ रह सकें।

सृष्टिस्थितौ हि सर्वत्र व्यवहारोऽभिजायते।
अनुशासनजः सर्वे निर्जीवा जीविनोऽथवा॥ २८॥
ग्रहाः पदार्थाः पिंडाद्या वनस्पति-समा अपि।
अनुशासनसंबद्धाः स्थिराः संत्यात्मसत्तया॥ २९॥
एषु येऽपि च गृह्णंति स्वेच्छाचारं व्रजंति ते।
विनाशं स्वयमन्येभ्यो विपत्तिर्भावयंत्यपि॥ ३०॥

टीका—सृष्टि व्यवस्था में सर्वत्र अनुशासन ही बरता जा रहा है। ग्रहपिंड, पदार्थ, वनस्पति तथा सजीव-निर्जीव सभी सृष्टि व्यवस्था के अनुशासन में जकड़े रहकर ही अपनी सत्ता बनाए हुए हैं। इनमें से जो भी स्वेच्छाचार बरतता है, वह स्वयं तो नष्ट होता ही है, दूसरों के लिए भी विपत्ति खड़ी करता है॥ २८-३०॥

व्याख्या—मनुष्य की काया से लेकर जीव-जंतु समुदाय तक, पदार्थों में दौड़ लगाते अणु-परमाणु समूहों से लेकर ब्रह्मांडव्यापी ग्रह-नक्षत्रों तक तथा विराट प्रकृति के अनन्य घटक वृक्ष-वनस्पति समुदाय में एक ही एकात्म भाव समाया हुआ है। वह है समष्टिगत अनुशासन का। कोई भी क्रिया व्यापार अनुशासन की परिधि से बाहर नहीं है। यदि ऐसा न होता तो सारी सृष्टि में अराजकता की स्थिति आ गई होती एवं विधाता का सारा सिराजा बिखरा गया होता। इसका दूसरा पक्ष भी उतना ही सही है। जो भी इस नियम को तोड़ता एवं प्रकृति व्यवस्था के प्रतिकूल आचरण करता है, उसे स्वयं दंड भुगतना पड़ता है। बिगाड़ से अव्यवस्था उत्पन्न कर समूह के अन्य घटकों के लिए तो विपदा वह उत्पन्न कर ही जाता है।

अनुशासनपराश्चात्र संयुक्तां सैनिका निजाम्।
परिचाययंति शक्तिं ते लोके मान्या भवंति च॥ ३१॥

टीका—सैनिक अनुशासन पालते और संयुक्त शक्ति का परिचय देते हैं, इसी से सभी पर उसकी धाक रहती है॥ ३१॥

जीवन क्षेत्र में भी अनुशासन पालन करने वाले अपनी धाक जमाए और दूसरों पर छाए रहते हैं। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण गाँधी जी थे।

लघवः कीटका ताश्च चीटिका मधुमक्षिका।
वल्मीककृमयश्चापि तेऽनुशासनगौरवम्॥ ३२॥
जानंति मानवा एव ततः किं ज्ञानशीलताम्।
परित्यज्य हि स्वीकुर्युरौच्छृंखल्यमनीप्सितम्॥ ३३॥
अपमानं गरिम्णो यत्तस्य नूनं च विद्यते।
व्यवहारे नात्ममानी तत्कदाचिन्नियोजयेत्॥ ३४॥

टीका—चींटी, दीमक तथा मधुमक्खी जैसे छोटे कृमि-कीटक अनुशासन का महत्त्व समझते हैं, फिर मनुष्य ही क्यों अपनी विवेकशीलता खोकर अनभीष्ट उच्छृंखलता बरते। यह उसकी गरिमा का अपमान है, जिसे कभी भी आत्मसम्मानी को अपने व्यवहार में सम्मिलित नहीं होने देना चाहिए॥ ३२-३४॥

व्याख्या—यहाँ पशुपक्षियों जीवजंतुओं के उदाहरणों द्वारा प्रकृतिगत अनुशासन की महत्ता बताते हुए मनुष्य के लिए तो उसे अनिवार्य बताया ही गया है। मनुष्य जीवधारी समुदाय में सर्वश्रेष्ठ बुद्धि संपन्न प्राणी माना जाता है। उससे तो विधाता की अपेक्षाएँ और भी अधिक हैं।

सम्मानं नृगरिम्णः सा ह्यनुशासनसंसृतिः।
अनुशासिताः समर्थाः स्युरन्याश्चाप्यनुशासितान्॥ ३५॥

टीका—अनुशासन पालना मानवी गरिमा का सम्मान है। जो अनुशासन पालते हैं, वे ही दूसरों को अपने अनुशासन में

रख सकने में समर्थ होते हैं॥ ३५॥

व्याख्या—स्वयं अपने पर अनुशासन निभा पाने में ही वह समर्थता विकसित हो पाती है, जिससे वह अन्य व्यक्तियों के लिए अनुकरणीय बनता है। जीवन की दैनंदिन गतिविधियों में इसका कितना समावेश हुआ, इसी पर समर्थन-सहयोग एवं जन सम्मान निर्भर है।

कर्तुमुच्छृंखला ये तु स्वयं तादृक् प्रतिक्रियाः।
अयोग्या सम्मुखे तेषामुपयांति सुपीडकाः॥ ३६॥
प्रकृत्तेरनिवार्येयं दंडदानव्यवस्थितिः।
श्रमं कर्तुं विशीर्णा तां नाह्वयेन्नाशमात्मनः॥ ३७॥

टीका—उच्छृंखलता अपनाने वालों को बदले में वैसी ही अनुपयुक्त प्रतिक्रिया का सामना करना पड़ता है। प्रकृति की दंड व्यवस्था अपरिहार्य है, उसे अस्त-व्यस्त करने के प्रयत्न अपनाकर सर्वनाश करने की मूर्खता किसी को नहीं करनी चाहिए॥ ३६-३७॥

लोकसेवां समाश्रित्याऽनृणः सामाजिकादृणात्।
मर्यादैवास्ति पूता च वानप्रस्थपरंपरा ॥ ३८॥
प्रामाणिकत्वमाप्तुं च नीतिमत्ता समीहिता।
अनिवार्यतया चात्र चरित्रे तु कलंकता॥ ३९॥
पवित्राणां तथा तासां मर्यादानां विलंघनम्।
कुरुतो दुर्बलं मर्त्यमविश्वस्तो भवेच्च सः ॥ ४०॥

टीका—लोकसेवा अपनाकर समाज ऋण से उऋण होना मर्यादा होता है। वानप्रस्थ पुनीत परंपरा है। प्रामाणिकता अर्जित करने के लिए नीतिवान होना आवश्यक है। चरित्र पर उँगुली उठाने एवं पवित्र मर्यादाओं का उल्लंघन करने वाला मनुष्य भीतर से दुर्बल पड़ जाता है और उसका विश्वास चला जाता है। ३८॥ ४०॥

व्याख्या—मर्यादा, अनुशासन व्यवस्था इन सबकी परिधि बड़ी विस्तृत है। व्यक्ति को स्वयं पर तो अंकुश लगाना ही पड़ता है, स्वयं को चरित्रवान बनाना पड़ता है, अपने पुरुषार्थ-साधन को सत्कार्यों में नियोजित भी करना पड़ता है। अंतः से उद्भूत सुसंस्कारिता-व्यवहार में अनुशासन एवं निष्ठा निष्ठा परमार्थ परायणता के रूप में सार्थक बनती है। दोनों ही एक दूसरे के बिना अधूरे हैं।

कुरीतीनां तथैवान्धक्रमाणां च विरोधिता।
अन्यरूपोपयुक्तानां व्यवस्थानामिह स्वयम्॥ ४१॥
सामाजिकानां दुर्वृत्योल्लंघनस्य प्रदर्शनम्।
अन्यदेव चरित्रेण युक्तो भवति शक्तिमान्॥ ४२॥
मर्यादापालको मर्त्यः पुरुषोत्तम उच्यते।
असामान्यं बलं तस्याऽसामान्यश्च पराक्रमः॥ ४३॥

टीका—कुरीतियों का अंध परंपराओं का विरोध करना एक बात है और उपयुक्त समाज व्यवस्थाओं का उल्लंघ करने में उच्छृंखलता दिखाना सर्वथा दूसरी। चरित्रवान ही शक्तिवान होता है। जो मर्यादाओं का परिपालन करता है, उसे पुरुषोत्तम कहते हैं। उसका बल-पराक्रम असाधारण होता है॥ ४१-४३॥

व्याख्या—ऐसा व्यक्ति छोटा हो, तो भी उसकी प्रामाणिकता ही उसे वजनदार बना देती है। सच बात कहने में वे हिचकते नहीं।

धर्मयुग्मे तृतीये च शास्त्रकारैस्तु मानितः।
अनुशासनवश्योऽयमनुबंधो महत्त्ववान्॥ ४४॥
आत्मानुशासनं ह्येतद् व्यवहार्यं निजेच्छया।
कृत्यप्रकृतिसंबंधे विचाराकांक्षयोरपि॥ ४५॥
सामाजिकावृतौ सत्यामपि क्षेत्रस्य चास्य तु।
औत्कृष्ट्यावरणं कार्यं स्वयमेव नरैरिह॥ ४६॥

टीका—धर्म के तृतीय युग्म में शास्त्रकारों ने अनुशासन की तरह ही अनुबंध को भी महत्त्व दिया है। यह आत्मानुशासन है, जो अपनी आकांक्षाओं, विचारणाओं, गतिविधियों तथा आदतों के संबंध में स्वेच्छापूर्वक बरता जाता है। सामाजिक दबाव होते हुए भी उस क्षेत्र की उत्कृष्टता का वरण स्वयं ही करना होता है॥ ४४-४६॥

व्याख्या—स्वेच्छा से अपने ऊपर लागू किया गया अनुशासित जीवन क्रम इतना सरल नहीं है, जिसे सहज अपनाया जा सके। समाज-व्यवस्था, प्रचलन, रीति-रिवाज एवं तत्कालीन प्रवाह के दबाव जैसे प्रतिरोधों से जुझते हुए कसौटी पर खरे उतरना एक बहुत बड़ा पुरुषार्थ है। क्या उचित है, क्या अनुचित, इसकी काट-छाँट करते हुए श्रेष्ठता का चयन खुद ही करना पड़ता है। इतना विवेक जिसका जागृत हो, वही महामानव बनने की दिशा में आगे बढ़ सकने की पात्रता रखता है।

महतां मानवानां तु व्यवहारोऽथ चिंतनम्।
अंतःस्थितौ प्रेरणायां यातो निर्भरतां सदा॥ ४७॥
गृह्णन्ति श्रेष्ठता - मात्रमनीप्सितमिमे क्षणात्।
पराङ्मुखं प्रकुर्वन्ति विकृतिं यान्ति नो ततः॥ ४८॥

टीका—महामानवों का चिंतन तथा व्यवहार अंतः की स्थिति तथा प्रेरणा पर निर्भर रहता है। वे दूसरों से मात्र श्रेष्ठता की प्रेरणाएँ ही ग्रहण करते हैं। अवांछनीयता के आरोपण को वे तत्काल वापस लौटा देते हैं, इसी से वे विकृत स्थिति में नहीं पहुँचते हैं॥ ४७-४८॥

व्याख्या—जैसी अंदर से उद्भूत प्रेरणाएँ होती हैं वैसा ही बाह्य जीवन क्रम ढल जाता है। श्रेष्ठता पर भी मापदंड लागू होता है। महामानव बनने की उमंग अंतः से तो जन्मती ही है, प्रचलन प्रवाह से संव्याप्त उत्कृष्ट प्रेरणाओं के चयन पर भी यह निर्भर करता है कि कौन किस स्तर तक विकसित है।

मात्र उचित का चयन एवं अवांछनीय का निरस्तीकरण ही महामानवों के जीवन की रीति-नीति होनी चाहिए।

आनुकूल्यं प्रपश्यंति जीवात्मपरमात्मनोः।
केवलं तेन संतुष्टाः तिष्ठंत्यात्मरताः सदा॥ ४९॥
ध्यानं ददति निन्दायां स्तुतौ वा ते यदात्विमे।
न्यायनिष्ठैः कृते स्यातामपक्षैश्च विवेकिभिः॥ ५०॥
विवेकहीनाः पश्यंति स्वानुरूपान् समानपि।
निन्दंति वा प्रशंसंति निःसारां दृष्टिमाश्रिताः।
तन्न ध्यायन्ति विज्ञास्तु जायंते न प्रभाविताः॥ ५१॥

टीका—वे मात्र आत्मा और परमात्मा की अनुकूलता का ही ध्यान रखते हैं और इतना बन पड़ने से ही पूर्ण संतुष्ट रहते हैं। निंदा स्तुति पर वे तभी ध्यान देते हैं, जब वह निष्पक्ष, विवेकवान और न्यायनिष्ठों द्वारा की गई हो। अविवेकी तो अपने अनुरूप सबको देखते हैं और उथला दृष्टिकोण अपनाकर निंदा या प्रशंसा करते हैं, उस पर विज्ञजन न तो ध्यान देते हैं और न प्रभावित होते हैं॥ ४९-५१॥

व्याख्या—निंदा विवेकवान की ग्राह्य है, क्योंकि उससे उचित-अनुचित का पता चलता है। अनर्गल प्रलाप करने वालों की संसार में कोई कमी नहीं। उन पर न तो ध्यान देने की आवश्यकता है, न ही स्वयं के चिंतन को असंतुलित होने देने की। महामानवों की सबसे बड़ी विशेषता है औचित्य का वरण एवं निंदा-प्रशंसा से विचलित हुए बिना सही मार्ग पर चलते जाना। इस कसौटी पर जो क्षुरस्यधारा के समान है, खरे उतरना हर किसी के लिए सहज नहीं है।

अनुशासनं परैरेव द्रष्टव्यं भवतीति यः।
पालयेत्पूज्यते स तु निंद्यते य उपेक्षकः॥ ५२॥
अन्तरंगोऽनुबंधस्तु ज्ञानं तस्यात्मनो भवेत्।
तपसा तेन स्वात्मैव बलिष्ठो जायते ध्रुवम्॥ ५३॥
व्यक्तित्वं स्वं समुद्गच्छेत् संतोषोल्लासयोरपि।
प्राप्तिर्भवति सोऽयं चानुबंधो व्रतधारणम्॥ ५४॥
दुर्विचारपरित्यागसद्विचाराप्तिरेव च।
अनुबंधो बुधैः प्रोक्तः संस्कर्ता यो नृणामिह॥ ५५॥

टीका—अनुशासन दूसरों को दीख पड़ता है। पालन करने वालों की प्रशंसा और तोड़ने वालों की निंदा होती है, अनुबंध अंतरंग होता है। उसकी जानकारी अपने को ही रहती है। उस तपश्चर्या से अपनी ही आत्मा बलिष्ठ होती है अपना ही व्यक्तित्व उभरता है और अपने को ही संतोष उल्लास की प्राप्ति होती है। अनुबंध व्रत धारण को कहते हैं। मात्र श्रेष्ठ विचारों को अपनाना, बुरे विचारों का मनःक्षेत्र में प्रवेश करते समय उन्हें खदेड़ भगाना अनुबंध है, जो मनुष्यों को सुसंस्कृत बनाता है॥ ५२-५५॥

अनावेशस्थितिर्बुद्धेः सदा सन्तुलनं तथा।
शुभाशुभोक्तौ शान्त्या स विचारः पर्यवेक्षणम्॥ ५६॥
पक्षस्यास्य विपक्षस्य कृत्वा निष्पक्षभावतः।
न्यायावाप्तिरिह प्रोक्तं शीलं सर्वसुखाकरः॥ ५७॥

टीका—आवेश में न आना, संतुलन बनाए रहना, भले-बुरे कथन पर शांतिपूर्वक विचार करना और पक्ष-विपक्ष का पर्यवेक्षण करते हुए किसी निष्पक्ष न्याय-निष्कर्ष पर पहुँचना शील है जो समस्त सुखों का खजाना है॥ ५६-५७॥

कृत्यान्यवाञ्छनीयानि भ्रमविस्मृतिकारणात्।
जायंतेऽत्र बहून्येवं दुर्बुद्ध्याऽपि तथैव च॥ ५८॥
भिन्नतामुभयोः कुर्वन्ननुरूपेण शोधितुम्।
यत्नो यो धैर्यमाहुस्तं सर्वाण्येतानि संति च॥ ५९॥

टीका—कितने ही अवांछनीय कृत्य भूल या भ्रमवश बन पड़ते हैं, कई जान बूझकर दुष्ट बुद्धि से होते हैं। दोनों में अंतर करते हुए तदनुरूप सुधार का प्रयत्न करना धैर्य कहलाता है। यह सभी व्रत अनुबंध हैं॥ ५८-५९॥

व्याख्या—अनुबंध की, जो आंतरिक अनुशासन का ही दूसरा नाम है, परिधि बड़ी विस्तृत है। यह एक प्रकार का व्रत बंधन है, जिसमें आंतरिक पुरुषार्थ के माध्यम से आत्मावलोकन पर्यवेक्षण कर अपने दोष-दुर्गुण मिटाकर चिंतन को दिशा दी जाती है। यह एक समयसाध्य प्रक्रिया है। कभी-कभी व्यक्ति दुर्बुद्धिवश ऐसे कृत्य कर बैठता है जो मर्यादा लाँघ जाते हैं। इन पर कड़ी दृष्टि अनिवार्य है। इन पर रोकथाम लगाकर शील को निभाना एक बहुत बड़ा आत्मिक पुरुषार्थ है।

व्रतानुबंधनामानि मानवोत्कर्षहेतवः।
सदा व्यसनराहित्यं स्वभावोऽयोग्य एष यः॥ ६०॥
तदधीनानां परिज्ञानं तेषां त्यागः शनैः शनैः।
एकवारेण वाऽप्येषा कथिता व्रतशीलता॥ ६१॥

टीका—व्रत और अनुबंध ही मानव उत्कर्ष के हेतु हैं। दुर्व्यसनों से बचे रहना, जो अनुपयुक्त आदतें स्वभाव का अंग बन गई हैं, उनकी हानियों को समझना और एक बारगी अथवा धीरे-धीरे छोड़ने में लग पड़ना व्रतशीलता है॥ ६०-६१॥

व्याख्या—व्रतों से जुड़कर ही व्यक्ति ऊँचा उठ पाता है। संकल्पबद्ध हो जाने पर पुरुषार्थ पूरे मनोयोग से उस दिशा में नियोजित हो जाता है। जो भी अवांछनीय है उससे बचना जितना जरूरी है, उतना ही सत्प्रवृत्तियों से जुड़ना भी।

अविकासस्थिता याश्च सत्प्रवृत्तय उन्नतान्।
तासां बीजांकुरान् कर्तुं लग्नतोत्साहिनस्तु या॥ ६२॥

टीका—जो सत्प्रवृत्तियाँ अभी विकसित नहीं हो पाई हैं उनके बीजांकुरों को अंकुरित पल्लावित करने में उत्साहपूर्वक लग पड़ना अनुबंध है॥ ६२॥

व्याख्या—संकल्प अकेले ही पर्याप्त नहीं। उन्हें खाद-पानी देना भी जरूरी है। यह तभी संभव है जब मनुष्य सत्प्रवृत्तियों के जीवन में समावेश हेतु तत्परता से जुट पड़ता है।

अनुबन्धः समाख्यातो गुणकर्मस्वभावके।
क्षेत्रे सद्‍वृत्तिमात्राणां वर्धनस्य मनः स्थितिः॥ ६३॥
दुष्प्रवृत्तिः सदा सर्वस्तराः शीघ्रतयैव ताः।
दूरीकर्तुं च सोत्साहं तत्परत्वमपीह च॥ ६४॥

टीका—गुण-कर्म-स्वभाव के क्षेत्र में मात्र सत्प्रवृत्तियों को ही पनपने बढ़ने देना चाहिए। दुष्प्रवृत्तियाँ जब भी जिस स्तर की भी उगती दीखें, उन्हें सहन न करना, अविलंब उखाड़ फेंकने में तत्परता प्रकट करना अनुबंध है॥ ६३-६४॥

व्याख्या—यदा-कदा पनप उठने वाली बुराइयों की बाढ़ की कटाई-छँटाई समय पर करते रहना बहुत जरूरी है। यह अनुबंध, अनुशासन, व्रतशीलता की परिभाषा में ही समाया एक ऐसा तथ्य है, जिसे हर व्यक्ति को सतत ध्यान में रखना चाहिए।

अन्विष्यन्ति कुसंस्कारान् सञ्चिताञ्जागृतात्मनः।
उत्पाटयंति ता मालाकारा इव तृणादिकम्॥ ६५॥
उद्यानात्सततं व्यक्तेः स्वभावादात्मनोऽस्ति सा।
श्रेष्ठताया अभिव्यक्तिर्दृश्यंते सज्जनाः सदा॥ ६६॥

व्यक्ति का स्वभाव ही उसके बहिरंग व्यवहार में झलकता है। माली की तरह आदमी को आत्मिक क्षेत्र में सतत निराई-गुड़ाई कर सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ाने का अभ्यास करते रहना चाहिए। यही वास्तविक पराक्रम है, जो मानव को देवमानव बनाता है।

सत्कर्माभिरता विज्ञा गुणवंतो भवंति ते।
प्रतिभाः क्षमतास्ते च वर्धयंति वरिष्ठताम्॥ ६७॥
कुमार्गप्रस्थितानन्यान् वीक्ष्य नानुसरंति तान्।
न चाकृष्टा भवन्त्येते तैर्नैरैर्न प्रभाविताः॥ ६८॥
परं मार्गं विनिर्मान्ति स्वयमेवात्मनः सदा।
निर्मान्ति श्रेष्ठतां स्वां तेऽक्षुण्णां संकल्पमात्रगाम्॥ ६९॥

टीका—विज्ञजन तो गुणवान भी होते हैं। वे अपनी क्षमता, प्रतिभा तथा वरिष्ठता का स्तर निरंतर बढ़ाते रहते हैं। दूसरे को कुमार्ग पर चलते देखकर, उनका अनुकरण नहीं करते, न उनसे प्रभावित आकर्षित होते हैं, वरन् अपना मार्ग आप बनाते हैं। अपनी श्रेष्ठता एकाकी संकल्प के आधार पर अक्षुण्ण रखते हैं। ६७-६९॥

व्याख्या—कहा गया है कि मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप ही है। इसका अर्थ यही हैं कि चुनाव की स्वतंत्रता को ध्यान में रखते हुए मनुष्य को औचित्य के पथ का ही अवलंबन लेना चाहिए। कोई और न मिले तो एकाकी पुरुषार्थ के बल पर अपना ध्येय निर्धारित कर श्रेय पथ पर चल पड़ना चाहिए। महापुरुष लीक पर न चलकर, इसी कारण अपना मार्ग स्वयं बनाते एवं उत्कृष्टता का वरण कर प्रगति के चरम शिखर पर जा पहुँचते हैं।

एतादृशैर्नैरैरन्येऽसंख्या लोकाः प्रभाविताः।
जायंतेऽनुसरन्त्येतान् भव्यान् मंगलरूपिणः॥ ७०॥
प्रभावयंति नो तांस्तु दुर्जना अपि तु स्वयम्।
स्वसौजन्यप्रभावेण कुर्वते तान्स्वतोऽन्यथा॥ ७१॥

टीका—ऐसे दृढ़ निश्चय मनुष्यों से अगणित लोग प्रभावित होते और अनुसरण करते हैं ऐसे मनुष्य भव्य मंगल स्वरूप होते हैं। दुर्जन उन्हें प्रभावित नहीं कर पाते, वरन् वे अपनी सज्जनता के प्रभाव से उन्हें ही बदलने में सफल होते हैं॥ ७०-७१॥

खंडयन्ति व्रतं स्वं नो दृढसंकल्पसंयुताः।
संयोगात्खंडिते प्रायश्चित्तं ते कुर्वते ध्रुवम्॥ ७२॥
त्रुटौ कदाचिज्जातायां पातयंति मनोबलम्।
नैव तेऽपि तु द्वैगुण्यसाहसेन पुनस्तथा॥ ७३॥
निश्चयं तं समादाय पुनः स्यान्न त्रुटिः क्वचित्।
अर्जयंति ततस्तत्र महत्तच्च मनोबलम्॥ ७४॥
मालिन्यं चिंतनक्षेत्रसमुद्‍भूतं नरास्तु ये।
क्षालयंति जयन्त्यत्र विचारैस्तु विचारकान्॥ ७५॥
चारित्र्यं न पतत्येषां भ्रष्टता चिंतने तु या।
दुष्टतायाः समावेशमाचारे कुरुते तु सा॥ ७६॥
तथ्यमेतद् विजानंति रक्षन्त्यात्मानमत्र च।
अवाञ्छनीयताऽऽकर्षात्तैरेवात्मधनुर्धरैः ॥ ७७॥
प्रेम सत्सहयोगोऽपि चाप्यते परमात्मनः।
यतात्मा यो नरो नैव स पराजयते क्वचित्॥ ७८॥
विश्वजेता स एवास्ति यतात्मा मानवस्तु यः।
बोधयंति नरं चैतत् पन्थानः शास्त्रदर्शिताः॥ ७९॥

टीका—संकल्पवान अपना व्रत तोड़ने नहीं, संयोगवश कभी टूटे, तो उसका प्रायश्चित करते हैं। कभी कोई भूल होने पर मनोबल गिरने नहीं देते, वरन दूने साहस के साथ फिर उस निश्चय पर आरूढ़ होते और भूल की पुनरावृत्ति न होने देने के लिए अधिक मनोबल जुटाते हैं। जो चिंतन क्षेत्र की मलीनता को धोता रहता है, कुविचारों को, सद्‍विचारों की सेना एकत्रित कर, परास्त करता रहता है। उसका चरित्र गिरने नहीं पाता। चिंतन की भ्रष्टता ही आचरण में दुष्टता का समावेश करती है, जो इस तथ्य को जानते और अवांछनीयता के आकर्षण से आत्मरक्षा करते रहते हैं, उन आत्मिक क्षेत्र के धनुर्धरों को ही भगवान का सच्चा प्यार और सहयोग मिलता है। जिसने अपने को जीत लिया, वह और किसी से हारता नहीं। आत्मविजयी को ही विश्वविजेता कहते हैं। शास्त्रदर्शित

समस्त मार्ग मानवमात्र को यही बोध कराते हैं॥ ७२-७९॥

व्याख्या—अनुशासन यही सिखाता है कि जो भी मन में सत्संकल्प रूपी बीज उठा, उसे पूरी तरह निष्ठा से निभाया जाए। ऐसी स्थिति में महामानवों के पास उनकी बहुमूल्य संपदा मनोबल ही सहायक बनती है। वे चरित्रनिष्ठा पर कड़ी दृष्टि रखते हैं एवं विचार को विचारों से काटकर अपने चिंतन को परिष्कृत बनाए रखते हैं। जिन्होंने इस प्रकार अपने भीतर वाले को सही कर लिया, अपने पर अंकुश लगा लिया, उसे सच्चे अर्थों में शूरवीर कहा जा सकता है।

धर्मानुशासनस्येदमनुबंधस्य विद्यते ।
द्वन्द्वं संस्कृतिशब्देन सभ्यतायाः पदेन च॥ ८०॥
व्यवहरन्ति जना अन्ये ययोर्योगान्निरुह्यते।
नागरित्वस्य भावोऽयं तथा सामाजिकस्य सः॥ ८१॥
ज्ञायते लोक एते च सदाचारस्य नामतः।
व्यवहारस्य नाम्नाऽपि सतश्च यत्र तत्र तु॥ ८२॥

टीका—यह धर्म का अनुशासन और अनुबंध वाला युग्म है। कितने ही इसे सभ्यता और संस्कृति के नाम से, इसकी विवेचना करते हैं। दोनों के मिलने से नागरिकता और सामाजिकता निभती है। उन्हें सद्व्यवहार और सदाचार के नाम से भी जाना जाता है॥ ८०-८२॥

कल्पनाया न धर्मोऽस्ति विषयः कथनस्य च।
कथनं श्रवणं नैव पर्याप्तं त्वस्य सम्मतम्॥ ८३॥
आगन्तव्यं तु धर्मेण निजाचारे तथा च सः।
अंगतां दिनचर्याया नेतव्यो भूतिमिच्छता॥ ८४॥
सार्थक्यमत्र तस्यास्ति स्थितौ चास्यां गतो नरः।
धर्मात्मा वस्तुतस्त्वस्ति फलं प्राप्नोति पुण्यदम्॥ ८५॥
यदुक्तं शास्त्रकारैस्तु कृते धर्मात्मनां नृणाम्।
पारायणं न पुण्यं तत्पाठजं केवलं स्मृतम्॥ ८६॥

टीका—धर्म कल्पना जल्पना का विषय नहीं। उसे आचरण में उतारा जाता है, दिव्यता की प्राप्ति के लिए उसे जीवनचर्या का अविच्छिन्न अंग बनाया जाता है। इसी में उसकी सार्थकता है। इसी स्थिति में पहुँचकर कोई सच्चे अर्थों में धर्मात्मा बनता है और वह पुण्य फल पाता है, जो धर्मात्माओं को मिलने की बात शास्त्रकारों ने कहीं है। पाठ रूप में, जो परायण दैनिक होता है, वह पुण्य नहीं है॥ ८३-८६॥

जनैः सद्भिश्च तत्रत्यैः प्रखरत्वसमन्वयः।
पूतत्वेन सह ज्ञातः सोऽनिवार्यतयाऽथ तैः॥ ८७॥
विनयेनाथ सौजन्यभावेन सह च ध्रुवम्।
अन्वभूवन्निदं सर्वे महत्ता - पथगामिभिः॥ ८८॥
जीवने व्यक्तिगे भाव्यमनुशासनवर्तिभिः।
क्षेत्रे सामाजिके भाव्यं मर्यादानिष्ठतां गतैः॥ ८९॥
ज्ञातः समागमोऽद्यैष उपयोग परः समैः।
उपस्थिता जनाश्चास्य दिनस्यैतद् विवेचनम्॥ ९०॥
मत्वा विशेषरूपेण प्रभावपरिपूरितम्।
प्रसन्नवदनाः सर्वे ययुः सत्र - विसर्जनात्॥ ९१॥

टीका—उपस्थित संतजनो ने पवित्रता के साथ-साथ प्रखरता का समन्वय रहने की आवश्यकता समझी। नम्रता और सज्जनता के साथ इस बात की भी आवश्यकता अनुभव की कि महानता के पथ पर चलने वालों को व्यक्तिगत जीवन में अनुशासन प्रिय और सामाजिक क्षेत्र में उपयुक्त मर्यादाओं के परिपालन में निष्ठावान होना चाहिए। आज का समागम अतीव उपयोगी समझा गया। उपस्थितजन इस दिन के प्रवचन का विशेष प्रभाव लेकर, प्रसन्नचित हो विसर्जित हुए॥ ८७-९१॥

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,
श्री आश्वलायन उद्दालक-ऋषिसंवादे अनुशासनोऽनुबंधः, इति प्रकरणो नाम पञ्चमोऽध्यायः॥

॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

सौजन्य-पराक्रम प्रकरण

प्रभाते पुण्यवेलायां प्रारब्धः सत्समागमः।
नैमिषारण्यगां वातावृतिं पूतां भृशं पुनः॥ १॥
ज्ञानालोकेन कुर्वंश्च प्रखरां समशोभत।
आगन्तारश्च सर्वेऽपि मुनयस्ते मनीषिणः॥ २॥
ज्ञानगंगावगाहेन श्रमे भ्रांतेर्गते भृशम्।
अन्वभूवन्नुदारास्ते धर्मात्मानः प्रसन्नताम्॥ ३॥
गतिशीलः प्रसंगोऽभूदवलम्ब्य कथं नरः।
धर्मस्य धारणां दिव्यां सर्वसाधारणादपि॥ ४॥
जीवनादधिगन्तुं च महामानवतामिह।
अर्हतीति कथं तिष्ठन् सामान्ये नरविग्रहे॥ ५॥
देवजीवनजं प्राप्तुमानन्दं संभवेदिति।
मार्गदर्शनमस्यासीत्सत्रस्य प्रतिपादनम्॥ ६॥

आरुणिः प्रश्नकर्त्ता च पप्रच्छ विनयानतः।
सत्राध्यक्षं च सत्रेऽस्मिन् दिव्ये सोऽद्यतनो मुनिः॥ ७॥
धर्मस्य धारणायाश्च भगवन् विषये शुभे।
ब्रूतां युग्मस्य तुर्यस्य सौजनस्य तथैव च॥ ८॥
पराक्रमस्य सम्बंधः वर्तते कः परस्परम्।
धर्माधारौ कथं प्रोक्तावुभावपि बुधैरिह॥ ९॥

टीका—प्रभात की पुण्य वेला में नित्य चलने वाला संत-समागम नैमिषारण्य के पुनीत वातावरण को और भी अधिक प्रकाश-प्रखरता से भर रहा था। आगंतुक उदार धर्मात्मा, मुनि-मनीषी इस ज्ञानगंगा का नित्य अवगाहन करते हुए भ्रांति की थकान दूर हो जाने से अतीव प्रसन्नता अनुभव कर रहे थे। प्रसंग गतिशील था। धर्म-धारणा का अवलंबन करके किस प्रकार सर्वसाधारण से महामानव बनने का सुयोग मिल सकता है, किस प्रकार सामान्य मनुष्य कलेवर में रहते हुए भी देव जीवन का आनंद लिया जा सकता है, इसका मार्गदर्शन इस सत्र का विशेष विषय था। आज के प्रश्नकर्त्ता आरुणि ने विनयावनत होकर सत्राध्यक्ष से पूछा, हे भगवन धर्म धारणा के चतुर्थ युग्म सौजन्य और पराक्रम के संबंध में प्रकाश डालने का अनुग्रह करें। बताएँ कि उनका परस्पर क्या संबंध है और उनको धर्म का आधार क्यों कहा गया है?॥ १-९॥

आश्वलायन उवाच

उपस्थिता जनाः सर्वे शृण्वन्त्ववदधत्वपि।
धर्मः शब्दान्तरेणाऽत्र मंतव्यः शुभकर्मता॥ १०॥
कर्तव्यमिदमेवास्ति मानवानां तथैव च।
आत्मपूर्णत्वमेवाथ विश्वकल्याणमप्युत॥ ११॥
उभयं प्रयोजनं सिद्ध्येदनेन विधिना स्वतः।
सादर्शां दृढता प्राप्तुमर्ज्याश्च क्षमताः शुभाः॥ १२॥
एतासु प्रथमं युक्तं स्नेहसौजन्यमेव तु।
तत्परत्वं समग्रं च द्वितीयमभिमन्यताम्॥ १३॥

टीका—आश्वलायन ने कहा, प्रश्नकर्त्ता समेत सभी उपस्थितजन ध्यान से सुनें। धर्म को दूसरे शब्दों में सत्कर्म समझें। यही मनुष्य का कर्त्तव्य है। आत्मिक पूर्णता और विश्व कल्याण का उभयपक्षीय प्रयोजन भी इसी से पूर्ण होता है। इस आदर्शवादी दृढ़ता को प्राप्त करने के लिए कुछ प्रमुख क्षमताएँ अनिवार्य रूप से अर्जित करनी होती हैं। इनमें एक हैं स्नेह-सौजन्य और दूसरी हैं समग्र तत्परता॥ १०-१३॥

एका सज्जनता प्रोक्ता तथा कर्मठताऽपरा।
उभयोरपि संबन्धः कथ्यते च पराक्रमः॥ १४॥
पराक्रमश्च देवानां बलविक्रम उच्यते।
आधारमिममाश्रित्य स्थितिमुच्चां भजन्ति ते॥ १५॥
सर्वेषां प्राणिनां ते च कल्याणे मानवाः सदा।
जायंते निरताः श्रेयो विन्दन्त्यपि च संततम्॥ १६॥

टीका—सज्जनता और कर्मठता यह दोनों जब मिलते हैं, तो उनका समन्वय पराक्रम कहलाता है। इसी आधार पर वे उच्चतम स्थिति तक पहुँचते हैं। सबका कल्याण करने में निरत रहते हैं और श्रेय प्राप्त करते हैं॥ १४-१६॥

व्याख्या—धर्म की परिधि असीम है। परिभाषा सरल नहीं, अपितु बहुमुखी होने के कारण किंचित क्लिष्ट भी। धर्म कर्त्तव्यनिष्ठा का पर्यायवाची माना जा सकता है, श्रेष्ठता से अभिपूरित कार्यों में जो निरत हो, वही सच्चा धर्म कहा जा सकता है। मात्र अपनी मुक्ति नहीं, समष्टिगत हित की बात सोचने वाला ही प्रगति के पथ पर बढ़ सकता है। ऋषि श्रेष्ठ यहाँ धर्म के चौथे युग्म के रूप में पारस्परिक स्नेह-सद्भाव एवं सर्वांगपूर्ण तत्परता की चर्चा कर रहे हैं। दोनों ही एक दूसरे के पूरक एवं आदर्श के पथ पर चलने वालों के लिए अनिवार्य हैं। विनम्रता जितनी अनिवार्य है, उद्देश्य के प्रति लगन-दृढ़निष्ठा भी जीवन में उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। ये दोनों जब मिलते हैं, तब प्रखर पराक्रम जन्म लेता है। इस प्रकार दृढ़ता से युक्त विनम्रता एवं जागरूकता का समन्वय उस गुण को जन्म देता है जो जीवन व्यापार चलाने एवं ऊँचा उठने के लिए सभी को अभीष्ट है।

अस्ति सज्जनता नूनं गुणः प्रथमतां गतः।
नम्राः विनयवंतश्च मधुरव्यवहारिणः॥ १७॥
सभ्यताऽभ्याससंपन्नाः सुसंस्कारयुता नराः।
उच्यंते सज्जना लोके सत्यपक्षानुगाः सदा॥ १८॥
हेतोः सज्जनतायाश्च शोभा सा वर्धते नृणाम्।
अशिष्टा दुष्टसंस्कारा नरा ये सन्त्यसंस्कृताः॥ १९॥
सर्वे मानवतां ते तु कुर्वते हि कलंकिताम्।
धूमकेतुसमास्ते तु जगतः श्रेयसां कृते॥ २०॥
सज्जनाः पुरुषैः सर्वैर्व्यवहारं शुभं सदा।
कुर्वते शत्रुभिश्चापि रोगो नाश्यो न रोगवान्॥ २१॥
प्रवृत्तेरपराधिन्या दमने गृह्यतामपि।
शल्यक्रियेव चादत्ता चिकित्साकारिणेव च॥ २२॥
उपक्रमस्तु कर्तव्यो येन ते गलिता क्रमान्।
अन्यानवयवान् कुर्युः कदाचिद् गलितान्नहि॥ २३॥
स्नेहे सद्भावप्राधान्यं पक्षपातस्य न स्थितः।
जायते तत्र सद्भावः हितेच्छा बोधयत्यलम्॥ २४॥

टीका—सज्जनता मनुष्य का आरंभिक गुण है। नम्र, विनयशील, मधुर व्यवहार वाले, सभ्यता की परंपरा से अभ्यस्त, सुसंस्कारी सत्य के पक्षपाती व्यक्तियों को सज्जन कहते हैं। सज्जनता से ही मनुष्य की शोभा बढ़ती है। अशिष्ट, अनगढ़, कुसंस्कारी तो मानवता को कलंकित करते हैं, वह विश्व कल्याण के विनाशसूचक धूम्रकेतु हैं। सज्जन हर किसी के साथ सद्व्यवहार करते है, शत्रु के साथ भी अपराधी के साथ

भी। रोग को मारा और रोगी को बचाया जाता है। अपराधी प्रवृत्ति का दमन करने में चिकित्सक द्वारा की गई शल्य चिकित्सा जैसा उपक्रम अपनाया जाना चाहिए, जो सड़े अवयव को इसलिए काटकर फेंक देता है कि उसके कारण होने वाली सड़न अन्य अवयवों को भी न गला डाले। स्नेह में पक्षपात नहीं, सद्भाव की प्रधानता होती है। सद्भाव का तात्पर्य हितकामना है॥ १७-२४॥

व्याख्या—व्यावहारिक अध्यात्म की शुरूआत सज्जनता से होती है। जिनके अंतः के संस्कार प्रबल प्रखर होते हैं, वे किसी भी स्थिति में चाहे वे कितनी ही प्रतिकूल क्यों न हो, धर्म को नहीं छोड़ते। सज्जनता की शोभा सद्भाव जन्य सद्व्यवहार में है। वे पाप से घृणा करते हैं, पापी से नहीं। जहाँ अंतः में परहित की भावना होगी, वहाँ सामने वाला अपने कितना ही समीपवर्ती क्यों न हो, दृष्टि औचित्यपरक न्यायमूलक होगी। ऐसे व्यक्ति का साथ धर्म भी कभी नहीं छोड़ता।

औदासीन्यमुपेक्षा च शोभते न परस्परम्।
भावः स्वत्व परत्वाख्यो नोपयुक्तो मतो नृणाम्॥ २५॥
हानिरेवैभिरत्रास्ति प्राप्यतेऽनादरात्सदा।
अनादरो मानलाभः सहयोगस्य चापि सः॥ २६॥
लाभः सद्व्यवहारेण जायते यत आत्मनः।
पिपासा प्रेमसंबद्धा जायते तस्य तर्पणम्॥ २७॥
आवश्यकं यथाऽऽहारो दीयते वपुषेऽपि सः।
प्रतीयंते प्रियश्चात्म - भावदन्येऽपि मानवाः॥ २८॥
विस्तरेण प्रियस्यापि प्रसादः प्राप्यते सदा।
परितः स्वं स्वमान्यानां जनानां वा समान्यता॥ २९॥
क्रियते तदनुसारं च व्यवहारे सुखावहा।
परिणतिर्दृश्यते तत्र तत्कालं मोदिनी नृणाम्॥ ३०॥

टीका—एक दूसरे के प्रति उदासी-उपेक्षा और पराएपन का भाव बरतना उपयुक्त नहीं। इससे हानि ही हानि होती है। अनादर के बदले अनादर ही मिलता है। सद्व्यवहार की प्रतिक्रिया भी सम्मान और सहयोग के रूप में उपलब्ध होती है। आत्मा को प्रेम की प्यास है। उसे तृप्त करना भी शरीर को भोजन देने की तरह ही आवश्यक है। दूसरों के प्रति आत्मीयता की भाव स्थापना करने पर वे प्रिय लगते हैं। प्रिय का विस्तार होने से प्रसन्नता बढ़ती है। अपने चारों ओर अपने लोग रहने की मान्यता बनाने और तदनुसार व्यवहार करने पर उसकी सुखद परिणति हाथों-हाथ दीखने लगती है, जो मानव-मात्र को सुखद होती है॥ २५-३०॥

व्याख्या—जो दूसरों के साथ जैसा करता है वैसा ही फल पाता है। जो भले होते हैं, उन्हें बदले में सहयोग समर्थन एवं सम्मान मिलता है। जो दूसरों का अपमान करते हैं, वे बदले में वही पाते भी हैं। अपने अंदर की दुनिया जिसकी जैसी भी है, वही बहिरंग में परिलक्षित होती है। मनुष्य स्वभावतः सद्भाव स्नेह-प्रेम का प्यासा है। उसी से उसका अंतःकरण बना है और वही उसे दूसरों से भी अपेक्षित भी है। जब स्नेह के स्थान पर ईर्ष्या पनपने लगे तो स्वभावतः उसकी प्रतिक्रिया भी वैसी होती है।

इसे विडंबना ही कहा जाना चाहिए कि लोग रोग, शोक और पतन के कारण बाहर ढूँढ़ते दूसरों पर थोपते हैं, पर सच तो यह है कि ये आंतरिक विग्रह के परिणाम होते हैं। बीमारियाँ मन से उपजती हैं। स्वस्थ रहना हो तो मन को ठीक रखना आवश्यक है।

व्यवहारो निजोऽभ्येति समीपे स्वस्य स तथा।
शब्दो वा कंदुकश्चाऽपि सम्मुखस्थगृहस्य तु॥ ३१॥
शिखरात् प्रतिहतौ तीव्रमायातस्तु यथा ध्रुवम्।
स्नेह-सौजन्य-लाभश्चारंभकर्त्रेऽधिको भवेत्॥ ३२॥
अपेक्षया कृतं यं तु नरमुद्दिश्य तस्य तु।
प्रत्यक्षं परिणामः स सेवासद्भावजो मतः॥ ३३॥
अतिरिक्ततया पुण्यं प्राप्यते वर्द्धते तथा।
मानमाधारमेनं च समाश्रित्याप्यते च यत्॥ ३४॥
प्रामाण्यं च वरिष्ठत्वं सहयोगो नृणां ततः।
प्राप्तुं सा न्यूनता नैव काऽपि कुत्रापि दृश्यते॥ ३५॥

टीका—अपना व्यवहार गुंबज की आवाज की तरह, फेंकी हुई गेंद की तरह, सामने वाले से टकराकर अपने पास ही लौट आता है। जिसके प्रति स्नेह, सौजन्य बरता गया है। उसे जितना लाभ होता है उसकी तुलना में उस शुभारंभ करने वाले को अधिक लाभ मिलता है। सेवा के बदले सेवा, सद्भाव के बदले सद्भाव, मिलने का परिणाम तो प्रत्यक्ष ही है। इसके अतिरिक्त पुण्यफल भी मिलता है, सम्मान बढ़ता है और इस आधार पर प्रख्यात हुई प्रामाणिकता और वरिष्ठता पर जन-सहयोग मिलने में भी कमी नहीं रहती॥ ३१-३५॥

यह बात छोटे से छोटे और बड़े से बड़े प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का अनिवार्य सत्य है। छोटे इसी आधार पर बड़े बनते तथा बड़े इसी आधार पर व्यापक सम्मान और श्रद्धा अर्जित करते हैं।

महान्तो मानवास्त्वेनमाधारमभिगम्य ते।
जाताः समुन्नता याता अग्रे सर्वेभ्यः एव च ॥ ३६॥
स्नेहसौजन्ययुक्तानि तेषां वाक्यानि स तथा।
व्यवहारोऽपि सर्वैस्तु मानितो मानवैः शुभः ॥ ३७॥
फलतश्च कृतज्ञत्वभावस्योपकृतेरपि ।
अतिरिक्ततया लाभाः प्राप्ताः प्राप्य तथात्विमान्॥ ३८॥
नरः स्यान्मुदितोऽश्रान्तः गौरवी पुलकाञ्चितः।
जनानां सहयोगेन कर्तुं नृनुन्नतान् समान् ॥ ३९॥

नैतिकाऽध्यात्मिकक्षेत्रे लभतेऽवसरः सदा।
आधारमिममाश्रित्य शिष्टाचारस्य जायते ॥ ४० ॥
व्यवहृते सहयोगस्य दिव्या सा तु परंपरा।
वातावृतिर्यतोऽन्ते च निर्मितास्याच्छुभावहा ॥ ४१ ॥
अवसरः प्रगतेः सर्वैराप्यते नीतिराश्रिता।
स्नेहसौजन्ययोः सिद्धौ परार्थः स्वार्थ एव च ॥ ४२ ॥

टीका—महामानव इसी आधार पर ऊँचे उठे और सबसे आगे बढ़े हैं। उसके स्नेह, सौजन्य से भरे वचन और व्यवहार हर किसी को बहुत भाए। फलतः उनको कृतज्ञता-प्रत्युपकार भावना का अतिरिक्त लाभ भी मिला। इन उपलब्धियों को प्राप्त कर सकने वाला व्यक्ति प्रसन्न-पुलकित रहता है, गौरवान्वित होता है। जन-सहयोग से ही लोगों को ऊँचा उठाने, आगे बढ़ाने का अवसर भौतिक और आत्मिक क्षेत्र में मिलता है। इस आधार पर जन समुदाय में शिष्टाचार, सद्व्यवहार और सहयोग की परंपरा पलती है और उससे उत्तम वातावरण बनता है सभी को प्रगति का अवसर मिलता है। स्नेह-सौजन्य की नीति अपनाने पर स्वार्थ और परमार्थ दोनों ही समान रूप से सधते हैं ॥ ३६-४२ ॥

व्याख्या—महामानवों की पौध से मलयागिरि चंदन की तरह सुवासित वायु के प्रवाह चलते हैं, एवं संपर्क में आने वाले क्षेत्र को प्रभावित करते चले जाते हैं। ऐसे व्यक्ति स्वयं श्रेय को प्राप्त होते हैं एवं अन्य अनेकों के लिए प्रेरणा स्तोत्र बनते हैं। समाज में श्रेष्ठ परंपराएँ इसी कारण जन्मती व उस वर्ग समूह को ऊँचा उठाती हैं। प्रकारांतर से स्नेह-सौजन्य भरी परमार्थ साधना व्यक्ति के हित के साथ समष्टिगत हित साधन भी करती है। इस प्रकार वह हर दृष्टि से जीवन में उतारने योग्य है।

उद्दंडादुर्जनास्ते तु न पराक्रमशालिनः।
भवंति तेऽपराधित्वधिया क्राम्यंति संततम् ॥ ४३ ॥
क्रियात्मकेषु कार्येषु न तु लग्नतया क्वचित्।
स्थातुं समर्था जायन्ते समाजपरिपन्थिनः ॥ ४४ ॥
धैर्यं मनोबलं चास्य कृतेऽपेक्ष्ये भवन्त्यपि।
आदर्शनिष्ठायोगाच्च कार्याण्यत्र महान्त्यपि ॥ ४५ ॥
कष्टानि सहमानैश्च क्रियन्ते तानि मानवैः।
संकल्पं चेदृशं तस्मादधिगच्छंति संततम् ॥ ४६ ॥
मनःस्थितौ तथेदृश्यां नैति कश्चिन्निराशताम्।
योद्धुमुत्सहते चात्राऽसाफल्ये प्रतिगामिभिः ॥ ४७ ॥
पराक्रमयुतानां च नराणां साहसैः श्रमैः।
मनोबलेन सिद्धानि कार्याण्यत्र महान्त्यपि ॥ ४८ ॥

टीका—दुर्जन उद्दंड भर होते हैं, पराक्रमी नहीं। वे अपराधी प्रवृत्ति अपनाकर आक्रमण कर सकते हैं, पर किसी सृजनात्मक कार्य में लगनपूर्वक देर तक टिके नहीं रह सकते, वस्तुतः वे समाज के शत्रु होते हैं। इसके लिए धैर्य और मनोबल चाहिए। आदर्शवादी निष्ठा के योगदान से महान कार्य बन पड़ते हैं। कष्ट सहकर भी उन्हें करते रहने का संकल्प इन्हीं कारणों से मिलता है। ऐसी मनःस्थिति होने पर असफलता की स्थिति में भी निराशा नहीं आती और प्रतिकूलताओं से जूझने का साहस अक्षुण्ण बना रहता है। पराक्रमी लोगों के अथक श्रम, अदम्य साहस और अटूट मनोबल के सहारे ही संसार के महान कार्य बन पड़े हैं ॥ ४३-४८ ॥

व्याख्या—पराक्रम सौजन्य के साथ ही निभता है। सज्जनता कभी उद्धत, उच्छृंखलता को प्रश्रय नहीं देती। सौम्य होना ठीक है, परंतु अनीति सहकर नहीं। उसके लिए पर्याप्त साहस-संकल्प बल होना चाहिए ताकि दृढ़ता से उद्दंडों से जूझा जा सके। विनम्रता युक्त पराक्रम ही वस्तुतः महामानवों के लिए अभीष्ट है। यह मानवीय गुण, मानवीय चेतना के उस अमृत के समान है, जिसके सहारे दुर्जन समुदाय को भी बदला जा सकता है। अटूट लगन व धैर्य के सहारे वे यह भी कर दिखाते हैं।

तुलिता मणिमुक्ताभिः शोभनाः श्रमसीकराः।
लग्नता सिद्ध्यधिष्ठात्री प्रोक्ता कामदुधा बुधैः ॥ ४९ ॥
तत्परत्वं तन्मयत्वं सुयोगं यत्र गच्छतः।
साफल्याप्तौ न संदेहस्तत्र कश्चिद्भवेन्नृणाम् ॥ ५० ॥
कालश्रममनोयोगत्रयाणां यः समन्वयः।
स्रोतः सर्वविधानां तत् साफल्यानां मतं स्वतः ॥ ५१ ॥
रहस्यमेतज्जानंति नराः स्वीकुर्वते च ये।
इयं भाग्यमहालक्ष्मीश्छायेवैतानुपासते ॥ ५२ ॥
जीवितुं तु कियत्केन नेदं वर्षैस्तु गण्यते।
परं पौरुष संलग्नश्रममाश्रित्य गण्यताम् ॥ ५३ ॥

टीका—स्वेदकणों की मणि मुक्ताओं से तुलना की गई है। लगन को सिद्धियों की अधिष्ठात्री कहा गया है। यह कामधेनु है। तत्परता और तन्मयता का जहाँ भी सुयोग बनता है, वहाँ सफलता पाने में कोई संदेह नहीं रह जाता है। समय, श्रम और मनोयोग का समन्वय ही समस्त प्रकार की सफलताओं का स्रोत है। जो इस रहस्य को अपनाते हैं, भाग्य लक्ष्मी उन्हें चारों ओर से घेरे रहती है। कौन कितना जिया, इसका मूल्यांकन वर्षों के हिसाब से नहीं वरन पुरुषार्थ में लगे श्रम के आधार पर किया जाता है ॥ ४९-५३ ॥

व्याख्या—अकेला श्रम भी निरर्थक है। समय प्रचुर मात्रा में हो पर श्रम का माद्दा न हो काम के प्रति तन्मयता न हो, तो वह भी व्यर्थ हो जाता है। जहाँ के आदमी के पसीने की बूँदें गिरती हैं, वह धरती धन्य हो जाती है। सार्थक श्रम भले ही वह सीमित समय में किया है, समृद्धि लाता है, उस व्यक्ति के जीवन को सार्थक बना देता है।

अत्येति साहसं सर्वान् पुरुषार्थफलं महत्।
प्राप्यते मानवैः सर्वैरलसा भाग्यवादिनः॥ ५४॥
भवंति दोषारोपं च नरेष्वन्येषु कुर्वते।
वर्द्धयंति नराः स्वां तु योग्यतां पुरुषार्थिनः॥ ५५॥
न चाञ्चल्यं श्रयन्त्येते स्वीकुर्वंति च कर्म यत्।
प्रतिज्ञापूर्वकं तच्च पूर्णं ते कुर्वते ध्रुवम्॥ ५६॥
असाफल्यमिह प्रोक्तं लग्नेन मनसा तथा।
पूर्णेनाथ श्रमेणापि न कृतं कर्मनिश्चितम्॥ ५७॥
समयावधिपर्यंतमिति तथ्यं विदंति ये।
नासाफल्ये निराशास्ते कुर्वतेऽपि तु कर्म तत्॥ ५८॥
मनोयोगेन ते सर्वे द्वैगुण्येन व्रजंति च।
सिद्धिं सुखानि सर्वाणि करस्थानि च कुर्वते॥ ५९॥

टीका—साहस बाजी मारता है। पुरुषार्थ का फल सभी को मिलता है। आलसी भाग्य की दुहाई देते और दूसरों पर दोष लगाते रहते हैं। पुरुषार्थी अपनी योग्यता बढ़ाते हैं। चंचलता को फटकने नहीं देते। जिस काम को हाथ में लेते हैं, उसे प्रतिज्ञापूर्वक करते रहते हैं। असफलता का तात्पर्य है, पूरे मन और श्रम के साथ पूरे समय तक काम न करना। जो इस तथ्य को जानते हैं वे असफलता मिलने पर निराश नहीं होते। वरन दूने मनोयोग के साथ काम करते हैं, और सिद्धि को प्राप्त कर समस्त सुखों को अपनी मुट्ठी में कर लेते हैं॥ ५४-५९॥

व्याख्या—संसार में आज तक किसी को कुछ अनायास ही नहीं मिल गया है। इसलिए किसी को दोष देने, ईर्ष्या करने की अपेक्षा सफलता का पथ पहचानना हर किसी के लिए आवश्यक है।

आशा विश्वास शक्तिः सा बलकौशलसाधनैः।
विभवैरपि प्रोक्ता च श्रेष्ठा सर्वगुणान्विता॥ ६०॥
वाञ्छतीह नरः स्वं यः सुखिनं च समुन्नतम्।
साहसी पुरुषार्थी स श्रमशीलः सदा भवेत्॥ ६१॥
प्रयोजनेषु संदर्भस्थितेष्वेव मनः सदा।
नियोजयेन्न चान्यत्र भ्रामयेत्तन्निरर्थकम्॥ ६२॥

टीका—आशा और विश्वास की शक्ति-बल कौशल और साधन की संपदा से भी अधिक है। जो सुखी रहना चाहते हों, उन्नतिशील बनना चाहते हो उसे चाहिए कि पुरुषार्थी रहे, साहस अपनाए और श्रमशील बने। मन को प्रस्तुत प्रयोजनों में लगाए रहे, उसे इधर-उधर न भटकने दें॥ ६०-६२॥

व्याख्या—निराश हो जाना मनुष्य जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप है। महामानव सदैव ही इससे बचने की शिक्षा देते रहते हैं। निराश व्यक्ति के लिए बड़े कार्य करना संभव नहीं होता।

श्रमतः कच्छपोऽजैषीच्छशकं तीव्रगामिनम्।
सन्ततं मंदगत्याऽपि श्रमलग्ना पिपीलिका॥ ६३॥
शिखरं भूधरस्यैषा याति भारयुताऽपि तु।
बयो-विहगनीडोऽपि तच्छ्रमं ख्याति सुन्दरः॥ ६४॥
मनोयोगं च, मूर्खास्ते श्रमलग्ना भवन्त्यपि।
विद्वांसो निर्धनाश्चापि धनवंतो न संशयः॥ ६५॥

टीका—कछुए ने खरगोश से बाजी जीती थी। चींटी धीरे-धीरे किंतु अनवरत श्रम करके बोझ लिए-लिए पर्वत शिखर पर जा पहुँचती है। बया पक्षी का इतना सुंदर घोंसला होना, उसके अश्रक श्रम और समुचित मनोयोग का ही प्रतिफल है। श्रम संलग्न होने पर मूर्खों को विद्वान और निर्धनों को धनवान बनाने का अवसर मिलता है॥ ६३-६५॥

व्याख्या—यदि लगन सच्ची हो, संकल्प बल दृढ़ हो एवं श्रम करते रहने पर भी धैर्य रखें रहने का गुण मनुष्य में हो, तो भले ही प्रगति की गति धीमी हो, सफलता अंततः मिलकर ही रहती है। हर कार्य तत्परता एवं तन्मयता का समन्वय होने पर ही श्रेष्ठ बनता है। कारीगर, मूर्तिकार, चित्रकार, सुंदर आकर्षक कृति तभी बना सकते हैं, जब तनिक भी विचलित हुए बिना वे पूर्ण मनोयोग से उसमें लगे रहें। परीक्षा में सफलता इसी आधार पर मिलती है। व्यक्ति-व्यक्ति के कार्य एक से होते हुए भी परिणतियाँ भिन्न-भिन्न इसलिए होती हैं कि एक ने उसमें अपने आपको पूरी तरह झोंक दिया, दूसरा किसी तरह टाल-मटूल करता हुआ समय पूरा करता रहा।

कभी निराश न होने वाले सदैव अपने काम में तत्परता में लगे रहने वाले कर्मयोगी कहलाते हैं। उनके हाथ में जो काम होता है, वह निश्चित ही पूरा होता है, सुंदर परिणति को प्राप्त होता है। ऐसे पुरुषार्थी अपने अध्यवसाय से उच्च स्थिति तक पहुँचते हैं।

योजितां दिनचर्यां ये कृत्वा लग्नाः परिश्रमे।
सन्ततं स्वास्थ्यमेतेषां दृढं दृढतरं भवेत्॥ ६६॥
वर्द्धतेबुद्धिमत्ताऽपि व्यसनेभ्यश्च रक्षितः।
जायते समये रिक्ते व्यसनानि स्फुरन्ति तु॥ ६७॥
आधारं नोपयुक्तं चेल्लभते मतिरप्यतः।
कुकल्पनाऽभिलग्नास्यात्पथभ्रष्टस्ततो भवेत्॥ ६८॥

टीका—योजनाबद्ध दिनचर्या अपनाकर, जो अनवरत परिश्रम में लगे रहते हैं, उनका स्वास्थ्य सुदृढ़ रहता है, बुद्धिमत्ता बढ़ती है, बुराइयों से बचे रहने का अवसर मिलता है। खाली समय में दुर्व्यसन ही बन पड़ते हैं और मस्तिष्क के लिए कुछ उपयुक्त सोचने का यदि कोई आधार न हो तो वह कुकल्पनाओं में लग पड़ता है और मनुष्य पथ-भ्रष्ट हो जाता है॥ ६६-६८॥

व्याख्या—चंचल मन वाले, अनियमित जीवनक्रम अपनाने

वाले, जीवन में असफल ही रहते हैं। खाली दिमाग को शैतान का घर कहा गया है, जो कि सत्य है। यदि मन को सही दिशा में नियोजित न किया जाए, तो वह न जाने कहाँ-कहाँ भटकता फिरता एवं व्यक्तित्व अनगढ़ बनाता है। मन को इसीलिए काम में लगाना, व्यस्त रखना बहुत अनिवार्य है।

कुविचारा भवन्त्येते घातकास्तु तथा यथा।
कुकर्माणि कृतान्यत्र तस्मादेतान्न चिंतयेत्॥ ६९॥
छुरिका जीर्णतां याति या हि नैवोपयुज्यते।
नैष्कर्म्यं पुरुषो याति पशुर्वा चेष्टते न यः॥ ७०॥
स्वाभिर्विशेषताभिश्च हीनो भवति स क्रमात्।
अभिशापैरतश्चैभिरात्मानं रक्षितुं नरैः॥ ७१॥
उपयोगिश्रमेष्वेतच्छरीरमुपयुज्यताम्।
स्वाध्यायैः सद्विचारैश्च सत्संगेन मनोऽपि च॥ ७२॥
भवेत्कार्यरतं नित्यं मनोयोगेन कर्मणाम्।
कृतानां श्लाघ्यतां याति स्वरूपं सन्ततं स्वतः॥ ७३॥
उपेक्षयाऽस्थिरेणापि मनसा वा कृतानि तु।
कार्पण्यसंगतानीव जायन्ते नापि स तथा॥ ७४॥
लाभ आसाद्यते यद्वन्मनोयोगकृतैर्भवेत्।
सामर्थ्याच्छ्रमशीलत्वं महत्त्वेनातिरिच्यते॥ ७५॥

टीका—कुविचार भी कुकर्मों की तरह ही घातक होते हैं, अतः इनका चिंतन नहीं करना चाहिए। बेकार पड़े चाकू को जंग खा जाती है। बैठा ठाला मनुष्य या पशु धीरे-धीरे निकम्मा बनता जाता है और अपनी सहज विशेषताओं से हाथ धो बैठता है। इन अभिशापों से बचने के लिए हर समझदार व्यक्ति को अपना शरीर उपयोगी श्रम में लगाए रहना चाहिए। मन को सद्विचारों से, स्वाध्याय और सत्संग के सहारे कार्यरत रखे रहना चाहिए। कामों को मनोयोगपूर्वक करने से उनका स्वरूप प्रशंसनीय बन जाता है, इसके विपरीत उपेक्षा और अन्यमनस्कतापूर्वक किए गए काम बेतुके होते हैं तथा उनसे वैसा लाभ नहीं मिलता जैसा कि मनोयोगपूर्वक करने से मिल सकता था। क्षमता से भी अधिक महत्त्व श्रमशीलता का है॥ ६९-७५॥

व्याख्या—मनुष्य के कर्त्तव्य का निर्धारण उसका चिंतन करता है। यह सही ही कहा गया है कि जो जैसा सोचता है, वैसा ही करता है व वैसा ही बन जाता है। इसीलिए व्यक्ति को सतत सत् चिंतन में स्वयं को नियोजित रखे रहने की महत्ता प्रतिपादित की जाती रही है।

साहसं तत्पराक्रमोऽप्याशायुक्तमनः स्थितिः।
पराक्रमोऽस्ति योग्याश्च नरास्ते साहसं विना॥ ७६॥
न शक्नुवन्ति कार्याणि कर्तुं तानि महान्ति ते।
अविकासस्थितावेव तिष्ठन्त्यवसरेऽपि च॥ ७७॥

टीका—साहस भी पराक्रम है। आशांवित रहना पराक्रम है। अनेकों सुयोग्य और समर्थ व्यक्ति साहस के अभाव में बड़े काम नहीं कर पाते और अवसर रहते हुए भी पिछड़ेपन की स्थिति में पड़े रहते हैं॥ ७६-७७॥

व्याख्या—साहस एवं विधेयात्मक दृष्टिकोण अध्यात्म का पहला पाठ है। संत का अर्थ यह नहीं कि अनुचित भी हो तो भी चुप रहें, सहते रहें। इस परिभाषा को मस्तिष्क से निकालकर ही सच्चे अध्यात्म की उपलब्धि संभव है।

श्रेष्ठाः परंपरा ग्राह्या न च कुप्रचलानि तु।
स्वीकार्याणि न चानीतिः कार्या सह्याऽपि वा पुनः॥ ७८॥
अवाञ्छनीयता - नाशं कर्तुं संघर्षशीलता।
तथैव पुण्यदा पुण्यं नीतिन्यायार्जनं यथा॥ ७९॥
अनीतिपीडितोद्धारस्तथा श्लाघ्यो यथा च तत्।
पीडितोद्धारसाहाय्यं कष्टदूरकरं नृणाम्॥ ८०॥

टीका—कुप्रचलनों को स्वीकार न किया जाए। मात्र श्रेष्ठ परंपराएँ ही अपनाई जाएँ। अनीति न करें और न अनीति सहें। अवांछनीयताओं का विरोध उन्मूलन करने के लिए संघर्ष करना भी उतना ही बड़ा पुण्य है, जितना कि नीति-न्याय को अर्जित करना। अनीति के उत्पीड़ितों को बचाना भी उतना ही सराहनीय है, जितना कि दुःखियों की उदार सहायता करके, उन्हें कष्टों से निवृत्ति दिलाना॥ ७८-८०॥

व्याख्या—स्वयं अपना विवेक प्रयोग न कर अंध परंपराएँ स्वीकार कर लेना, अनीति सहना एवं ऐसे किसी अभियान से अपना सहयोग दर्शाना भी एक प्रकार से कायरता का एवं अनीति सहयोग का परिचायक है। हर व्यक्ति को समाज में रहना है, तो अवांछनीयता का प्रतिकार भी करना होगा एवं संघर्ष हेतु तत्पर भी होना होगा। सज्जनता पराक्रम के साथ ही शोभा देती है। शौर्यरहित सौम्यता एक प्रकार की कायरता है। जिसमें मन्यु जागृत नहीं है, वह मानवी काया में होते हुए भी मनुष्य नहीं है। महामानव इसीलिए न केवल सत्प्रयोजनों में स्वयं को नियोजित करते हैं, अन्य दुःखियों की सहायता करते हैं, वरन दुष्टों-पीड़ितों से उनकी रक्षा भी करते हैं। यह बल-पराक्रम ही सच्चा शील है, मानवी गरिमा का द्योतक है।

पराक्रमश्च सौजन्यं विपरीतमिव द्वयम्।
भिन्नं प्रतीयमानं तदवच्छिन्नं परस्परम्॥ ८१॥
रहस्यं नव्यरूपेण श्रोतृभिस्तच्छ्रुतं समैः।
द्वयोर्महत्त्वमादातुं प्रयोक्तुं च समं द्वयम्॥ ८२॥
सहमतिं स्वां समे व्यक्तां व्यधुः पूर्णतया नराः।
युगनिर्माणपंथाश्च दृष्टस्तैः सम्मुखे स्फुरन्॥ ८३॥
सत्रे विसर्जिते सर्वेऽप्यभिवादनपूर्वकम्।
मनीषिणः प्रयान्तस्ते सार्थक्येऽस्य समेऽप्यलम्।
अन्वभूवंश्च सन्तोषं हर्षं प्राप्येव सन्निधिम्॥ ८४॥

टीका—सौजन्य और पराक्रम एक दूसरे से भिन्न एवं विपरीत जैसे लगते हैं, पर वे दोनों किस प्रकार परस्पर अविच्छिन्न हैं इस रहस्य को श्रवणकर्त्ताओं ने नए रूप में समझा। वे दोनों को समान महत्त्व देने और साथ-साथ प्रयोग में लाने के लिए पूर्णतया सहमति व्यक्त करने लगे। युगनिर्माण का मार्ग उन्हें स्पष्ट रूप से दीखने लगा। सत्र विसर्जित हुआ। अभिवादनपूर्वक विदा लेते हुए सभी मनीषियों को इस सुयोग की सार्थकता पर बड़ा हर्ष और संतोष अनुभव हो रहा था, मानों कोई श्रेष्ठ निधि हाथ लग गई हो॥ ८१-८४॥

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः श्री आश्वलायन-आरुणि ऋषि संवादे सौजन्य-पराक्रम, इति प्रकरणो नाम षष्ठोऽध्यायः॥

॥ अथ सप्तमोऽध्यायः ॥

सहकार-परमार्थ प्रकरण

अन्योऽद्य दिवसः सोऽयं सत्समागमसत्रजः।
नैमिषे दूरदेशेभ्यः संगतास्ते मनीषिणः ॥१॥
मुनयः सर्व एवैत औदास्यमभजन्निह।
विचारयन्तः सत्रस्य श्वोऽवसानं तु दुःसहम्॥२॥
दायित्वानि ग्रहीतुं च स्वानि गंतव्यमेव तैः।
स्वस्वक्षेत्रेषु भूलोके विधातुं स्वर्गिणां गृहम्॥३॥
उषित्वा सह सर्वैस्तु दिवसेष्वेषु सप्तसु।
लब्धो यः परमानन्दः प्राप्तं पीयूषमुत्तमम्॥४॥
संयोगस्तादृशः कुत्र प्राप्स्यतेऽस्माभिरुत्तमः।
नैव जानीम इत्येतत्कारणं तस्य मुख्यतः ॥५॥
आयोजनस्य हेतोश्च सर्वे याताः प्रसन्नताम्।
पदयात्रा विशालास्ताः कुर्वन्तः कष्टदा अपि॥६।
मार्गेषु विविधेष्वेव स्थानेष्वेभिः स्थितेस्तथा।
जनसंपर्ककार्यस्य समस्यानां समाहितेः ॥७॥
धर्मचैतन्यगा वातावृतेरपि विनिर्मितेः।
लाभः प्राप्तो ह्यनेकानां पुण्यानामपि तैरिह॥८॥
श्रेयोऽस्य ददति स्म ते सर्वमायोजनस्य तु।
व्यवस्थापकवर्गेभ्यः संतुष्टाः पूर्णतः समे॥९॥
निवर्तनस्य कालेऽथ भिन्नैः पथिभिरेव च।
यातुं क्षेत्रेषु भिन्नेषु धर्मश्रद्धाकरा अपि॥१०॥
कार्यक्रमा मतौ तेषामुद्भवंति स्म संततम्।
कर्मठत्वकषग्राव-तुल्या लोकहिताऽऽवहाः॥११॥
प्रारब्धो नियते काले दिनस्याऽस्य पुरोगमः।
प्रश्नानां शृंखलायाश्च सोपानं चरमं त्विदम्॥१२॥
जिज्ञासूनां वरिष्ठश्च सोऽनुरोधं व्यधात्स्वयम्।
अध्यक्षं चरमं युग्मं वक्तुं धर्मधृतेः शुभम्॥१३॥

टीका—आज संत-समागम सत्र का अंतिम दिन था। नैमिषारण्य में एकत्रित दूर-दूर से आए हुए मुनि-मनीषी यह सोचकर उदास थे कि कल यह समारोह समाप्त हो जाएगा। उन्हें अपने-अपने क्षेत्रीय उत्तरदायित्व सँभालने के लिए तथा पृथ्वी को देवताओं का स्वर्ग बनाने के लिए जाना पड़ेगा। साथ-साथ रहकर इन सात दिनों में जो आनंद उठाया, अमृत कमाया वैसा सुयोग फिर न जाने कब कहाँ मिलेगा? उदासी इसी बात की थी। वैसे वे सभी इस आयोजन के लिए लंबी कष्ट साध्य पद यात्राएँ करते हुए आने पर भी बहुत प्रसन्न थे। मार्ग में उन्हें अनेक स्थानों पर ठहरने-जनसंपर्क साधने-समस्याओं के समाधान करने एवं धर्मचेतना का वातावरण बनाने जैसे अनेक पुण्य-परमार्थों का लाभ भी तो मिला था। इसका श्रेय इस आयोजन की व्यवस्था करने वालों को ही परम संतुष्ट होकर वे दे रहे थे। वापस लौटते हुए दूसरे मार्ग से जाने और अन्यान्य क्षेत्रों में धर्म श्रद्धा उत्पन्न करने वाले कार्यक्रमों की योजनाएँ उनके मस्तिष्क में उठ रही थीं। जो उनकी कर्मठता के लिए कसौटी के पत्थर के समान व लोक हितकारी थीं। नियत समय पर पिछले दिनों की भाँति ही इस दिन का आयोजन भी शुरू हुआ। प्रश्नों की शृंखला का आज अंतिम सोपान था। जिज्ञासुओं में वरिष्ठ जरत्कारू ने धर्म धारणा के अंतिम सुंदर युग्म पर प्रकाश डालने का अनुरोध करते हुए सत्राध्यक्ष से कहा॥ १-१३॥

जरत्कारुरुवाच

समन्वयः कथं देव! परार्थसहकारयोः।
उभयोरैक्यतस्तथ्यमेकं कस्मात्प्रजायते ॥१४॥
अस्मान् बोधयितुं सर्वं रहस्यमिदमुत्तमम्।
अनुग्रहो विधातव्यो भवद्भिः करुणापरैः॥१५॥

टीका—जरत्कारु ने कहा हे देव सहकार और परमार्थ का समन्वय कैसे होता है? दोनों के मिलने से एक तथ्य कैसे बनता है? हे दयानिधे इस रहस्य को समझाने का अनुग्रह करें॥ १४-१५॥

आश्वलायन उवाच

युग्मे पञ्चमके बद्धाविमौ द्वौ तु परस्परम्।
सहकारपरार्थाख्यावुदारत्वाभिबोधकौ ॥१६॥
जायते व्यापकक्षेत्रे यदाऽऽत्मीयत्वविस्तरः।
आत्मवत् सर्वभूतेषु भावनोदेति तत्र च॥१७॥
उदेत्युदारविश्वासो वसुधैव कुटुंबकम्।
इतिरूपे सहास्तित्वं सहभुक्तिरुपैत्यलम्॥१८॥

टीका—आश्वलायन जी बोले पंचम युग्म में सहकार एवं परमार्थ जुड़े हुए हैं, जो उदारता के बोधक हैं। आत्मीयता का विस्तार जब व्यापक क्षेत्र में होता है, आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावना जगती है और वसुधैव कुटुंबकम् का उदार विश्वास विकसित होता है, तभी मिल-जुलकर रहना और मिल-बाँटकर खाने का व्यवहार चरितार्थ होता है॥ १६-१८॥

व्याख्या—धर्म के शाश्वत स्वरूप को बनाने वाले विभिन्न गुणों की चर्चा प्रसंग में यहाँ अंतिम चरण में सहकार एवं परमार्थ के परस्पर संबंधित युग्म की चर्चा ऋषिवर कर रहे हैं। इनका जीवन में समावेश होने पर सब ओर अपना ही स्वरूप परिलक्षित होने लगता है। जब प्राणी मात्र में अपना ही आपा दृष्टिगोचर होने लगे, तो व्यवहार में उदार परमार्थ परायणता एवं सहयोग-सहकार की भावनाएँ विकसित होने लगती हैं। सारा विश्व एक कुटुंब के रूप में विकसित होने की पारिवारिकता समष्टिगत एकता की भाव-संवेदना विकसित होना इसकी चरम स्थिति है। महामानवों का कोई न अपना होता है, न पराया। जैसे उनके लिए अन्य परिजन, मित्र, बंधु होते हैं, वैसे ही सभी प्राणी मात्र होते हैं। इसी कारण वे समष्टिगत हित की बात सोचते हैं, मात्र अपने परिवार की सुख-सुविधाओं स्वर्ग प्राप्ति, मोक्ष की संकीर्ण मान्यता मन में नहीं लाते।

स्वामी रामतीर्थ वसुधैव कुटुंबकम् की व्याख्या करते हुए कहते थे हाथ का कमाल इसी में है कि वह अपना हित समस्त शरीर के हित में जुड़ा हुआ रखे। किसी भी अंग को अभाव या कष्ट हो, तो उसके निराकरण का उपयोग करे। यदि हाथ यह कर्त्तव्य धर्म छोड़ दे और कलाई तक ही अपने को सीमित कर ले, तो वह स्वयं भी नष्ट होगा और सारे शरीर को नष्ट करेगा।

संपूर्ण जगत एक शरीर है, व्यक्ति उसका एक छोटा अवयव। अवयव शरीर के साथ जुड़ा रहे, समाज के सुख, शांति और प्रगति का प्रयास करे, इसी में उसका हित साधन है। दूसरों की उपेक्षा करके संकीर्ण स्वार्थपरता में निरत व्यक्ति स्वयं मरते और समूचे समुदाय को मारते हैं।

यह सहकार-सामंजस्य परंपरा लड़खड़ाने से ही सामाजिक जीवन में विग्रह पनपते और अपराध बढ़ते हैं। देखने में भले ही व्यक्ति अपराध के लिए दंडित हो, पर यह सच है कि उसके लिए सारा समाज उत्तरदाई होता है।

माहात्म्यं सहकारस्य वदंतस्तेब्रुवञ्जनान्।
प्राणी सामाजिको नूनं मानवोऽस्ति न संशयः॥ १९॥
प्रगतिः स्थैर्यमस्यास्ति सहकारसमाश्रिते।
समाजेन कुटुंबेन शासनेनापि संततम्॥ २०॥
समूहवादिनीशिक्षा लभ्यते मानवेन तु।
एकाकित्वं कीटकानां कृमीणां प्रकृतिर्मता॥ २१॥

टीका—सहकार की महिमा बताते हुए उन्होंने कहा मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसकी स्थिरता और प्रगति सहकार पर ही निर्भर करती है। परिवार, समाज और शासन के माध्यम से मनुष्य को समूहवादी बनने की शिक्षा मिलती है। एकाकीपन कृमि-कीटकों का स्वभाव है॥ १९-२१॥

व्याख्या—मनुष्य जन्म से लेकर बड़ा होने तक जिस आधार पर विकास करता है, उसके मूल में समाज के हर घटक का सहयोग सहकार है। सभ्यता, सुसंस्कारिता, विवेकशीलता जैसे गुण भी पारिवारिकता के बल पर ही पनपते हैं। एकाकी कोई न जी सकता है, न आगे बढ़ सकता है। वैभव को प्राप्त करने के बाद कोई यह कहे कि यह उनका अकेले का पुरुषार्थ है, तो इसे आत्मप्रवंचना ही कहा जाएगा।

अल्पं विकसिता ये तु पशवः पक्षिणोऽपि ते।
समूहे निवसन्त्येवं पालयंत्यनुशासनम्॥ २२॥
वल्मीककीटा यद्येते एताश्च मधुमक्षिकाः।
पिपीलिकाश्च गृह्णन्ति सहकारं भवन्त्यपि॥ २३॥
सुखिनोऽपेक्षयाऽन्येषामुन्नतस्थितिगास्तथा।
तिष्ठेयुर्मानवास्तर्हि कथं निम्नस्थितिस्थिताः॥ २४॥

टीका—थोड़ा सा विकास जिनका हुआ है, वे पशु-पक्षी भी समूह बनाकर रहते हैं और तदनुसार अनुशासन पालते हैं। जब दीमक, चींटी और मधुमक्खी जैसे प्राणी सहकारिता अपनाते और अपेक्षाकृत अधिक सुखी-समुन्नत स्थिति में रहते हैं, तो मनुष्य को ही क्यों पीछे रहना चाहिए?॥ २३॥२४॥

व्याख्या—मनुष्य तो सृष्टि का सिरमौर है। पशुपक्षी तो मूक होते हैं, उपलब्धियाँ भी उनकी गौण हैं, किंतु सहकारिता के अनुशासन में वे भी बँधे रहते एवं सतत विकास करते हैं। उनके उदाहरण मनुष्य के लिए शिक्षा ग्रहण करने योग्य हैं।

मनुष्य की सर्वश्रेष्ठता का आधार यही तो माना जाता है कि उसमें बुद्धि एवं विवेक का तत्व विशेष है। उसमें कर्त्तव्यपरायणता, परोपकार, प्रेम, सहयोग, सहानुभूति, सहृदयता तथा संवेदनशीलता के गुण पाए जाते हैं, किंतु इस आधार पर वह सर्वश्रेष्ठ तभी माना जा सकता है, जब सृष्टि के अन्य प्राणियों में इन गुणों का सर्वथा अभाव हो और मनुष्य इन गुणों को पूर्णरूप से क्रियात्मक रूप से प्रतिपादित करे। यदि इन गुणों का अस्तित्त्व अन्य प्राणियों में भी पाया जाता है और वे इसका प्रतिपादन भी करते हैं, तो फिर मनुष्य को सृष्टि के सर्वश्रेष्ठ प्राणी मानने के अहंकार का क्या अर्थ रह जाता है।

मानवस्य समस्तायाः प्रगतेः सर्वमेव हि।
रहस्यं सहकारस्य भावनायां स्थितं ध्रुवम्॥ २५॥
अस्तव्यस्तस्थितैर्नैव तृणै रज्जुविनिर्मितिः।

संभवाऽस्ति न निर्मातुं शक्या सम्मार्जनी दृढा॥ २६॥
शलाकाभिर्नरै रत्र पतिताभिरितस्ततः ।
इष्टिकाश्चेत्पृथक् स्युस्ताः कथं गृहविनिर्मितिः॥ २७॥
संभवा मौक्तिकैर्माल्या ग्रथितैरेव जायते।
समूह एवं सैन्यानां शत्रून् विजयते ध्रुवम्॥ २८॥
सहकारस्वभावेन मर्त्यानां सुखदायिनी ।
कुटुंबरचना जाता भुवि स्वर्गायिता नृणाम्॥ २९॥
समाजो निर्मितोऽथापि राष्ट्रसंघटनं वरम्।
जातं, संघटनानां च विविधानामिह ध्रुवम्॥ ३०॥
माध्यमेन हि जातानि कार्याण्याशु महान्त्यपि।
रामः कृष्णोऽथ बुद्धोऽयुः साफल्यं सहयोगिभिः॥ ३१॥

टीका—मनुष्य की प्रगति का सारा रहस्य उसकी सहकार भावना में सन्निहित है। बिखरे तिनकों से रस्सा नहीं बटा जा सकता। बिखरी सीकों से बुहारी नहीं बनती। ईटें अलग-अलग रहें, तो भवन कैसे बने? मोतियों के मिलने से ही हार बनता है। सैनिकों का समूह ही शत्रु पर विजय प्राप्त करता है। मनुष्य के सहकार-स्वभाव से ही परिवारों की स्वर्गोपम सुखद-सरंचना हुई है, समाज बना है, राष्ट्रों का गठन हुआ है। विभिन्न संगठनों के माध्यम से ही महत्त्वपूर्ण कार्य संपन्न हुए। राम, कृष्ण और बुद्ध ने सहयोगियों की सहायता से ही आश्चर्यजनक सफलता पाई॥ २५-३१॥

टीका—मनुष्य की प्रगति का सारा रहस्य उसकी सहकार भावना में सन्निहित है। बिखरे तिनकों से रस्सा नहीं बटा जा सकता। बिखरी सीकों से बुहारी नहीं बनती। ईटें अलग-अलग रहें, तो भवन कैसे बने? मोतियों के मिलने से ही हार बनता है। सैनिकों का समूह ही शत्रु पर विजय प्राप्त करता है। मनुष्य के सहकार-स्वभाव से ही परिवारों की स्वर्गोपम सुखद-सरंचना हुई है, समाज बना है, राष्ट्रों का गठन हुआ है। विभिन्न संगठनों के माध्यम से ही महत्त्वपूर्ण कार्य संपन्न हुए। राम, कृष्ण और बुद्ध ने सहयोगियों की सहायता से ही आश्चर्यजनक सफलता पाई॥ २५-३१॥

व्याख्या—एकाकी प्रयत्नों से संसार का कोई भी आदमी नहीं बढ़ पाया, क्योंकि सफलता का रहस्य मिल-जुलकर काम करने में है।

सेनासंयुक्तशक्तिः सा कुरुते कार्यमुत्तमम्।
कुटुम्बं संघटितं नूनं समाजोऽपि तथा च सः॥ ३२॥
बुद्धिं यातोऽथ मर्त्याश्च वियुक्ता यान्ति विग्रहम्।
वैरं भेदं सहन्ते न प्रातिकूल्यं मनागपि ॥ ३३॥
यान्तीवाकालजं मृत्युमतो ज्ञातव्यमेव तु।
माहात्म्यं संघजोत्थं तु प्राणिमंगलकारकम्॥ ३४॥

टीका—सेना की संयुक्त शक्ति ही काम करती है। संगठित परिवार और समाज फलते-फूलते हैं, जबकि विलगाव से आक्रांत भेद, फूट, फसाद में लगे हुए तनिक भी प्रतिकूलता सहन नहीं कर पाते और बेमौत मरते हैं। संगठन का महत्त्व समझा जाना चाहिए जो प्राणिमात्र का मंगलकारक है॥ ३२-३४॥

व्याख्या—जब भी कभी पतन होता है, तो उसका मूल कारण संगठन का अभाव माना जाना चाहिए। मनुष्य की संकीर्णता, अलगाववादी प्रकृति ही उसकी प्रगति में बाधक बनती है।

स्वार्थिवर्गः सदा दोषग्रस्ततां याति संततम्।
तत्प्रभावेण जीर्णश्च विना कालं विनश्यति॥ ३५॥
अतो विचारशीलैश्च वसितव्यं सुसंगतैः ।
भोक्तव्यं च सदा भोज्यं यथायोग्यं विभज्य च॥ ३६॥
दूरदर्शित्वमत्रास्ति गरिमा च नृणां ध्रुवम्।
कुर्वते सहयोगं ते सहयोगिन उन्नताः॥ ३७॥
वसन्ति मोदमानाश्च तेभ्यः क्षुद्रेभ्यः एव ते।
प्रसन्नाश्चाधिकं तस्मात्सहयोगो महाबलम्॥ ३८॥

टीका—स्वार्थियों का समुदाय दोष-दुर्गुणों से ग्रसित होता जाता है और उनके दबाव के कारण समय से पूर्व ही दम तोड़ते देखा जाता है। अस्तु सभी विचारशीलों को हिलमिल कर रहना चाहिए। मिल-बाँटकर खाना चाहिए। इसी में दूरदर्शिता एवं गरिमा है। सहयोग करने वाले सहयोग पाते हैं और एकाकीपन की क्षुद्रता अपनाने वालों की तुलना में कहीं अधिक प्रसन्न एवं समुन्नत रहते हैं अतः स्पष्ट है सहयोग में बहुत बड़ी शक्ति है॥ ३५-३८॥

व्याख्या—स्वार्थी बहुधा अत्याचारी होते हैं। धर्म, पंथ, संप्रदाय आदि के नाम पर विश्व में जितने भी अत्याचार, लूटमार, मारकाट या विघटन हुए हैं, अथवा हो रहे हैं, उन सबके पीछे खुले या छद्म रूप में स्वार्थियों की अपनी हित कामना ही निहित रही है। भले ही वे इस कुचक्र रचना में विनष्ट हो गए हों या रहे हों।

स्वार्थांध अत्याचारियों के हाथ में धर्म एक ऐसा कारण साधन है, जिससे जनता में विषमता स्थापित होती चली जाती है। यह मनुष्यों में समता को नहीं रहने देता। इसके द्वारा धनिक, विद्वान, राजनेता, शासकगण अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। श्रमिकों-मजदूरों में इसी के द्वारा गुलामी की आदत कायम रखी जाती है। धर्म के बहाने लोगों को अनहोनी बातों पर चमत्कारों पर विश्वास दिलाकर मनुष्यों के अज्ञान को चिरस्थाई बनाया जाता है। इस तरह छल-छद्म से चालाक और धूर्त लोग अपना काम बनाते हैं, मजदूर, अनपढ़ और अज्ञानी लोग लुटते हैं। बड़े-बड़े मठाधीश, महंत, पोप, पंडे-पुजारी मौलवी मुल्ले आम आदमी के इसी अज्ञान का लाभ उठाकर मौज मजे उड़ाते हैं और लोगों को बराबर लूटा करते हैं।

स्वार्थ या विग्रह का विष बहुत ही भयंकर होता है। यह जिस किसी के जीवन में आया, उसको नष्ट करके ही छोड़ता है। जो देता है, वह पाता है। जो रखने का प्रयास करता है, वह अंततः हानि ही उठाता है।

निरमात्सहयोगेन समुदायं तथा व्यधात्।
मिलित्वा शुभकर्माणि दानादानेऽध्यगादपि॥ ३९॥
आदिकालात्क्रमादत्र प्रगतेः पथिसंचलन्।
आगतो वर्तमानां च स्थितिं विकसितां पराम्॥ ४०॥
सहकारप्रधानश्च स्वभावोऽत्र विशिष्यते।
नैकाकिनो महामर्त्यान्यवात्सुः कुत्रचिद् भुवि॥ ४१॥
निर्ममुस्ते समूहं तु प्रयासैश्च समूहगैः।
संकल्पाः सुमहांतस्तैः पूरिताः शीघ्रमेव च॥ ४२॥
सत्प्रयोजनहेतोश्च सहकारः स्थिरो दृढः।
प्राप्यते येषु लोकस्य हितं कर्मसु संस्थितम्॥ ४३॥
यथा तथोदयं याति सहयोगस्य शोभना।
लोकश्रद्धा जगत्पीडा - तमिस्रा - चंद्रिका शुभा॥ ४४॥

टीका—इसीलिए मनुष्य ने सहयोगपूर्वक समुदाय गठित किए। मिल-जुलकर काम करना सीखा। आदान-प्रदान का क्रम अपनाया और अनादिकाल से लेकर क्रमशः प्रगति पथ पर चलता हुआ वर्तमान स्थिति तक आ पहुँचा। इसमें उनके सहकार प्रधान स्वभाव का ही चमत्कार है। महामानव एकाकी नहीं रहे। उनने समूह बनाए और सामूहिक प्रयासों क बल पर बड़े संकल्प शीघ्र पूरे किए हैं। ठोस और स्थाई सहकार सत्प्रयोजनों के लिए ही मिलता है। जिन कार्यों के पीछे लोकहित का जितना समावेश रहता है, उनमें सहयोग देने भी लोकश्रद्धा उतनी ही उमड़ती है, जो संसार की व्यथा रूपी रात्रि में चंद्रिका के उदय के समान सिद्ध होती है॥ ३९-४४॥

व्याख्या—सामूहिकता एक ऐसी शक्ति है, जिससे सारे संसार को जीता जा सकता है। निर्बल वर्ग भी जब अपनों को साथ लेकर खड़ा हो जाता है, तो शक्तिवानों को भी उनके आगे पराजय स्वीकार करनी पड़ती है।

स्वस्मै वर्गविशेषाय स्वार्थबुद्ध्या च यानि तु।
क्रियन्ते तानि कार्याणि मन्यन्ते स्वार्थगानि हि॥ ४५॥
विचारयंति येषां स लाभस्ते पुरुषाः स्वयम्।
श्रमं कुर्वन्तु किं तैश्च परेषां हि प्रयोजनम्॥ ४६॥
परं न्यायस्य यत्राऽयमौचित्यस्य तथैव च ।
साहाय्यस्यार्तिजानां च प्रश्नः सन्तिष्ठते पुरः॥ ४७॥
चित्तं तत्र समेषां हि योगदानाय संततम्।
समुत्सहत एवात्र सर्वकल्याणकाम्यया ॥ ४८॥
रीतिर्नीतिरिमेऽभूतां महतां भुवि सर्वथा।
सहकारमहत्त्वं तैर्ज्ञातं सर्वं सुखावहम्॥ ४९॥
स्वभावं ते चरित्रं च योग्यं ०यक्तिगतं तथा ।
व्यधुस्तैषां च प्रामाण्ये विश्वसेयुर्जनाः समे॥ ५०॥
कार्याणि यानि तैरत्र हस्तगानि कृतानि तु।
अभूवंस्तानि सर्वाणि नूनं लोक - हितान्यलम्॥ ५१॥

टीका—निजी अथवा वर्ग स्वार्थ के लिए जो काम किए जाते हैं, उन्हें लोग स्वार्थ प्रेरित मानते हैं और सोचते हैं, जिनका लाभ है, वे ही श्रम करें, अन्यों को उनसे क्या प्रयोजन? पर जहाँ न्याय का, औचित्य का, पीड़ितों की सहायता का प्रश्न आता है, वहाँ सभी का मन, सभी की कल्याण कामना से उनमें योगदान करने के लिए उमँगता है। महामानवों की रीति-नीति यही रही है। उनने सभी के लिए सुखकर सहकार का महत्त्व समझा है। व्यक्तिगत स्वभाव और चरित्र को इस योग्य बनाया है कि लोग उनकी प्रामाणिकता पर विश्वास कर सकें। उनने जिन भी कामों में हाथ डाला, वे सभी ऐसे थे, जिनके साथ लोकहित जुड़ा रहा॥ ४५-५१॥

व्याख्या—मानव परहितकारी सहकारी भावना को विकसित करके ही महामानव बनते हैं। यह एक प्रकार का आत्म निर्माण का प्रामाणिकता अर्जन करने का तप तो है ही, उनकी सेवा-साधना भी है, जो उन्हें इतने ऊँचे पद पर पहुँचाती है। परमार्थ से ही स्वार्थ भी निभता है, व्यक्ति स्वयं भी लाभांवित होता है, इसमें रंचमात्र भी संदेह नहीं।

स्वार्थसिद्ध्यै दलानां निर्मातारो भवंत्यपि।
दुरात्मानो दुराचारा दुष्टास्ते कूटयोधिनः॥ ५२॥
षड्यंत्राणि बहून्यत्र कर्तुं दुरभिसंधकाः।
पार्श्वगां समितिं चण्डां कुटिलां स्थापयन्त्यपि॥ ५३॥
दुःसहंते तथैतेभ्यः म्रियंते घ्नन्ति चापरान्।
एतादृशानां यत्नानामुद्दंडानां विधीयते॥ ५४॥
चर्चा यद्यपि सर्वत्र जनैः शुद्धेन चेतसा।
नैताञ्जनाः प्रशंसन्ति न चैभिः सहयुञ्जते॥ ५५॥
अत एवंविधान्यत्र साफल्यानि नृणामपि।
सामान्यानां हि दृष्टौ तान्युपेक्षाण्येव सन्ति तु॥ ५६॥
साफल्यानि प्रशंसन्ति तानि नो केचिदत्र तु।
एतादृश्यां दशायां ते गण्यंते खलनायकाः॥ ५७॥
सदाचारयुताः सन्ति महामानवतां गताः।
सतां सभां विनिर्मान्ति सम्मिलन्ति च तत्र वा॥ ५८॥
विचारयन्ति यच्चाऽपि कुर्वते यच्चनिश्चितम्।
समाविष्टं भवेल्लोकहितं गहनमद्भुतम् ॥ ५९॥

टीका—स्वार्थ सिद्धि के लिए गिरोह बनाने वाले तो अनेकों दुष्ट, दुरात्मा कुचाली और कुचक्री भी होते हैं। वे षड्यंत्र रचने और दुरभिसंधियाँ करने के लिए चांडाल चौकड़ियाँ खड़ी करते रहते हैं, इसके लिए दुःस्साहस भी करते हैं। मारने के साथ-साथ मरते भी हैं। ऐसे उद्दंड प्रयत्नों की चर्चा तो लोग भारी मन से करते हैं, पर उनकी कोई प्रशंसा

नहीं करता, न कोई सच्चे मन से समर्थन करता न कोई सच्चे मन से सहयोग ही देता है। अतएव इस स्तर की मिली हुई सफलताएँ भी सर्वसाधारण की दृष्टि में उपेक्षित ही बनी रहती हैं, उन्हें कोई सराहता नहीं। ऐसी दशा में कर्त्ताओं की खलनायकों में ही गणना होती है। महामानव चरित्रवान होते हैं, सज्जनों का संगठन खड़े करते या उनमें सम्मिलित रहते हैं, जो सोचते और करते हैं, उनमें अद्भुत लोकहित का समावेश रहता है॥ ५२-५९॥

व्याख्या—तात्कालिक आवेश और आततायी से भयभीत होकर आज अक्सर लोगों को दुष्टों का साथ देते देखा जाता है, पर दुष्टता की शक्ति बड़ी कमजोर होती है। शक्ति तो यथार्थ में वही है, जो किसी को ऊँचा उठाए और आगे बढ़ाए।

सत्प्रयोजनहेतोश्च व्यक्तिभ्यस्त्वर्पितानि तु।
योग्येभ्यस्त्वनुदानानि प्रत्यायान्ति प्रयच्छतः॥ ६०॥
असंख्यतां गतान्येव प्रियंग्वादीनि तानि तु।
वप्तुरायान्ति शस्यानि सहस्त्रत्वं गतानि च॥ ६१॥

टीका—सत्प्रयोजनों के लिए प्रामाणिक व्यक्ति यों के हाथ में सौंपे गए अनुदान असंख्य गुने होकर देने वाले के पास वापस लौटते हैं। मक्का, बाजरा आदि के बीज उगने पर सहस्त्रों गुने होकर बोने वाले के पास वापस लौटते हैं॥ ६०-६१॥

टीका—सत्प्रयोजनों के लिए प्रामाणिक व्यक्ति यों के हाथ में सौंपे गए अनुदान असंख्य गुने होकर देने वाले के पास वापस लौटते हैं। मक्का, बाजरा आदि के बीज उगने पर सहस्त्रों गुने होकर बोने वाले के पास वापस लौटते हैं॥ ६०-६१॥

श्रमस्यापि धनस्याथ बीजानीशस्य तस्य तु।
क्षेत्रे परार्थरूपे च वपन्त्यत्र जनास्तु ये ॥ ६२॥
लाभ एव भवेत्तेषां मर्त्यसद्वृत्तिवर्धने ।
पाताऽविकासपीडानां वारणे संपदामथ॥ ६३॥
क्षमतायाश्च तस्यास्तु समुत्सर्गः सदा नरैः।
अंशस्य महतः कार्य आत्मा तेन प्रसीदति॥ ६४॥
योऽर्जयेत्केवलं स्वस्मै भुक्ते चाऽपि तु केवलम्।
स्तेनमाहुर्नरं तं तु सदैकांतगतिं ततः॥ ६५॥

टीका—परमार्थी ईश्वर के खेत में अपने श्रम तथा धन का बीज बोते हैं। इस व्यवसाय में लाभ ही लाभ है। मनुष्य को सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन के लिए पतन, पीड़ा और पिछड़ापन हटाने के लिए अपनी क्षमता और संपदा का बड़ा भाग उत्सर्ग करना चाहिए इससे आत्मा तृप्त होती है। जो अपने लिए ही कमाता है, आप ही खाता है, उसे चोर कहा गया है, चोर भी एकांतप्रिय होता है॥ ६२-६५॥

व्याख्या—जीवन व्यापार में यदि ईश्वर को अपना साझीदार बना लिया जाए, तो लाभ ही लाभ है। परहित हेतु जिन्होंने जन्म लिया है, ऐसे व्यक्ति अपने श्रमसीकरों एवं संपदा-सामर्थ्य के माध्यम से लोकमानस को ऊँचा उठाने का पुरुषार्थ करते हैं। वे समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य समझते हैं व जानते हैं कि उन्हें जो कुछ भी मिला है, समाज का एक अंग होने के नाते ही मिला है। इसीलिए उनके हर कृत्य में समष्टिगत हित का समावेश रहता है। यह परोपकार उन्हें जो आत्मसंतोष प्रदान करता है, उसकी तुलना दुनिया के किसी वैभव से नहीं कि जा सकती।

वर्षन्ति वारिदा नित्यं निःस्वार्थं सरितोऽपि च।
भूखंडान् प्राणिनस्तप्तान् कुर्वते जलसंपदा॥ ६६॥
वृक्षाः फलंति यच्छन्ति मेषा ऊर्णां ददत्यलम्।
भूमिरुत्पादयत्यन्नमेवं यच्छत्स्वपि क्वचित्॥ ६७॥
नानुदानेषु चैतेषां न्यूनता काऽपि जायते।
हस्तेनैकेन योदद्यादीशः प्रतिददात्यलम्॥ ६८॥
तस्मै हस्तेन चान्येन स आदत्ते वरानिव।
अदातारस्तु शुष्यन्ति म्लायन्त्यम्भोऽव पाल्वलम्॥ ६९॥
निर्झरा यद्यपि स्वल्पा वहन्तो विशदाः सदा।
तिष्ठन्त्येते नरैर्भाव्यमुदारैः परमार्थगैः॥ ७०॥

टीका—बादल निःस्वार्थ भाव से बरसते हैं। नदियाँ अपनी जल संपदा से भूखंडों और प्राणियों की प्यास बुझाती हैं। वृक्ष फल देते हैं। भेड़ ऊन देती है। भूमि अन्न उपजाती है। इन अनुदानों को निरंतर देते रहने पर भी वरदान की तरह भगवान उन्हें प्रतिदान देता भी रहता है, जिन्हें उसका दूसरा हाथ ग्रहण करता रहता है। जो नहीं देता, वह छोटे पोखरों के जल जैसा सूखता और सड़ता है, जबकि छोटे निर्झर भी सदा बहते और स्वच्छ रहते हैं। अतः मनुष्य को उदार व परमार्थ-परायण होना चाहिए॥ ६६-७०॥

व्याख्या—मनुष्य को प्रकृति से यह सीख लेना चाहिए कि सदैव देने वाला बदले में पाता है। जड़-निर्जीव समझे जाने वाले पदार्थ, प्रकृति के घटक एवं जीव-जंतु भी दैनंदिन जीवन में देकर के लेने के सिद्धांत को अपनाते हैं, तो फिर मनुष्य ही क्यों ऐसा बरताव करता है, जिससे वह एकाकी, संकीर्ण, स्वार्थी बनता चला जाता है।

जलचक्रे शरीरस्य चक्रेऽथे प्रकृतेरपि।
आदानस्य प्रदानस्य पारंपर्यं तु विद्यते॥ ७१॥
दान योऽवरुणइद्ध्यत्र नैति संपन्नतां क्वचित्।
विपरीततया नश्येत् ग्लायति प्रतिवासरम्॥ ७२॥
संकीर्णत्वं च भीरुत्वं कृपणत्वमथापि च।
सृष्टिव्यवस्थितेरस्ति पूर्णतस्त्ववहेलनम् ॥ ७३॥
स्वीकृत्येमानि लाभस्य ये चाशां कुर्वते नराः।

अदूरदर्शिनो हानिं यान्ति शोचन्ति चान्ततः॥ ७४॥

टीका—शरीर चक्र, जलचक्र और प्रकृतिचक्र में आदान-प्रदान की परंपरा है, जो देना बंद करता है, वह संपन्न तो बनता नहीं, उलटे सड़ता और नष्ट होता देखा जाता है। संकीर्णता, कृपणता और कायरता सृष्टि व्यवस्था की अवहेलना है। इन्हें अपनाकर जो लाभ की बात सोचते हैं, वे अदूरदर्शी बहुत घाटा सहते और अंततः बुरी तरह पछताते हैं॥ ७१-७४॥

व्याख्या—इकॉलोजी विज्ञान के नियम अनुशासनों के अनुसार परस्पर आदान-प्रदान की सृष्टि की सुव्यवस्था का प्राण है। शरीर के जीवकोष निरंतर झड़ते हैं, नए आते रहते हैं। शरीर नित्य आहार ग्रहण करता है एवं विसर्जन करता है। यह संतुलन जरूरी है। प्राण वायु ग्रहण करके मनुष्य विषाक्त वायु छोड़ता है जिन्हें वृक्ष वनस्पति ग्रहण करते व बदले में मनुष्य के लिए प्राण वायु प्रचुर मात्रा में देते हैं। वृक्ष वनस्पतियों को अपने उपकार के बदले में मनुष्य व जीवधारियों से उर्वरक रूपी पोषण मिलता है। यह सारी व्यवस्था अन्योन्याश्रित संबंधों पर टिकी है।

उदारात्मीयताऽऽदानात्परार्थैकपरायणात् ।
दृष्ट्या व्यापकया चात्मा विकासं याति हर्षितः॥ ७५॥
वैभवं कृपणानां तु दुर्गतिग्रस्ततां व्रजेत्।
यत्र तिष्ठेद् ग्लापयेत्तत्तीक्ष्णाम्ल इव संततम्॥ ७६॥
नश्येद् येन समूलं तदुच्यतां बौद्धिको भ्रमः।
नृणामेष यदिच्छन्ति क्षमतां सञ्चितां निजाम्॥ ७७॥
लाभं तस्य च वाञ्छन्ति दातुमल्पेभ्य एव तु।
पार्श्वस्थेभ्यो मता मूर्खाः कुशला अपि चान्ततः॥ ७८॥

टीका—आत्मा का विकास उदार आत्मीयता, परमार्थ-परायणता और व्यापक दृष्टिकोण अपनाए रहने में है। कृपणों का वैभव दुर्गतिग्रस्त होता है और जहाँ भी वह ठहरता है, तेज अम्ल की तरह उसे गला जलाकर समाप्त कर देता है। इसे मतिभ्रम ही कहना चाहिए कि लोग अपनी क्षमता को संचित करके रखना चाहते हैं और उसका लाभ कुछ थोड़े से ही समीपवर्ती लोगों को देना चाहते हैं। इस नीति के अपनाने में चतुरता अनुभव करने वाले लोग अंततः मूर्खों के समूह में गिने जाते हैं॥ ७५-७८॥

व्याख्या—कृपण बुद्धि के संकीर्ण मानस वाले व्यक्ति इहलोक एवं परलोक दोनों में ही अपयश पाते हैं। व्यक्ति का मूल्यांकन उसकी उदार परमार्थ परायणता, सहकारिता एवं समष्टिगत पारिवारिकता की भावना के आधार पर होता है। ऐसे व्यक्तियों की इस संसार में कमी नहीं है, जिन्होंने एषणा में लिप्त होकर शांत मनःस्थिति में ही सारी जिंदगी काट दी एवं अंत में हाथ धुनते-पछताते कूच कर गए।

उदारमानसैर्लोकैर्बहु विश्वाय चाऽर्पितम्।
दानमेकं समर्प्यासावनुदानानि विंशतिम्॥ ७९॥
अधिगंतुमभूदर्हो नात्मसंतोष आप्यते।
लोकमानं तथा दैवोऽनुग्रहो मानवैः समैः॥ ८०॥
उदारमानसाः सन्ति ये मतास्तेऽधिकारिणः।
दैवानामनुदानानामुदारा ये नराः स्वयम्॥ ८१॥
तेषु वर्षति चौदार्यं विश्वस्यापि नरेष्वलम्।
कृपणेषु समाजस्य प्रभोः कोपश्च वर्षति॥ ८२॥
पापकृत्यमिदं प्राहुः संसारक्रमपद्धतौ।
व्यतिरेकसमुत्पादितया दुर्गतिकं नृणाम्॥ ८३॥

टीका—उदारमना लोगों ने विश्व वसुधा को बहुत कुछ दिया है। जिसने जितना दिया है, वह उसी अनुपात में एक दान के बदले बीस अनुदान अर्जित करने में सफल हुआ है। आत्मसंतोष, लोकसम्मान और दैवी अनुग्रह हर किसी को नहीं मिलते। इन दैवी अनुदानों के अधिकारी मात्र उदारमना ही होते हैं। जो स्वयं उदार हैं, उसी पर संसार की उदारता बरसती है। कृपणता अपनाने से समाज भी रुष्ट रहता है। और भगवान का कोप भी बरसता है। यह संसार क्रम में व्यतिरेक उत्पन्न करने के कारण तथा मनुष्यों की दुर्गति करने वाला होने से पापकृत्य माना गया है॥ ७९-८३॥

व्याख्या—दैवी अनुदान अनायास ही नहीं मिलते। जो परमार्थ में स्वयं को नियोजित करते हैं, जिनकी दृष्टि उदार होती है, दूसरों के प्रति जिनके मन में करुणा होती है, उन्हें परमपिता अजस्र अनुदानों से लाद देते हैं।

मूल्यं धर्मधृतेरात्मप्रगतेश्चैवमेव हि।
निश्चीयते नरेणात्मजीवने कियती च सा॥ ८४॥
गृहीतोदारता चाथ परार्थाभिरतिस्तथा।
दर्शिता स्वर्गमुक्त्यात्मं फलं तत्र फलेत्तरौ॥ ८५॥

टीका—धर्मधारणा और आत्मिक प्रगति का मूल्यांकन इसी आधार पर किया जाता है कि अपने जीवनक्रम में कितनी उदारता अपनाई और परमार्थ परायणता दर्शाई। स्वर्ग और मुक्ति का पुण्य प्रतिफल इसी परमार्थ परायणता के वृक्ष पर लगता है॥ ८४-८५॥

व्याख्या—धर्मधारणा को प्रतीक और कर्मकांड तक सीमित रखने वाले लोग भगवान को पाने के झूठे भ्रम में रहते हैं। भगवान तो सेवा में उदारता में विद्यमान हैं।

धर्मस्य धारणायाश्च युग्मैरन्यैः समं समे।
जानन्तु पंचमं युग्मं महत्त्वमहितं भुवि॥ ८६॥
धर्म आचरणस्यापि विषये विद्यते यतः।
क्रियायां परिणतं ते च कुर्वते मानवास्ततः॥ ८७॥
कथनेनाऽथवा लोके श्रवणेन तु केवलम्।
प्राप्यते ज्ञानमात्रं तु दिशाबोधश्च जायते॥ ८८॥

धर्मचर्चाऽनिवार्याऽतः समैरेव मता परम्।
पर्याप्ता नैव नूनमाचारेण विना भुवि॥ ८९॥

टीका—धर्मधारणा के अन्य चार युग्मों की भाँति यह पाँचवां युग्म भी अतीव महत्त्वपूर्ण है। धर्म आचरण का विषय है। उसे कर्म में परिणत किया जाता है। कथन-श्रवण से तो जानकारी प्राप्त होती और दिशा मात्र मिलती है। अतएव धर्मचर्चा को आवश्यक तो समझा गया है, पर उसे आचरण में लाए बिना पर्याप्त नहीं माना गया॥ ८६-८९॥

व्याख्या—धर्म वस्तुतः पढ़ने भर की वस्तु नहीं, वह तो महानता का आचरण है। उसे अपनाते से ही धर्म धारणा परिपक्व होती है और सिद्धि प्राप्त होती है।

सत्रे समाप्ते सर्वेऽपि जनास्ते तु परस्परम्।
आलिलिंगुर्गृहीत्वा च गले रोमांचिताः समे॥ ९०॥
सत्राध्यक्षं प्रणेमुस्ते यो ववर्षामृतं वचः।
आगतेभ्यश्च धर्मस्य धारणाया महत्त्वगम्॥ ९१॥
तत्त्वज्ञानं सगाम्भीर्यं बोधयामास यत्नतः।
सर्वेर्गन्तुं द्वितीयेऽह्नि निजस्थानानि निश्चितम्॥ ९२॥
निजेष्वाचरणेष्वेव स्वरूपं शोभनं समे।
धर्मस्य धारणायास्ते निरचिन्वन् समाहितुम्॥ ९३॥
वातावृतौ सदुत्साहभरितायां तपोवने ।
सत्रं समाप्तं तद्दिव्यं जयघोषपुरस्सरम्॥ ९४॥
भूयोऽपि चेदृशं दिव्यं भवेदायोजनं तथा।
तत्र सम्मिलिताः स्याम वाञ्छा चेतसि सोद्गता॥ ९५॥

टीका—सत्र समापन पर सभी उपस्थित जन गले मिले एवं हर्ष से गद्गद हो गए। सत्राध्यक्ष को नमन अभिनंदन किया, जिनने ऐसी अमृत वर्षा की और आगंतुकों को धर्म-धारणा के तत्वज्ञान को गंभीरतापूर्वक समझाने का सफल प्रयत्न किया। कल सभी को अपने-अपने स्थानों को जाना था। सबने अपनी-अपनी गतिविधियों में धर्मधारणा के इस स्वरूप को और भी अच्छी तरह समाविष्ट करने का निश्चय किया। अत्यंत उत्साह के वातावरण में जयघोष के साथ तपोवन में आयोजित वह सत्र समाप्त हुआ। दूसरी बार फिर ऐसे ही आयोजन के होने और उसमें सम्मिलित होने की आकांक्षा सभी के मन में उठ रही थी॥ ९०-९४॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,
श्री आश्वलायन-जरत्कारु ऋषि संवादे सहकारः-परमार्थ इति
प्रकरणो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७॥

तृतीय मण्डल

॥ अथ प्रथमोऽध्यायः ॥

परिवार-व्यवस्था प्रकरण

एकदा तु हरिद्वारे कुंभपर्वणि पुण्यदे।
पर्वस्नानस्य सञ्जातः समारोहोऽत्र धार्मिकः॥ १॥
देशांतरादसंख्यास्ते सद्गृहस्थाश्च संगताः।
अवसरे च शुभे सर्वे पुण्यलाभाप्तिकाम्यया॥ २॥
सद्भिर्महात्मभिश्चापि संगत्यात्र परस्परम्।
संदर्भेसमयोत्पन्नस्थितीनां विधयः शुभाः॥ ३॥
मृग्यास्तथा स्वसंपर्कक्षेत्रजानां नृणामपि।
समस्यास्ताः समाधातुं सत्प्रवृत्तेर्विवर्धने॥ ४॥
मार्गदर्शनमिष्टं च राष्ट्रकल्याणकारकम्।
भागीरथीतटे तस्मात्सम्मर्दः सुमहानभूत्॥ ५॥
पुण्यारण्येषु गत्वा च सर्वे देवालयेष्वपि।
प्रेरणाः प्राप्नुवन्त्युच्चा धार्मिकास्ते जनाः समे॥ ६॥

टीका—एक बार पुण्यदायी कुंभपर्व पर हरिद्वार क्षेत्र में विशाल पर्व स्नान का धर्म समारोह हुआ। देश-देशांतरों से अगणित सद्गृहस्थ उस अवसर पर पुण्य-लाभ पाने के लिए एकत्रित हुए। साधु-संतों को भी परस्पर मिल-जुलकर सामयिक परिस्थितियों के संदर्भ में उपाय खोजने थे, साथ ही अपने संपर्क क्षेत्र के लोगों की समस्याएँ सुलझाने एवं सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ाने के संदर्भ में राष्ट्र कल्याणकारी मार्गदर्शन भी करना था। भागीरथी के तट पर अपार भीड़ थी, तीर्थ आरण्यकों और देवालयों में पहुँचकर धर्म-प्रेमी उच्चस्तरीय प्रेरणाएँ प्राप्त कर रहे थे॥ १-६॥

व्याख्या—कुंभ आदि पर्वों पर तीर्थस्थानों पर भारी संख्या में संतों और गृहस्थों के संगम होते रहने के प्रमाण स्थान-स्थान पर मिलते रहते हैं। मोटी मान्यता यह है कि समय विशेष पर स्नान आदि का विशेष पुण्य प्राप्त करने के लिए ही लोग पहुँचते हैं। वह भी एक पुण्य हो सकता है, किंतु प्रस्तुत संदर्भ में अनेक महत्त्वपूर्ण उद्देश्यों की चर्चा की गई है।

अनादिकाल से ऋषियों का संतों का एक देशव्यापी तंत्र कार्य करता रहा है। अपनी-अपनी साधनाओं से उपलब्ध महत्त्वपूर्ण सूत्रों का एकीकरण, बदलती परिस्थितियों के अनुरूप धर्मतंत्र के क्रियात्मक सूत्रों का निर्धारण, सामाजिक राष्ट्रीय समस्याओं के संदर्भ में सर्वसम्मत हल तथा तदनुरूप मार्गदर्शन की व्यवस्था जैसे महत्त्वपूर्ण पुण्यदायी कार्य ऐसे अवसरों पर किए जाते थे। इनका लाभ जनसामान्य भी उठाते थे और जन-जन तक पहुँचाने का क्रम भी चलता रहता था।

अस्मिन् पर्वणि धौम्यश्च महर्षिः स व्यधाच्छुभम्।
सत्रं तत्र गृहस्थानां मार्गदर्शनहेतवे॥ ७॥
तस्या आयोजनस्येयं सूचना विहिताऽत्र च।
शंखनादेन घण्टानां निनादेनापि सर्वतः॥ ८॥

टीका—इस पर्व आयोजन के बीच महर्षि धौम्य ने सद्गृहस्थों के मार्गदर्शन हेतु एक विशेष सत्र का आयोजन किया। इस आयोजन की सूचना शंख बजाते हुए सभी को दे दी गई॥ ७-८॥

व्याख्या—प्राचीनकाल के ऋषियों ने अपने समय की समस्याओं पर उसी समय की परिस्थितियों का ध्यान रखते हुए प्रकाश डाला था। आज की स्थिति उस समय से भिन्न है। आज वे समस्याएँ नहीं रहीं, जो प्राचीन काल में थीं। तब परिवार सीमित और सुसंस्कारी होते थे, साधन भी पर्याप्त थे। परंतु अब नई समस्याएँ सामने हैं, उनके समाधान आज के हिसाब से ही ढूँढ़ने होंगे। यह काम युगद्रष्टाओं और कालपुरुषों का है। वे ही समय-समय पर युगानुरूप समस्याओं के समाधान प्रस्तुत करते रहे हैं। यहाँ महर्षि ने बदलती परिस्थितियों में समयानुकूल समाधान प्रस्तुत करने के लिए सद्गृहस्थों सामान्यजनों को आमंत्रित किया है।

सत्रसप्ताहमारब्धं विषयेष्वपि च सप्तसु।
प्रथमे दिवसे चाभूदौत्सुक्यमधिकं नृणाम्॥ ९॥
जिज्ञासवो गृहस्थाश्च बहवस्तत्र संगताः।
गृहिण्योऽपि विवेकिन्यो बह्व्यस्तत्र समागताः॥ १०॥
उपस्थितान् गृहस्थाँश्च संबोध्योवाच तत्र सः।
ऋषिर्धौम्यो गृहस्थस्य गरिम्णो विषयेऽद्भुतम्॥ ११॥
पुण्यदं घोषितं तच्च गृहेऽपि वसतां नृणाम्।
वातावृतेस्तपोभूमेः समानाया विनिर्मितेः॥ १२॥
गुरुकुलस्य विशालस्य संचालनविधेरिव।
ओजस्विन्यां गभीरायां वाचि वक्तव्यमाह च॥ १३॥

टीका—सत्र प्रारंभ हुआ। इसे सात दिन चलना था और सात विषयों पर प्रकाश डाला जाना था। प्रथम दिन उत्सुकता अधिक थी। बहुत से जिज्ञासु गृहस्थ उपस्थित हुए। विचारशील महिलाएँ भी उसमें बड़ी संख्या में उपस्थित थीं। उपस्थित सद्गृहस्थों को संबोधित करते हुए, महर्षि धौम्य ने गृहस्थ धर्म की अद्भुत गरिमा बताई। उसे घर में रहते हुए तपोवन का वातावरण बनाने और गुरुकुल चलाने के समान पुण्य फलदायक बताया। गंभीर ओजस्वी वाणी में अपना

प्रतिपादन प्रस्तुत करते हुए वे बोले ॥ ९-१३ ॥

व्याख्या—गृहस्थ धर्म जीवन का एक पुनीत, आवश्यक एवं उपयोगी अनुष्ठान है। आत्मोन्नति करने के लिए यह एक प्राकृतिक, स्वाभाविक और सर्वसुलभ योग है। गृहस्थ धर्म के परिपालन से ही आत्मभाव की सीमा बढ़ती है, एक से अनेक तक आत्मीयता फैलती विकसित होती है। इसमें मनुष्य अपनी दिन-दिन की खुदगर्जी के ऊपर अंकुश लगाता जाता है, आत्मसंयम सीखता और स्त्री, पुत्र, संबंधी, परिजन आदि में अपनी आत्मीयता बढ़ाता जाता है। यही उन्नति धीरे-धीरे आगे बढ़ती जाती है और मनुष्य संपूर्ण चर-अचर में जड़-चेतन में, आत्मसत्ता को ही समाया देखता है। उसे परमात्मा की दिव्य ज्योति जगमगाती दीखती है।

गृहस्थाश्रम ऐसा आश्रम कहा है, जिसकी परिधि में आज के विश्व की बहुसंख्य जनसंख्या समा जाती है। इस दृष्टि से इस आश्रम की मर्यादाओं में किसी भी भले-बुरे परिवर्तन का प्रभाव सर्वाधिक लोगों को प्रभावित करता है, जो कि समाज की एक इकाई है। समाज का एक स्वरूप ही मनुष्य का अपना परिवार है। परिवार संस्था को लौकिक तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए अतीव उपयोगी माना गया है। परिवार जीवन की परिभाषा करते हुए ऋषि-मनीषियों ने कहा है परिवार परमात्मा की ओर से स्थापित एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा हम अपना आत्मविकास सहज ही में कर सकते हैं और आत्मा में सतोगुण को परिपुष्ट कर सुखी, समृद्ध जीवन प्राप्त कर सकते हैं। मानव जीवन की सर्वांगीण सुव्यवस्था के लिए पारिवारिक जीवन प्रथम सोपान है। मनुष्य केवल सेवा, कर्म और साधना में ही पूर्ण शांति प्राप्त कर सकता है।

जिस प्रकार परमात्मा और आत्मा में सिवाय छोटे बड़े स्वरूप के और कोई अंतर नहीं है, उसी प्रकार समाज और परिवार में कोई अंतर नहीं है। परिवार को समुन्नत एवं सुसंस्कृत बनाना समाज के उत्थान करने की एक छोटी-सी प्रक्रिया है। उसको क्रियात्मक रूप देने की प्रयोगशाला परिवार है। समाज सेवा का परिपूर्ण अवसर अपने परिवार के छोटे से क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त है और उतने का सुधार कर सकना सरल एवं साध्य भी है। यदि हम सब अपने कौशल, ज्ञान और क्षमता का पूरा-पूरा लाभ देकर परिवार के माध्कयम से समाज सेवा का उत्तरदायित्व निभाते चलें, तो जल्दी ही वे परिस्थितियाँ आ सकती हैं, वह सुकाल आ सकता है, जो कभी प्राचीन युग में रही हैं। शास्त्र का वचन है

तथा तथैव कार्योऽत्र न कालस्य विधीयते।
अभिन्नेव प्रयुञ्जानो ह्यभिन्नेव प्रलीयते॥

अर्थात् इस संसार के साथ हमारा संयोग है, इसी संसार में हमारा लय हो जाएगा, तब हमें जिस समय जो कर्त्तव्य हो, वही करना अनिवार्य है। व्यक्तिगत सुविधा अथवा असुविधा को लेकर कर्त्तव्य के पुण्य पथ पर चलते रहना चाहिए। इसीलिए धर्म ने गृहस्थाश्रम को तपोभूमि कहकर उसकी महत्ता स्वीकार की है।

गृहस्थ एव इज्यते गृहस्थस्तप्यते तपः।
चतुर्णामाश्रमाणां तु गृहस्थस्तु विशिष्यते॥

अर्थात् गृहस्थ ही वास्तव में यज्ञ करते हैं। गृहस्थ ही वास्तविक तपस्वी हैं। इसलिए चारों आश्रमों में गृहस्थाश्रम ही सबका सिरमौर है। गृहस्थ जीवन एक तप है, एक साधना है। इसका समुचित प्रयोग करके ही वास्तविक जीवन लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

यहाँ ऋषि श्रेष्ठ ने गृहस्थाश्रम को तपोवन बताते हुए उसकी गरिमा बताने एवं इस आश्रम को एक समग्र गुरुकुल व्यवस्था के रूप में चलाने, विकसित करने की महत्ता दर्शाने का प्रयास आरंभ किया है। उन्होंने अपने उद्बोधन का शुभारंभ ही गृहस्थाश्रम के माहात्म्य से किया है। जो स्पष्टतः इस प्रकरण की गंभीरता जताता है।

धौम्य उवाच

गृहस्थाश्रमधर्मस्य परिपालनमप्यहो ।
योगाभ्यास इवास्तीह संयमादात्मनः सदा॥ १४॥
यथाकालं तु ये चैनं धर्मं संपादयन्त्यलम्।
परलोकेऽथ लोकेऽपि सुखं संतोषमेव च॥ १५॥
यशः श्रेयश्च विन्दंति मोदन्ते सर्वदा तथा।
स्वप्रयासानुरूपं च लभन्ते पुण्यमुत्तमम् ॥ १६॥
सद्गतेरधिकारित्वं प्राप्यते यान्ति निश्चितम्।
जीवनस्य परं लक्ष्यं पदं च योगिनो यथा॥ १७॥

टीका—महर्षि धौम्य ने कहा गृहस्थ धर्म का परिपालन भी एक प्रकार का योगाभ्यास है। चूँकि इसमें सदा आत्मसंयम का पालन करना पड़ता है। जो इसे यथा समय सही रूप में संपन्न करते हैं, वे लोक और परलोक में सुख, संतोष यश एवं श्रेय को प्राप्त करते हैं तथा प्रसन्न रहते हैं। अपने प्रयास के अनुरूप वे पुण्यफल पाते और सद्गति के अधिकारी बनकर योगियों की तरह ही जीवन लक्ष्य तक पहुँचते और परमपद पाते हैं॥ १४-१७॥

व्याख्या—गृहस्थ धर्म का पालन करना एक प्रकार से योग की साधना करना है। अनेक प्रकार के योगों में एक गृहस्थ योग भी है। इसमें परमार्थ, सेवा, प्रेम, सहायता, त्याग, उदारता और बदला पाने की इच्छा से विमुखता यही दृष्टिकोण प्रधान है। यह योग महत्त्वपूर्ण, सर्वसुलभ तथा स्वल्प श्रम-साध्य है। योग के नाना रूपों का एक ही प्रयोजन है आत्मभाव को विस्तृत करना, तुच्छता को महानता के साथ बाँध देना।

भगवान मनु का कथन है कि गृहस्थाश्रम में पुरुष उसकी पत्नी और संतान मिलकर ही एक पूर्ण मनुष्य बनता है, उनकी आत्मीयता का दायरा क्रमश: बढ़ता ही जाता है। अकेले से पति-पत्नी दो में, फिर बालक के साथ तीन में, संबंधियों में, पड़ोसियों में, गाँव, प्रांत, प्रदेश, राष्ट्र और विश्व में यह आत्मीयता क्रमश: बढ़ती है। अंतत: समस्त जड़ चेतन में आत्मभाव फैल जाता है और अंत में जीव पूर्णतया आत्मसंयमी हो जाता है। गृहस्थ योग की छोटी-सी सर्वसुलभ साधना जब अपनी विकसित अवस्था तक पहुँचती है तो आत्मा परमात्मा बन जाता है और पूर्णता की प्राप्ति होती है।

ऋषि श्रेष्ठ यहाँ यह समझा रहे हैं कि परिवार निर्माण एक विशिष्ट स्तर की साधना है, उसमें योगी जैसी प्रज्ञा और तपस्वी जैसी प्रखर प्रतिभा का परिचय देना पड़ता है। कलाकार अपने आपको साधता है, किंतु परिवार निर्माता को एक समूचे समुदाय के विभिन्न प्रकृति और स्थिति के लोगों का निर्माण करना पड़ता है। यह कार्य सघन आत्मीयता, समग्र दूरदर्शिता एवं समर्थ तत्परता से ही संभव हो सकता है। इसके लिए धरती जैसी सहनशीलता, पर्वत जैसा धैर्य धारण और सूर्य जैसी प्रखरता का समन्वय सँजोना पड़ता है। इन सद्गुणों के अभाव में सुसंस्कृत-सुसंस्कारी परिवार के निर्माण का संयोग संभव नहीं।

लघुराष्ट्रं समाजोऽल्पः परिवारस्तु वर्तते।
सीमिताश्च जनास्तत्र परिवारे भवंत्यपि ॥ १८ ॥
अतएव विधातुं च गृहस्थं सुव्यवस्थितम्।
विकासोपेतमप्यत्र सुविधा अधिका मताः ॥ १९ ॥
वसतां परिवारे च सञ्चालनकृतामपि ।
दायित्वमुभयोरेतत्समुदायमिमं सदा ॥ २० ॥
समाजं राष्ट्रमेवापि सादर्शं निर्मितुं समान्।
सद्भावान् बुद्धिमत्तां च क्रियाकौशलमाश्रयेत्॥ २१ ॥

टीका—परिवार एक छोटा राष्ट्र या समाज है। उसमें सीमित लोग रहते हैं। अस्तु उसे सँभालने, विकसित करने का अभ्यास करते रहने की सुविधा भी अधिक है। जो परिवार में रहें या उसे चलाएँ, उन दोनों ही वर्गों का उत्तरदायित्व है कि इस समुदाय को एक आदर्श समाज, आदर्श राष्ट्र बनाने में अपनी समस्त सद्भावना, बुद्धिमत्ता एवं क्रिया-कौशल नियोजित करें॥ १८-२१ ॥

व्याख्या—महर्षि ने बड़ा महत्त्वपूर्ण सूत्र यहाँ दिया है। जो व्यक्ति की, समाज की, राष्ट्र की महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारियाँ सँभालना चाहते हैं, वे उसके अनुकूल अनुभव किसी परिवार को आदर्श ढंग से संचालित करके प्राप्त कर सकते हैं। अभ्यास का यह मार्ग सबके लिए खुला है।

समाज को आदर्श बनाने के लिए कोई कुछ कर सके या न कर सके, पर उसकी एक इकाई अपने परिवार को उस आधार पर विकसित किया जा सकता है। पारिवारिक प्रवृत्तियाँ ही संयुक्त होकर सामाजिक स्तर पर प्रकट होती हैं। परिवार में रहने वाला हर छोटा-बड़ा व्यक्ति इस जिम्मेदारी को समझे और निबाहे तो परिवार भी आदर्श बने और समाज भी।

यह एक जाना-माना सिद्धांत है कि जैसा साँचा होगा वैसी ही मूर्तिकार की रचना ढलेगी। समाज एक ऐसी मूर्ति है, जिसका साँचा परिवार है। समाज निर्माण, समाज सुधार, सत्प्रवृत्ति विस्तार सबसे पहले परिवार संस्था से आरंभ होता है। आदर्श परिवार ही किसी सशक्त समाज की आधारशिला बनाते हैं। इसी कारण महामानवों का ध्यान परिवार पर सर्वाधिक रहा है।

वस्तुतः परिवारस्तु संयुक्तो कथितो बुधैः।
पुण्यं संघटनं यस्य सुव्यवस्था मता तु सा॥ २२॥
सद्भावस्य बाहुल्यात्सहकारस्य संततम्।
कर्त्तव्यपालने बुद्धिः कर्त्तव्या परिवारगैः॥ २३॥
अधिकारोपलब्धेश्च यावत्यः सुविधाश्च ताः।
भवेयुः कर्म कर्तुं च यत्र यत्नो विधीयताम्॥ २४॥
स्वापेक्षया परेषां हि सुविधासु भवेद् यदि।
ध्यानं तदैव कस्मिंश्चित्समुदाये तु मित्रता ॥ २५॥
आत्मीयता तथा नूनं सहकारस्य भावना।
विकसिता दृश्यते यैश्च बिना शून्यं हि जीवनम्॥ २६ ॥

टीका—परिवार वस्तुत: एक पवित्र संयुक्त संगठन है। उसकी सुव्यवस्था पारस्परिक सद्भाव-सहकार की बहुलता से ही बन पड़ती है। सभी सदस्य कर्त्तव्यपालन पर अधिक ध्यान दें और अधिकार उपलब्ध करने की जितनी सुविधा मिले, उसी में से किसी प्रकार काम चलाने का प्रयत्न करें। अपनी अपेक्षा दूसरों की सुविधा का ध्यान अधिक रखने पर ही किसी समुदाय में मैत्री, आत्मीयता एवं सहकार के सद्भाव विकसित होते हैं, जिनके बिना जीवन शून्य प्रतीत होता है॥ २२-२६ ॥

व्याख्या—परिवार क्या है? इसका बड़ा सुंदर विवेचन यहाँ किया गया है। सामान्य रूप से एक कुटुंब के व्यक्ति परिवार में माने जाते हैं। परंतु ऋषि कहते हैं यह सद्भावना और सहकार के आधार की पृष्ठभूमि पर विनिर्मित पावन संगठन है। इस आधार पर यदि एक कुटुंब के व्यक्ति भी स्वार्थ भरी आपाधापी के बीच रहते हैं, सद्भाव सहकार उनमें नहीं है तो वह भी परिवार नहीं, मजबूरी में एक बाड़े में बंद जानवर जैसे लोग हैं।

दूसरी ओर कोई भी व्यक्ति यदि परस्पर उच्च उद्देश्यों को लक्ष्य करके सद्भाव-सहकारपूर्वक साथ-साथ रहते हैं, तो वह एक परिवार है। ऐसा परिवार सभी के लिए आवश्यक

होता है। ऋषि-संत आदि आश्रमों में इसी आधार पर परिवार भाव बनाकर रहते हैं। जहाँ परिवार भाव है, वहाँ कोई भी समूह परिवार कहलाता है। इसीलिए पारिवारिकता को आदर्श सामाजिक व्यवस्था माना जाता है।

व्यक्ति एकाकी रह तो सकता है, पर वह बड़ी कष्टकारी साधना है। भ्रूणावस्था से लेकर बड़े होकर स्वावलंबी बनने तक मानव के विकास में समाज का हर घटक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। कोई चाहे कि वह बिना किसी के सहयोग के अपनी यात्रा चलाता रहे, तो ऐसे व्यक्ति को इक्कड़, संकीर्ण, स्वार्थी ही कहा जाएगा।

परिवार की सार्वभौम नूतन परिभाषा में मैत्री के आधार पर बना वह संगठन भी आता है, जिसके हर सदस्य परस्पर अन्योन्याश्रित होते हैं, एक दूसरे के सद्भाव का अवलंबन लेकर आगे बढ़ते हैं। कोई जरूरी नहीं कि व्यक्ति विवाह करके, परिवार बसाकर ही गृहस्थ धर्म निभाएँ। यदि वह एक परिवार विशेष को पारिवारिकता का पोषण देता है, तो प्रकारांतर से परिवार धर्म की साधना ही करता है। महत्ता संगठन की सरंचना की नहीं उस भावना की, निष्ठा की है, जो ऐसी प्रक्रिया अपनाने पर अंत में विकसित होती है।

एतत् कुटुंबसंस्थायाः घटनं नैव केवलम् ।
कामकौतुकहेतोर्वा भोजनस्य कृते पुनः ॥ २७॥
वस्तुसंग्रहरक्षार्थं नित्यकर्मव्यवस्थितेः ।
इयन्मात्राय दायित्वं बृहत्कश्चित्कथं वहेत् ॥ २८॥
एतास्तु सुविधा द्रव्यात्पण्यशालासु चाञ्जसा।
प्राप्तुं शक्या व्ययश्चापि न्यूनस्तत्र भवेत्तथा॥ २९॥
दायित्वेभ्योऽपरेभ्यश्च मुक्तस्तिष्ठति मानवः।
इयत्यपि नरो बद्धा कुटुंबस्यानुशासने ॥ ३०॥

टीका—परिवार संस्था का गठन काम-कौतुक, भोजन व्यवस्था, सामान की सुरक्षा एवं नित्यकर्मों की व्यवस्था मात्र के लिए नहीं होता। इतने भर के लिए कोई क्यों तैयार होगा? ये सुविधाएँ तो सराय में पैसा चुकाते रहने पर और भी सरलतापूर्वक मिल सकती हैं। उनमें खरच भी कम पड़ेगा और जिम्मेदारियों से भी मुक्त रहा जा सकेगा। इतने पर भी हर बुद्धिमान व्यक्ति परिवारगत अनुशासन में ही बँधना चाहता है॥ २७-३०॥

व्याख्या—परिवार परंपरा को प्रोत्साहित करने में ऋषियों का मंतव्य केवल इतना ही नहीं रहा कि व्यक्ति एक से बहुत होकर रहें। दु:ख तकलीफ पड़ने पर उसका हाथ बँटाने वाला साथ हो। व्यक्ति व्यवस्थित रूप में स्थाई होकर रहे और परिजनों के साथ अधिक उल्लासपूर्ण जीवनयापन करे। इस असाधारण मनुष्य आत्म-कल्याण की ओर भी अग्रसर हो। उसमें सामाजिकता, नागरिकता और सबसे बड़ी बात विश्व मानवता का कल्याणकारी भाव जागे। वह अपने जैसे अन्य मनुष्यों के लिए त्याग, सहानुभूति, सौहार्द एवं आत्मीयता का अभ्यास कर सके। पारिवारिक जीवन में ही आध्यात्मिक गुणों को विकसित करने का पूरा-पूरा अवसर मिलता है।

यहाँ एक ऐसा भ्रम दूर करने का प्रयास किया गया है, जिसमें अधिकांश लोग उलझकर रह जाते हैं। परिवार की आवश्यकता जीवन की सामान्य सुविधाओं के लिए होती है। यह आम मान्यता बन गई है। यदि यही सच होता, कामवासना की तुष्टि, भोजन व्यवस्था, सामान की सुरक्षा, नित्यकर्म की सुविधाएँ आदि के लिए तो धर्मशाला जैसी व्यवस्था ही काफी होती।

परंतु ऐसा है नहीं। मनुष्य की एक बड़ी आवश्यकता है, सघन आत्मीयता की अनुभूति, अपनत्व का विस्तार, अंतरंग स्नेह का रसास्वादन। पाश्चात्य परंपरा में परिवार को स्थूल व्यवस्था के लिए बनाया गया, एक ठेका मानकर प्रयोग किया गया। पहले तो कुछ समय यह व्यवस्था अच्छी लगी, पर फिर क्षोभ, असंतोष उभरने लगा। वहाँ साधन खूब हैं, एक दूसरे की स्वतंत्रता में कोई बाधक नहीं बनता, बल्कि पति-पत्नी, बच्चों और माँ-बाप के बीच यह सघन स्नेह नदारद हो गया, जिसे मानवीय अंत:करण की खुराक माना जाता रहा है।

अनेक सर्वेक्षणों के आधार पर यह पाया गया है कि अमेरिका जैसे संपन्न राष्ट्र में ८० प्रतिशत व्यक्तियों को सोने के लिए नींद की गोली लेनी पड़ती है। उनमें से आधे से अधिक के मानसिक तनाव का कारण उनके पारिवारिक जीवन में स्नेह सद्भाव, आत्मीयता का पूर्ण अभाव पाया जाना है।

स्थातुमिच्छन्ति तत्रास्ति योग आत्मपरिष्कृतेः।
समाजाय सुयोग्यानां नागराणां समर्पितेः॥ ३१॥
वातावृतौ सुयोग्यायां व्यक्तिस्तिष्ठति सर्वदा।
संतुष्टा च प्रसन्ना च निश्चिंता च कुटुंबके॥ ३२॥
अतएव चिरादेष मनुष्यो वसति स्वयम्।
कृत्वा परिवारनिर्माणं वैशिष्ट्यं मौलिकं त्विदम्॥ ३३॥
पारिवारिकताऽऽधारं समाश्रित्यैव जीवनम्।
अभूद् विकसितं तस्य जीवनं पशुतां गतम्॥ ३४॥
सामूहिकस्य योगोऽभूदुत्कर्षस्यैवमेष तु ।
सृष्टेर्मुकुटरत्नं यन्मनुष्यः कथ्यतेऽधुना ॥ ३५॥

टीका—इसके साथ आत्म परिष्कार और समाज को सुयोग्य नागरिक प्रदान करने का परमार्थ भी जुड़ा हुआ है। उपयुक्त वातावरण में रहकर व्यक्ति प्रसन्न, संतुष्ट और निश्चिंत रहता है। इसलिए मनुष्य चिरकाल से परिवार बनाकर रहता आ रहा है। यह उसकी मौलिक विशेषता है।

पारिवारिकता के आधार पर ही उसका पशुतुल्य निजी जीवन विकसित हुआ है और सामूहिक उत्कर्ष का ऐसा सुयोग बन सका है, जिसमें मनुष्य को सृष्टि का मुकुटमणि कहा जाता है॥ ३१-३५॥

व्याख्या—मानव सभ्यता का जितना विकास वर्तमान समय में दिखलाई पड़ता है, उसका अधिकांश श्रेय परिवार प्रथा को ही दिया जा सकता है। जिस युग में मनुष्य बिना परिवार के एकाकी रहता था तब उसमें और अन्य पशुओं में बहुत थोड़ा ही अंतर था। परिवार बनाकर रहने के पश्चात् उस पर स्त्री और बच्चों की सुरक्षा तथा पालन का जो उत्तरदायित्व आया, उसी से उसमें सामूहिकता तथा सहयोग की वृत्तियाँ उत्पन्न हुईं। इसी के द्वारा उसे स्वार्थ, त्याग और समाज सेवा का पाठ पढ़ने को मिला, जिससे क्रमश: लोगों को संगठन और सहयोगपूर्वक काम करने का अभ्यास बढ़ता गया और मानव समाज अन्य प्राणियों से सशक्त स्थिति में पहुँच सका तथा स्रष्टा की उत्कृष्टतम कृति कहलाने का सौभाग्य प्राप्त कर सका।

अध्यात्म क्षेत्र में सामान्यतया यह मान्यता बन गई है कि गृहस्थ एक बंधन है, उससे जान छुड़ाने का प्रयास किया जाए। इस मान्यता ने गृहस्थाश्रम की पवित्रता और उसकी व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया है। यह बात ठीक है कि कुछ महापुरुष गृहस्थ बसाए बिना भी अपना कार्य करते रहे हैं, परंतु इससे गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता संदिग्ध नहीं हो जाती।

प्राचीनकाल के इतिहास पर दृष्टि डालने से प्रतीत होता है कि कुछ थोड़े से अपवादों को छोड़कर प्राय: सभी गृहस्थ थे। योग-साधना एवं वनवास के समय भी उनकी पत्नियाँ साथ रहती थीं। सभी गृहस्थ मुनि सपत्नीक रहते थे। महर्षियों में प्रधान सप्त ऋषियों की भी पत्नियाँ थीं, उनके बच्चे भी थे। देवताओं में सभी गृहस्थ हैं। ईश्वर के अवतारों में भी अधिकांश ने अपना गृहस्थ बनाया है। भगवान राम और कृष्ण जिनका नाम लेकर हम भवसागर से पार होते हैं, गृहस्थ ही तो थे। दांपत्य जीवन की आवश्यकता एवं उपयोगिता को स्वीकार करते हुए उन्होंने मर्यादापालन के लिए एक सद्गृहस्थ के रूप में ही अपना चरित्र प्रस्तुत किया है। जीवन की सुविधा तो गृहस्थ जीवन में बढ़ती है, साथ ही कितने जीवन लक्ष्यों की पूर्ति में भारी सहायता मिलती है।

चर्चामिमां महर्षिः स धौम्योऽग्रे वर्धयन्पुनः।
उवाच भद्राः शृणुत परिवारस्तु वर्तते ॥ ३६॥
दिव्या प्रयोगशालेव सद्गुणोन्मेषकारिणी।
तस्य सञ्चालनं सम्यक् निर्धारणमथाऽपि च॥ ३७॥
यदि स्यान्निश्चितं तत्र सुयोग्याः शिक्षितास्तथा।
नागराः संभविष्यंति महापुरुषसंज्ञकाः ॥ ३८॥
गुणं कर्म स्वभावं च कर्तुमुच्चैस्तरं तथा।
व्यक्तित्वं प्रखरं कर्तुं पाठशालेव च स्मृतः॥ ३९॥
अस्ति व्यायामशालेव परिवारस्तुनिश्चितम्।
जीवनस्योपयुक्तानि वैशिष्ट्यानि समभ्यसन्॥ ४०॥
समर्थो जायते यत्र नरः सर्वत एव च।
आत्मनः परिवारस्य हितं राष्ट्रस्य सिद्ध्यति॥ ४१॥

टीका—ऋषि प्रवर धौम्य अपनी चर्चा आगे बढ़ाते हुए पुन: बोले, हे भद्रजनो परिवार तो सद्गुणों को विकसित करने की एक प्रयोगशाला है। उसका सही निर्धारण एवं सुसंचालन किया जा सके, तो निश्चय ही उस परिकर में से सुयोग्य-शिक्षित नागरिक एवं महामानव निकलेंगे। गुण-कर्म-स्वभाव को उच्चस्तरीय बनाने एवं व्यक्तित्व को गौरवशाली बनाने का पाठ इसी पाठशाला में पढ़ा जाता है। यही वह व्यायामशाला है जिसमें जीवन भर काम आने वाली विशिष्टताओं का अभ्यास करते हुए हर दृष्टि से समर्थ बना जा सकता है, जिससे अपने परिवार का, राष्ट्र का हित सिद्ध होता है॥ ३६-४१॥

व्याख्या—परिवार को यहाँ एक प्रयोगशाला, पाठशाला एवं व्यायामशाला की उपमा देते हुए एक ऐसी टकसाल बताया गया है, जहाँ समर्थ राष्ट्र के लिए अभीष्ट महामानवों की ढलाई होती है।

मनुष्य का सारा जीवन भली-भाँति की परीक्षाओं से निपटते हुए कटता है। परिवार रूपी प्रयोगशाला में गुण, कर्म, स्वभाव की अच्छी खासी परीक्षा हो जाती है। जहाँ पारिवारिक वातावरण श्रेष्ठ कोटि का होगा, वहाँ के प्रयोग निष्कर्ष भी अनुपम होंगे। महामानवों के जीवन ऐसे ही प्रयोगों की कड़ी कसौटी पर खरे उतरकर श्रेष्ठ बन सकने में समर्थ हुए हैं।

पाठशाला सुसंस्कारिता संवर्द्धन के साथ-साथ व्यक्ति के कर्तृत्व को लक्ष्य के साथ जोड़ देने हेतु विनिर्मित एक परिकर है। मात्र स्कूली पढ़ाई पर्याप्त नहीं। जब तक जीवन के विभिन्न पहलुओं का व्यावहारिक अध्ययन-अध्यापन यहाँ नहीं होगा, यह पठन-पाठन व्यर्थ है। व्यक्ति त्व को श्रेष्ठ बनाने का काम पारिवारिक पाठशाला करती है।

व्यायामशाला में शरीर को बलिष्ठ बनाने, अपनी सामर्थ्य को विकसित करने का प्रयास किया जाता है। भाँति-भाँति के संयम-अनुशासन पालने पड़ते हैं। व्यक्ति जब तक पूरी वर्जिस नहीं कर लेता, उसका एक बार किया हुआ व्यायाम पर्याप्त नहीं माना जाता। जागरूकता, कर्मठता के विकास हेतु जरूरी है कि परिवार को एक व्यायामशाला मानते हुए अपने विकारों पर नियंत्रण की एवं समर्थता-विशिष्टता बढ़ाने की साधना भली प्रकार की जाए, ताकि परिवार की समाज की

राष्ट्र की एक सर्वांगीण इकाई के रूप में मनुष्य विकसित हो सके।

अधिसंख्य महापुरुषों का जीवन इस तथ्य का साक्षी है कि उन्होंने पारिवारिक वातावरण में ही महानता का पाठ सीखा।

दूरदर्शित्वभावस्य तथैव सुव्यवस्थिते।
श्रेष्ठोऽभ्यासो गृहे कर्तुं शक्यो मर्त्येन चाञ्जसा॥ ४२॥
न तथा शक्यते प्राप्तुमन्यत्राऽनुभवो न च।
प्रशिक्षणं लभेतापि व्यवहारानुकूलगम्॥ ४३॥
आदिकालात्समाश्रित्याधारं तं पारिवारिकम्।
चलतीह तु विश्वस्य व्यवस्था स्वर्गसौख्यदा॥ ४४॥
दिनेषु तेषु चाभूत् सा वातावृतिरतः शुभाः।
सत्यस्यात्र युगस्येव मर्त्यकल्याणकारिका॥ ४५॥
परंपराऽवहेलैव कारणं प्रमुखं तु तत्।
नरो येन महान् स्वार्थी क्षुद्रो जातो निरंतरम्॥ ४६॥
समस्याभिरनेकाभिस्तथाऽक्ते च विपत्तिभिः।
वृतः परं भविष्यंतु वर्तते प्रोज्ज्वलं ध्रुवम्॥ ४७॥

टीका—सुव्यवस्था और दूरदर्शिता का जितनी अच्छी तरह अभ्यास घर-परिवार के बीच किया जा सकता है, उतना व्यावहारिक प्रशिक्षण एवं अनुभव अर्जित कर सकना अन्यत्र कहीं भी संभव नहीं हो सकता। स्वर्ग के समान सुखदायी विश्व-व्यवस्था आदिकाल से पारिवारिकता के आधार पर चलती रही है। सतयुगी वातावरण उन दिनों इसी कारण बना भी रहा, जो मनुष्य मात्र के कल्याण का कारण था। उस महान परंपरा की अवहेलना ही मुख्य कारण है, जिससे मनुष्य स्वार्थी व क्षुद्र बनता चला गया और अंत में अनेकानेक समस्याओं एवं विपत्तियों से घिर गया, लेकिन उसका भविष्य निश्चित ही उज्ज्वल है॥ ४२-४७॥

व्याख्या—परिवार एक पूरा समाज, एक पूरा राष्ट्र है। भले ही उसका आकार छोटा हो, पर समस्याएँ वे सभी मौजूद हैं जो किसी राष्ट्र या समाज के सामने प्रस्तुत रहती हैं। प्रधानमंत्री या राष्ट्रपति को जो बात अपने देश को समुन्नत बनाने के लिए सोचनी-करनी चाहिए, वही सब कुछ व्यवस्था एवं दूरदर्शिता किसी सद्गृहस्थ को परिवार निर्माण के लिए अपनानी पड़ती है। परिवार को एक सहयोग-समिति, एक गुरुकुल के रूप में विकसित करना पड़ता है, जिससे परिवार का वातावरण अच्छा बने, परिजनों को सुसंस्कृत स्तर तक पहुँचाया जा सके। भारत में या विश्व में कहीं भी जब कभी भी आदर्श सामाजिक व्यवस्था स्वर्गीय परिस्थितियाँ बनी हैं, उसका आधार पारिवारिकता की भावना ही रही है। उस भावना के उदय से परिस्थितियाँ सुधरीं और उसके विलय से बिगड़ीं। देश-विदेश के अगणित उदाहरण इसके साक्षी हैं।

प्रस्तोतव्यः स आदर्शः पुरुषैरग्रजैः सदा।
अनुकुर्वन्तु तं सर्वं तथैवाऽऽनुजन्मनः॥ ४८॥
कुतोऽप्येताः समायान्ति दुष्प्रवृत्तय उद्धताः।
परं प्रभावितान् कर्तुं सदस्यान् परिवारगान्॥ ४९॥
सत्प्रवृत्तिभिराभिश्चेदिष्टं तत्पुरुषैर्वरैः।
सदाचारैर्निजैरेवादर्शाः स्थाप्याः स्वयं शुभाः॥ ५०॥
शिक्षा वास्तविकी चैवं दीयते नोपदेशजः।
प्रभावः प्रभवत्यत्र यथाऽऽचारसमुद्भवः॥ ५१॥

टीका—परिवार के बड़े लोग छोटों के सामने अपना आदर्श रखें, ताकि वे उनका अनुकरण कर सकें। दुष्प्रवृत्तियाँ तो कहीं से भी दौड़ती हैं। पर सत्प्रवृत्तियों से पारिवारिक सदस्यों को प्रभावित करना हो, तो उसके लिए बड़ों को ही अपना उदाहरण प्रस्तुत करना होगा। वास्तविक शिक्षा इसी प्रकार दी जाती है। प्रभाव उपदेशों का नहीं, सामने प्रस्तुत होते रहने वाले आचरण का पड़ता है॥ ४८-५१॥

व्याख्या—पतन सरल है, उत्थान कठिन। पानी का प्रवाह नीचे की ओर ही बहता है। उसे ऊँचा उठाना हो, तो काफी पुरुषार्थ करना पड़ता है। मनुष्य का स्वभाव कुछ इस प्रकार का है कि उसे पतन-पराभव के गर्त में जाते तनिक भी देर नहीं लगती। चिंतन को ऊर्ध्वगामी बनाने हेतु सत्प्रवृत्तियों के उदाहरण ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। दुष्प्रवृत्तियों के लिए किसी को आमंत्रित नहीं करना पड़ता। वे जहाँ कमजोरी देखती हैं आ धमकती हैं।

ऊँचा उठने की प्रवृत्ति तभी अंदर से उमड़ती है, जब वैसा ही आचरण बड़े भी करें। पारिवारिक जन अनुकरण हेतु अपने से बड़ों को ही देखते हैं। यदि घर के सभी वरिष्ठजन स्वयं निष्ठापूर्वक उस दिशा में प्रवृत्त हुए हों, तो सहज ही सबको वह मार्ग अपनाने की प्रेरणा मिलती है। वरिष्ठों से तात्पर्य है, वे जिन्हें अग्रणी-आदर्शपुंज माना जाता है। चाहे परिवार छोटा हो अथवा बड़ा, समाज हो अथवा संस्था, राज्य हो अथवा राष्ट्र सभी पर यह एक ही तथ्य समान रूप से लागू होता है। शिक्षा देने की व्यावहारिक एवं आदर्श विधि यही है कि स्वयं भी वैसा ही आचरण किया जाए। कथनी व करनी में अंतर न हो। वाणी से भले ही कितना ही आदर्श शिक्षण क्यों न दिया जा रहा हो, स्वयं आचरण में न उतारा गया, तो वह थोथा ही सिद्ध होता है।

शिष्टाचारं तथा सर्वे सदस्याः परिवारगाः।
व्यवहरंतु ससम्मानं मधुरं प्रवदंतु च॥ ५२॥
वार्तालापं कटुं नैव नाऽपमानयुतं तथा।
प्रकुर्वन्तु प्रणामस्य स्वीकुर्वन्तु परंपराम्॥ ५३॥
अपशब्दोपयोगोऽथ भूत्वा क्रोधवशस्तथा।
केशाकेशि न कर्त्तव्यं बाहूबाहवि वा पुनः॥ ५४॥

टीका—परिवार का हर सदस्य एक दूसरे के साथ शिष्टाचार बरते। सम्मान करे। मधुर शब्द बोले। कटु और अपमानसूचक वार्तालाप कोई न करे। परस्पर अभिवादन की परंपरा का निर्वाह होता रहे। अपशब्द कह बैठना, आवेश में आकर मारपीट करना सभ्यजनों को शोभा नहीं देता॥ ५२-५४॥

व्याख्या—परिवार का संतुलन बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि परिजनों में सभी शिष्टाचार का पालन करते और एक-दूसरे के सम्मान का ध्यान रखते हैं अथवा नहीं। किसी के प्रति सम्मान प्रकट करने या प्रणाम करने से मनुष्य छोटा नहीं हो जाता, वरन इससे श्रेष्ठत्व की प्रतिष्ठा ही होती है और उस उच्च भावना का लाभ भी बिना मिले रहता नहीं। शुद्ध अंत:करण से किया हुआ नमन आंतरिक शक्तियों को जगाता है। इसलिए श्रेष्ठ पुरुषों ने सदैव ही इस मर्यादा का पालन किया है। सम्मान से प्रत्येक मनुष्य को एक प्रकार की आध्यात्मिक तृप्ति मिलती है उसे प्रत्येक व्यक्ति चाहता है, इसलिए विपरीत परिस्थितियों में भी इस नैतिक मर्यादा का पालन करना चाहिए।

कटुता वर्द्धतेऽनेन द्वेषो मालिन्यमेव च।
मानसं समुदेत्यत्र नैव भद्रा अशिष्टताम्॥ ५५॥
व्यवहारे प्रगृह्णंतु बुद्धिरत्र विधीयताम्।
यत्नः हस्तावलंबेन सहयोगे विधीयताम्॥ ५६॥
औदासीन्येन वोपेक्षाभावेनापि शनैः शनैः।
घनत्वं हीयते प्रेम्णः सहकारेण वर्द्धते॥ ५७॥
आत्मन्येव मनो येषां स्वार्थबुद्ध्या प्रवर्तते।
सध्रीचामवहेला च ये कुर्वंति नरास्तु ते॥ ५८॥
तिरस्कारं लभंते च हानिं विंदन्त्यपि भृशम्।
लाभो मानवदेहस्य प्राप्यत एभिर्नो क्वचित्॥ ५९॥

टीका—इससे कटुता बढ़ती है, द्वेष और मनोमालिन्य पनपता है। अत: हे भद्रपुरुषो अशिष्टता को परिवार व्यवहार में कहीं कोई स्थान न मिले, इसका समुचित ध्यान रखा जाए। हर सदस्य एक दूसरे का हाथ बँटाने, सहयोग देने का प्रयास करे। उपेक्षा और उदासी बरतने से घनिष्ठता घट जाती है। प्रेम और सहकार से सद्भाव बढ़ता है। मात्र अपना ही ध्यान रखने वाले और साथियों की अवहेलना करने वाले स्वार्थीजन बदले में तिरस्कार पाते और घाटे में रहते हैं, उन्हें मानव शरीर के कोई लाभ हस्तगत नहीं होते॥ ५५-५९॥

व्याख्या—परिवार भाव का विकास करने के इच्छुक साधकों को ऋषि सूत्र बतलाते हैं कि

(१) सहकार से सद्भाव बढ़ता है।

(२) उपेक्षा, उदासी से घनिष्टता घटती है।

उपेक्षा, उदासी, स्वार्थ, संकीर्णतावश ही होती है। उदार परमार्थी इस भाव के शिकार नहीं हो पाते। संकीर्ण स्वार्थपरता तिरस्कार का घाटे का कारण बनती है।

इसलिए ऋषि चाहते हैं कि मतभेद होने पर भी अथवा परिहास में भी अशिष्टता को परिवार में स्थान न मिले। वैचारिक मतभेदों को सहज शिष्टाचारपूर्वक बिना किसी को अपमानित किए सुलझाया जा सकता है किंतु जब पारस्परिक वाद-विवाद तक नौबत आ जाती है, तो मनोमालिन्य गहरी जड़ें जमा लेता है।

यदि हल्का-फुल्का जीवन जीने का एक-दूसरे को सहयोग देने का मार्ग अपनाया जाए तो प्रतिक्रिया स्वरूप जन सहयोग एवं लोक सम्मान स्वत: मिलने लगेगा। सद्भाव पाने का एक ही मार्ग है, शिष्टाचार की पृष्ठभूमि पर टिका पारस्परिक सहकार।

सीमितः परिवारः स्यात् संख्या स्वल्पैव संततेः।
सुखदा हानयोऽसंख्या बहुप्रजननोद्भवाः॥ ६०॥
जनन्या हीयते तत्रारोग्यमायुष्यमेव च।
परिवारसदस्यानां क्षीयंते सुविधास्तथा॥ ६१॥
प्रत्येकेन सदस्येन हानिरेव च लभ्यते।
अभिवृद्ध्याऽनया नूनं नवया चिंत्यतामिदम्॥ ६२॥
सञ्चालकः कुटुंबस्य तैलयंत्रवृषो यथा।
तथा भ्रमति चार्थस्य भारवाहितया ततः॥ ६३॥
उद्विग्नश्च भवत्येष विवेकं परिहाय च।
नीत्यनीती परित्यज्य यततेऽधिकमर्जितुम् ॥ ६४॥

टीका—परिवार छोटा रहे। बच्चों की संख्या अधिक न बढ़े। बहुप्रजनन की असंख्यों हानियाँ हैं। जननी का आयुष्य और आरोग्य घटता है। परिवारगत सुविधाओं में नए सदस्य बढ़ने से कटौती होती है। हर सदस्य को इस नई अभिवृद्धि से घाटा उठाना पड़ता है। यह बात बहुत चिंताजनक है। परिवार संचालक को अर्थ भार वहन करने के लिए कोल्हू के बैल की तरह जुतना पड़ता है उद्विग्न होना पड़ता है। उसे विवेक खोकर नीति-अनीति का ध्यान रखे बिना अधिक कमाने का प्रयास करना पड़ता है॥ ६०-६४॥

व्याख्या—किसी भी प्रकार के उत्तरदायित्व को भली प्रकार निभाने के दो सूत्र हैं। (१) उत्तरदायित्व निभाने की अपनी क्षमता-योग्यता का विकास। (२) उत्तरदायित्वों को अनावश्यक रूप से बढ़ने न देना।

परिवार के संदर्भ में भी ऋषि इन दोनों सूत्रों पर ध्यान दिलाते हैं। पिछले श्लोकों में वे सूत्र बतलाए गए, जिनसे पारिवारिक आत्मीयता सद्भाव का विकास हो। यह भाव जितने विकसित, पुष्ट होंगे परिवार उतने ही श्रेष्ठ बनेंगे।

दूसरा सूत्र है—उत्तरदायित्व बढ़ने न देने का। इसमें दो बातें ध्यान देने योग्य हैं, पहली बात है, बच्चों की संख्या न

बढ़ने देना। दूसरी है, व्यय न बढ़ने देना। यहाँ बच्चों की संख्या बढ़ने से होने वाली हानियों पर ध्यान दिलाया गया है। (१) जननी का स्वास्थ्य (२) सदस्यों की सुविधाओं में कटौती (३) संचालक पर दबाव और अनीति करने की मजबूरी।

शिशवोऽपि भवंत्यस्मात्स्नेहसौख्यप्रशिक्षणैः।
वाञ्चिताः फलतस्तेषां विकासस्त्ववरुद्ध्यते॥ ६५॥
अंधकारमयं चैव भविष्यज्जायते ध्रुवम्।
यत्र राष्ट्रे समाजे वा जनसंख्या विवर्द्धते॥ ६६॥
अभावसंकटग्रस्ता जायंते तत्र पूरुषाः।
बहुप्रजननं तस्मात्त्यक्तव्यं भूतिमिच्छता॥ ६७॥
प्रसंगेऽस्मिंश्च यः कश्चिद् यावतीं न्यूनतां भजेत्।
बुद्धिमान् स तथैवात्र महान् वक्तुं भविष्यति॥ ६८॥

टीका—ऐसी स्थिति में बच्चे भी समुचित दुलार, प्रशिक्षण एवं सुविधा-साधनों से वंचित रहते हैं। फलतः उनका विकास रुकता है और भविष्य अंधकारमय बनता है। जिस समुदाय अथवा राष्ट्र में जनसंख्या बढ़ती है, वे अभावग्रस्त होते और संकटों से घिरे रहते हैं। अतः सुख चाहने वालों को बहु प्रजनन से बचना ही चाहिए। जो इस संदर्भ में जितना अधिक कटौती कर सके, उसे उतना ही बुद्धिमान कहा जाएगा॥ ६५-६८॥

व्याख्या—बच्चे अधिक पैदा करने से माता-पिता तथा परिजनों को, समाज को होने वाली हानि पर पिछले प्रतिपादन में ध्यान दिलाया गया था। यहाँ स्वयं बच्चों पर नई पीढ़ी पर होने वाले कुप्रभावों की ओर ध्यान आकर्षित किया जा रहा है।

संतति को जन्म देने का उद्देश्य है परिवार को, समाज को श्रेष्ठ उत्तराधिकारी प्रदान करना है। स्पष्ट है कि जो हों, वे श्रेष्ठ समर्थ और योग्य हों। इसीलिए देव संस्कृति ने संतान की संख्या की अपेक्षा उनके स्तर को बढ़ाने का समर्थन किया है। कहा गया है

वरमेको गुणी पुत्रो, न च मूर्खशतान्यपि।
एकश्चंद्रः तमो हंति, न च तारागणैरपि॥

अर्थात् एक गुणी पुत्र पाना उचित न कि सैकड़ों मूरख। एक चंद्रमा रात्रि का अंधकार दूर कर देता है। ढेरों तारे मिलकर भी वैसा नहीं कर पाते।

यह केवल उक्ति नहीं है। उदाहरणों से भी यह सिद्ध होता है कि जिन्होंने सीमित संतानें रखी, वे ही उन्हें श्रेष्ठ सुसंस्कारी बना सके। संख्या वृद्धि करने वाले संस्कार देने में असफल ही हुए।

मितव्ययत्वमेवाथ प्रत्येकस्मिंस्तु कर्मणि।
वर्तितव्यं महत्त्वं च द्रव्यस्यान्ये समेऽपि ते॥ ६९॥
सदस्या अधिगच्छंतु तथा बोध्याः पुनः पुनः।
नाश्यं नैव धनं व्यर्थं विलासस्य प्रदर्शने॥ ७०॥
अहं त्वस्यापि वा माता लक्ष्मीरित्युपयुज्यताम्।
हेयमित्यवमत्याऽसत् कार्येषु नोपयुज्यताम्॥ ७१॥
श्रृंगारे नैव कर्तव्यो व्ययोऽलंकरणेऽथवा।
सौजन्यं निहितं नूनं तत्र संस्कारिताऽपि च॥ ७२॥
स्वाभाविके तथा सौम्ये सरले जीवने द्वयम्।
सत्कर्मष्वेव वित्तानि सविवेकं नियुज्यताम्॥ ७३॥

टीका—हर कार्य में मितव्ययिता बरती जाए। हर सदस्य को पैसे का महत्त्व समझाया जाए। विलास, अहंता प्रदर्शिता करने वाले कामों में धन को बरबाद न होने दिया जाए। लक्ष्मी को माता मानकर उसका सदुपयोग किया जाए। हेय मानकर उसका दुरुपयोग न होने दें। श्रृंगार-अलंकरण पर कुछ भी खरच न किया जाए। सादगी में ही सज्जनता और सुसंस्कारिता सन्निहित है। सत्कर्मों में ही विवेकपूर्वक धन को नियोजित किया जाए॥ ६९-७३॥

व्याख्या—परिवार के सदस्यों की संख्या बढ़ाकर अनावश्यक बोझ अपने कंधे पर लादना, जहाँ परिवार के मुखिया के लिए अनीति से अथवा किसी भी उपाय से साधन जुटाने को विवश करता है, वहीं दूसरी ओर मितव्ययिता को वृत्ति का अभाव, प्रदर्शन ठाट-बाट में ही अपना बड़प्पन मानने की प्रवृत्ति व्यक्ति को विमुख कर देती है। मितव्ययिता एवं कृपणता दोनों नितांत भिन्न बातें हैं। बातें हैं। हर साधन का सोच-समझकर सदुपयोग परमार्थ कार्यों में उसका सुनियोजन मितव्ययिता कहलाता है, जबकि अनावश्यक संचय से जुड़ी संकीर्ण स्वार्थपरता, कृपणता का पर्याय है।

परिवार व्यवस्था भली-भाँति चल सके, किसी भी सदस्य को अभाव न अनुभव हो, सभी उपलब्ध साधनों में ही विकास करते रह सकें, इसके लिए अपव्यय के छिद्रों को रोका जाना अत्यंत अनिवार्य है। किसी भी परिवार-जन को स्वस्थ मनोरंजन, स्वाध्याय, सत्संग, साधना जैसे पुण्य प्रयोजनों के लिए पर्याप्त समय मिलना चाहिए। हर समय उन्हें उपार्जन, प्रयोजन के निमित्त बैल की तरह न जुतना पड़े। इसके लिए अनिवार्य है कि हर सदस्य धन का महत्त्व समझे। बहुधा कमाते समय धन पाने के समय तो उसे सर्वस्व मान लिया जाता है तथा ईमान, मनुष्यता की कीमत पर भी उसे प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। ऐसे अवसर पर धन की सीमा का ध्यान रखा जाना उचित है।

इसके विपरीत खरच करते समय पागलपन जैसी हरकतें की जाती हैं। समय, श्रम, योग्यता की इतनी कीमत चुकाकर प्राप्त धन को बेदर्दी से बेकार के कामों में खरच कर दिया जाता है। धन का महत्त्व समझकर उसे महत्त्वपूर्ण कार्यों में खरच करने का संस्कार डालें।

लक्ष्मी को माता मानने का अर्थ है उसकी पवित्रता का ध्यान रखा जाए। उपयोग तक उसकी पवित्रता है, उपभोग में वह समाप्त हो जाती है। माँ के उपयोग की बात सोची जाती है, उसे उपभोग का विषय नहीं बनाया जाए। विलास और अहंता के प्रदर्शन में, फैशन-शृंगार में धन खरच करना लक्ष्मी माँ का उपभोग करना है। इस प्रवृत्ति को परिजनों में न होने देना आवश्यक है।

धन कितना भी एकत्रित हो जाए उसका कोई लाभ नहीं, वह तो एक भार और हो जाता है। उसके उपयोग से उसका लाभ मिलता है। जैसा उपयोग होगा, वैसा लाभ मिलेगा। असत कार्यों में लगने से असत परिणाम और सत कार्यों में लगने से सत्परिणाम सामने आते हैं। यदि उपार्जन के बाद, आवश्यक प्रयोजनों में नियोजित होने के बाद, धन शेष रह जाता है तो उसे परमार्थ कार्यों में व्यय करना चाहिए समाज वह वृहत् परिवार है, हम भी उसके एक अंग सरीखे हैं। इस नाते सत्प्रवृत्तियाँ फैलाने तथा वातावरण को उत्कृष्टता का पक्षधर बनाने के निमित्त जितने धन का सदुपयोग हो सकेगा उतना ही लाभकारी होगा।

विपत्कालस्य हेतोः स उन्नतेश्च प्रयोजनात्।
वित्तस्य संग्रहः कार्यो दक्ष आये व्यये भवेत्॥ ७४॥
प्रदर्शनेषु चायोग्यजनानां परितोषणे।
व्यसनेषु कुरीतीनां पालने वित्तनाशनम् ॥ ७५॥
नैव क्वापि विधातव्यं बुद्धिमत्वमिदं स्मृतम्।
एतत्तथ्यविदः संति सुखिनः संस्कृता अपि॥ ७६॥

टीका—कुसमय के लिए तथा उत्थान प्रयोजनों के लिए धन की बचत की जाए। आय-व्यय में सावधानी रखें। दुर्व्यसनों में उद्धत प्रदर्शनों में अनपुयुक्त लोगों की आवभगत में कुरीतियों के परिपालन में पैसों का दुरुपयोग न होने देना ही बुद्धिमत्ता है। जो इस तथ्य को समझते और अपनाते हैं वे परिवार सुखी रहते, सुसंस्कृत कहलाते हैं॥ ७४-७६॥

व्याख्या—परिवार की सुख-शांति के मूल में एक ही बीज मंत्र काम करता है—सुव्यवस्था, आर्थिक सुनियोजन एवं उपलब्ध साधनों का बुद्धिमानीपूर्वक सदुपयोग। आड़े समय में आने वाली विवशताओं से बचने के लिए जहाँ अपव्यय रोककर धन संग्रह जरूरी है, वहाँ उसका उचित कार्यों में उपयोग भी। अंहता-प्रदर्शन वृत्ति पर रोकथाम लगा कर जहाँ पैसे का दुरुपयोग रोकना जरूरी है, वहाँ उसे श्रम-नीति की कमाई से एकत्र करना भी अनिवार्य है? यह सब सुनियोजित विधि-व्यवस्था के बलबूते संभव है, जो हर गृहपति को अपनाना अभीष्ट है।

सुव्यवस्थाविधौ ध्यानं स्वच्छतायां तथैव च।
प्रत्येकस्य सदस्यस्य भवेदेव निरंतरम्॥ ७७॥
अस्तव्यस्तत्वभावोऽयं मालिन्यमपि नो क्वचित्।
उद्भवेदव्यवस्थायां मालिन्यं च कुरूपता॥ ७८॥
तिष्ठतो येन व्यक्तित्वं हीयते कथितं त्विदम्।
कुसंस्कारयुतो भावस्तस्मादेनं परित्यजेत्॥ ७९॥
कलाकारितया ख्याते स्वच्छता च सुसज्जता।
सुरुचेर्दर्शनं तत्र शरीरं पुरुषा यथा ॥ ८०॥
स्वच्छसुंदरमेवापि कुर्वन्त्येव निरंतरम्।
तथोपकरणान्यत्र वस्त्रपात्रगृहानपि ॥ ८१॥

टीका—स्वच्छता और सुव्यवस्था की ओर घर के हर सदस्य का ध्यान रहे। गंदगी अस्तव्यस्तता कहीं भी पनपने न पाए। अव्यवस्था में ही गंदगी और कुरूपता है। इसी को कुसंस्कारिता कहा गया है, इससे व्यक्तित्व घटिया बनता है। स्वच्छता और सुसज्जा को ही कलाकारिता कहते हैं। इसमें सुरुचि का दर्शन होता है। शरीर को स्वच्छ, सुंदर रखने की तरह ही वस्त्र उपकरण, पात्र, मकान आदि सभी परिवार प्रयोग की वस्तुओं की सफाई पर पूरा ध्यान दिया जाए॥ ७७-८१॥

व्याख्या—गृह की स्वच्छता और आंतरिक व्यवस्था एक कला है। अपनी स्वयं की स्वच्छता, अपने जीवन में सादगी तथा घर की सफाई, मरम्मत, सादगीपूर्ण सज्जा और सुव्यवस्था पर ध्यान रखना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। इस कर्तव्य की उपेक्षा से क्लेश ही भोगना पड़ता है, और इसे पूरा करने वाले को प्रसन्नता, प्रफुल्लता एवं प्रगति का पुरस्कार प्राप्त होता रहता है। स्वच्छता से भगवान की समीपता बतलाई गई है। जो शुचि और स्वच्छ है, वह एक प्रकार से ईश्वर के सन्निकट ही रहता है। भगवान को शुचिता, स्वच्छता एवं पवित्रता परमप्रिय है। रोम के प्रसिद्ध महात्मा एपिक्टेरस युवकों को सदा यही उपदेश दिया करते थे कि स्वच्छतापूर्वक रहो और सुंदर बनो। वे बाह्य वस्तुओं की सुंदरता और स्वच्छता पर विशेष ध्यान देते थे, और कहा करते थे कि जो युवक स्वच्छ रहता है, साफ-सुथरे कपड़े पहनता है, अपने व्यवहार की वस्तुओं को शुद्ध, स्वच्छ और सुव्यवस्थित रखता है, वह अस्वच्छ एवं अस्त-व्यस्त अव्यवस्थित रहने वाले युवकों की अपेक्षा तत्वज्ञान शीघ्र ही प्राप्त कर लेगा और दीर्घजीवी होगा।

सज्जनता की पहली निशानी है स्वच्छता तथा योग्यता एवं प्रतिभा की प्रथम शर्त है सुव्यवस्था। परिवार को सज्जन और प्रतिभावान बनाना चाहें, तो उनमें स्वच्छता और व्यवस्था की वृद्धि और क्षमता पैदा की जानी चाहिए।

स्वच्छान् सुसज्जितानेव कर्तुमन्यान्यपि स्वयम्।
वस्तूनि पततां नित्यं व्यक्तित्वोदय-हेतवे॥ ८२॥
कृमिकीटादयो नैव तिष्ठेयुरिति यत्यताम्।

पवनस्यातपस्यापि प्रवेशो भवने भवेत् ॥८३॥
वस्त्राणां स्वच्छताऽऽवासगृहस्यापि च स्वच्छता।
सुव्यवस्था विधिर्नूनं परिवारगतान् नरान्॥८४॥
सत्प्रवृत्तिपरान् पक्वप्रकृतींश्च समानपि।
विधत्तः सद्गुणश्चायं महत्त्वमहितो भुवि॥८५॥
लाभः सर्वैर्नरैरेष कर्तुं स्वर्गं गृहान् स्वकान्।
सदस्याश्च गृहस्थास्ते देवत्वं यान्तु सत्वरम्॥८६॥

टीका—अन्य वस्तुओं को स्वच्छ और सुसज्जित रखने से व्यक्तित्व में वृद्धि होती है। कृमि-कीटकों को जमने न दिया जाए। धूप और हवा का हर जगह प्रवेश हो। वस्त्रों की सफाई, निवास, गृह की स्वच्छता, सुव्यवस्था करते रहने से परिवार के सदस्यों के स्वभाव में सत्प्रवृत्ति की परिपक्वता बनती बढ़ती है। यह एक महत्त्वपूर्ण सद्गुण है। अपने घर को स्वर्ग बनाने के लिए यह गुण सभी को प्राप्त करना चाहिए ताकि उस घर में रहने वाले सदस्य शीघ्र देवत्व को प्राप्त हो जाएँ॥ ८२-८६ ॥

व्याख्या—स्वच्छता परमात्मा का सान्निध्य है तथा निर्मलता आत्मा का प्रकाश है। आंतरिक स्वच्छता का आधार भी शारीरिक और बाह्य स्वच्छता ही है। आंतरिक शुचिता एवं स्वच्छता अपनाकर ही सिद्ध किया जा सकता है, क्योंकि बाह्य स्वच्छता ही आंतरिक स्वच्छता का हेतु है। यदि परिवार के हर सदस्य अपनी तथा अपने पास-पड़ोस की गंदगी दूर करके उसके स्थान पर स्वच्छता एवं पवित्रता को पूरी तरह स्थापित कर लें, तो काल्पनिक स्वर्ग के स्थान पर जीवन के यथार्थ स्वर्ग को धरती पर और अपने घर पर ही देख सकते हैं। सुसज्जा, स्वच्छता एवं पवित्रता की पराकाष्ठा ही वह मनुष्यता है, जिसकी परिणति देवत्व में होना असंदिग्ध है।

देवत्व का प्रधान गुण है स्वच्छता। मंदिर तथा पूजन सामग्री स्वच्छ न हो, तो देवता स्वीकार नहीं करते। स्पष्ट है कि देवत्व के विकास के लिए स्वच्छता और सुव्यवस्था कितनी आवश्यक है। व्यक्तित्व के विकास का यह अमोघ साधन है।

आगामिषु दिनष्वेव समाजस्य नवास्थितिः।
प्रज्ञायुगे समाश्रित्याधारं वै पारिवारिकम्॥८७॥
भविता यत्र नीतिस्तु वसुधैव कुटुंबकम्।
स्वीकृता स्यात्तथा सर्वे ज्ञास्यंत्यात्मानमुत्तमम्॥८८॥
सदस्यं सन्ततं विश्वपरिवारगतं स्वतः।
सुसंस्कृते समाजे स्याद् ब्रह्मबिबोदयास्थितिः॥८९॥
एतदर्थं नरैः सर्वैर्विधेयोऽभ्यास उत्तमः।
महतः परिवारस्य सञ्चालनविधौ तथा॥९०॥
सदस्यतां सुमान्या च गृहीतुमपि सर्वथा।
विनाऽनेन समृद्धिर्नो भवेत् सर्वसुखावहा॥९१॥

टीका—अगले दिनों प्रज्ञायुग में समाज का अभिनव निर्माण पारिवारिकता के आधार पर ही होगा। वसुधैव कुटुंबकम् की नीति अपनाई जाएगी। सभी अपने को विश्व परिवार का सदस्य मानेंगे। मानो विराट ब्रह्म की ही सुंसस्कृत समाज में झाँकी परिलक्षित होने लगेगी। इसके लिए हर किसी को विशाल परिवार का संचालन कर सकने तथा उसका सम्मानित सदस्य बनने का अभ्यास करना चाहिए। बिना इसके विश्व में वैसी समृद्धि संभव नहीं, जो प्रत्येक को सुख दे सके॥ ८७-९१ ॥

व्याख्या—प्रथम दिन के समागम के समापन पर सत्राध्यक्ष एक महत्त्वपूर्ण घोषणा करते हुए उज्ज्वल भविष्य की सम्यक् तैयारी का सूत्र भी बतला रहे हैं। यह युग संधिकार है, एक युग समाप्त होकर दूसरा प्रारंभ होगा। नया युग प्रज्ञा युग कहलाएगा, जिसमें मानवीय उत्कर्ष के नए कीर्तिमान बनेंगे।

उस महान युग का आधार भी श्रेष्ठ पारिवारिक अनुशासन ही होगा। उसके अनुरूप जिनके मानस, जिनके अभ्यास नहीं बन पाएँगे, वे उस प्रवाह में ठीक से खप न पाने के कारण दुःख, कठिनाई, अनुभव करेंगे। जो पहले से वैसा विकास अभ्यास पा लेंगे वे श्रेय पाएँगे, सुखी रहेंगे।

सामान्यरूप से लोग छोटी इकाइयों में रह लेते हैं। विशाल परिवारों में मानवीय गुणों, आत्मीयता आदि का अधिक विकसित होना आवश्यक हो जाता है। दो संगीतज्ञ एक साथ मजे में गा-बजा सकते हैं, किसी विशेष अभ्यास की जरूरत नहीं पड़ती। पर बड़े आर्केस्ट्रा में बजाने के लिए सधे हुए कलाकारों को भी पर्याप्त अभ्यास करना पड़ता है।

प्रज्ञा-युग में वसुधा पर रहने वाले एक कुटुंब का भाव रखेंगे, यही नहीं उससे भी ऊपर समाज में विराट् ब्रह्म की झाँकी स्पष्ट होगी। इस स्तर के परिवार के योग्य विकसित पारिवारिक भावों का अभ्यास अचानक सहज ही नहीं हो जाएगा। उसके लिए लंबा साधनात्मक अभ्यास चाहिए। महर्षि उसी अभ्यास को पहले से बना लेने का आग्रह करते हैं। पिछला इतिहास बतलाता है कि जब-जब कोई बड़ा परिवर्तन हुआ है, श्रेष्ठ जन पहले से उसके अनुरूप अभ्यास बनाकर अग्रणी रहते रहे हैं।

मत्स्यावतार के पूर्व महाराज मनु ने अपनी संवेदनाएँ उस स्तर की बना ली थीं कि उन्हें सृष्टि बीज सँभालने की जिम्मेदारी सौंपी जा सकी।

रामावतार के पूर्व ही ऋषि तथा देवावतार वानर अपने साधना क्रम तथा अभ्यास उन परिस्थितियों के अनुरूप बनाने लगे थे।

महाभारत विशाल भारत बनाने के लिए पांडवों को परस्पर सहयोग तथा तप तितीक्षामय जीवन का अभ्यास लंबे समय

तक कराया गया था। यदुवंशी उस पारिवारिक शालीनता के अनुरूप स्वभाव न ढाल सके, तो उन्हें नष्ट ही हीना पड़ा।

पारिवारिक सूत्र के माध्यम से सतयुगी समाज बनाने का जो तत्वदर्शन यहाँ बतलाया गया, वह सभी के लिए अपनाए जाने योग्य है। पारिवारिकता को एवं इससे जुड़े गुण समुच्चय को अपनाए बिना न आत्म विकास संभव है, न विश्व कल्याण ही।

समाप्तिं समयोऽगात्स जयघोषपुरस्सरम्।
सहैव शांतिपाठेन तत्र नीराजनेन च॥ ९२॥
प्रथमस्य दिनस्यायं समाप्तिं प्रययौ ततः।
उपदेशो जनाः सर्वेऽप्यनयाऽमृतवर्षया॥ ९३॥
आत्मनः कृतकृत्यांश्च मन्यमाना मुहुर्मुहुः।
उत्साहिता स्ववासांश्च ययुस्ते दृढपौरुषाः॥ ९४॥

टीका—समय समापन की ओर था। शांतिपाठ, आरती और जयघोष के साथ प्रथम दिन का प्रवचन समाप्त हुआ। विदा होते समय अमृत वर्षा से श्रवणकर्त्ता गृहस्थगण अपने को कृतकृत्य अनुभव कर रहे थे तथा अत्यंत उत्साहित प्रतीत हो रहे थे, उनके पुरुषार्थ में दृढ़ता आ गई थी॥ ९२-९४॥

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,
श्रीधौम्यऋषिप्रतिपादिते परिवारव्यवस्था इति प्रकरणो नाम प्रथमोऽध्यायः॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः॥

गृहस्थ-जीवन प्रकरण

गंगाद्वारे तु कुंभस्य पर्वणः समये शुभे।
गंगातटे सुसंमर्दो नृणां धर्मात्मनां महान्॥ १॥
वर्द्धते स्म तथा श्रद्धा तीर्थयात्रिनृणां शुभा।
गंगेव गतिशीला च प्रोच्छन्तीव ददृशे॥ २॥
संबोध्योपस्थितान् धौम्यो महर्षिः स उवाच च।
जगन्मंगलबोधिन्यां वाचि शान्ते तपोवने॥ ३॥

टीका—गंगा तट पर हरिद्वार क्षेत्र में संपन्न हो रहे कुंभ पर्व के आयोजन में धर्म प्रेमियों की भीड़ बढ़ती ही जा रही थी। गंगा की तरह तीर्थयात्रियों की श्रद्धा भी उमँगती और प्रगतिशील दृष्टिगोचर हो रही थी। शांत तपोवन के समान उस स्थान पर महर्षि धौम्य ने उपस्थित जनों को उद्बोधित करते हुए कहा, उनकी वाणी में जगत् की कल्याण कामना टपक रही थी॥ १-३॥

कुंभ पर्व पर आयोजित इस विशेष सत्र में श्रोताओं की भीड़ का निरंतर बढ़ना उतने महत्त्व की बात नहीं, जितनी कि श्रद्धा में प्रगति होना। भीड़ तो हाट-बाजारों में बाजीगर एवं नट भी खूब इकट्ठी कर लेते हैं। हल्के मनोरंजन कौतुक के नाम पर नित्य भीड़ें एकत्र होती देखी जा सकती हैं, पर इनसे लोकहित का प्रयोजन सधता नहीं। कुंभ पर्वों के आयोजन सूत-शौनक परंपरा में होते ही इसीलिए थे कि जनमानस में श्रद्धा उभारकर सत्प्रवृत्तियों का पोषण उन्हें दिया जाए। यह सत्र तो गृहस्थों का होने के नाते और भी महत्त्वपूर्ण था।

विशेष बात यहाँ पर यह देखी जा सकती है कि श्रद्धा उपस्थित समुदाय में है भी एवं वह प्रगतिशील है। आदर्शों पर दृढ़ रहना भर पर्याप्त नहीं है। जब अंतः से उद्भूत भावनाएँ काल परिवर्तन के साथ लोकोपयोगी संशोधनों को भी सहज भाव से स्वीकार करने लगें, तो श्रद्धा को प्रगतिशील माना जा सकता है। ऐसी श्रद्धा उमँगने का माहात्म्य प्रतिपाद्य विषय की श्रेष्ठता एवं वक्ता की विद्वत्ता से भी बढ़कर है। जहाँ जन साधारण को जनहित की कामना से किए जा रहे आयोजन का महत्त्व समझ में आ जाता है, वहाँ सुपात्र श्रोता स्वतः ही फूल पर मधुमक्खी की तरह रमने लगते हैं।

धौम्य उवाच

भद्रा ! सद्गृहस्थास्तु भवंतः सर्व एव हि।
नात्मानमाश्रमाद्धीनं कस्माच्चिदपि मन्यताम्॥ ४॥
लोभमोहविलासानां गृह्यंते दुष्प्रवृत्तयः।
पतनस्य महागर्ते तर्हि पातो नृणां ध्रुवम्॥ ५॥
ईदृशावसरा नूनं गृहस्थे संभवन्त्यलम्।
परं विवेकशीलास्तु रक्षन्त्यात्मानमात्मना॥ ६॥
दुर्बलाया मनोभूमेः प्रवाहे प्रवहंति ये।
ईदृशीमधिगच्छंति प्रायस्ते पुरुषा गतिम्॥ ७॥
कर्त्तव्यधर्मं जानंति नरा ये ते गृहस्थजाम्।
मर्यादां परिजानंतः पालयंति सदा च ताम्॥ ८॥
ईदृशानां नृणामेव कृते सञ्जायते ध्रुवम्।
गृहस्थाचरणं स्वस्य विश्वस्यापि तथैव च॥ ९॥
कल्याणकारको हेतुरुभयोरपि पूरकः।
श्रूयतां सावधानैश्च भवद्भिः समुपस्थितैः॥ १०॥

टीका—महर्षि धौम्य ने कहा हे भद्रजनों आप लोग सद्गृहस्थ हैं। किसी आश्रम से अपने को हीन न समझें। लोभ, मोह और विलास की दुष्प्रवृत्तियाँ अपनाने पर कोई भी

निश्चित रूप से पतन के गर्त में गिर सकता है। ऐसे अवसर गृहस्थाश्रम में अपेक्षाकृत अधिक रहते हैं, लेकिन विवेकशील स्वयं को इनसे बचाए रखते हैं। दुर्बल मनोभूमि के प्रचलन प्रवाह में बहने वाले ही प्रायः ऐसी दुर्गति प्राप्त करते देखे जाते हैं। जिन्हें कर्त्तव्यधर्म का ज्ञान है, वे गृहस्थ की मर्यादा को समझते तथा उसका पालन करते हैं। ऐसों के लिए गृहस्थ का आचरण आत्म-कल्याण और विश्व-कल्याण के दोनों ही प्रयोजन पूरे करने का निमित्त कारण बनता है। हे उपस्थितजनों, तुम सब सावधान होकर सुनो॥ ४-१०॥

सामान्यतया सभी आश्रमों में गृहस्थ जीवन को सर्वाधिक माया, प्रपंचयुक्त मानकर अन्य आश्रमों से छोटा माना जाता है। इस मान्यता को भ्रांतिपूर्ण बतलाते हुए सत्राध्यक्ष महर्षि धौम्य उपस्थित श्रोताओं को एक मनोवैज्ञानिक ग्रंथि से मुक्त होने का उद्बोधन देते दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

दो अतिवाद इस आश्रम में देखने को मिलते हैं। अत्यधिक मोह-ममता के मायाजाल में फँसकर कइयों को और भी अधिक उलझते पतित होते देखा जा सकता है। दूसरी ओर कुछ व्यक्ति भ्रांतिवश अथवा कायरतावश इसे त्यागकर वैराग्य की बात करने लगते हैं, जबकि वह मार्ग इस आश्रम की कसौटी पर खरा उतरने वाले साधकों के लिए है एवं इससे भी अधिक दुष्कर है।

ऋषिश्रेष्ठ यहाँ कहते हैं कि मनुष्य के पतन का कारण, गृहस्थ जीवन नहीं, अपितु उसके निर्धारित अनुशासनों से भटक जाना है। लोभ, मोह, व्यसन आदि दुष्प्रवृत्तियाँ चाहे गृहस्थ हों, चाहे विरक्त किसी को नहीं छोड़तीं। इनसे जूझने के लिए तो विवेक का अवलंबन अनिवार्य है ही। गृहस्थ को उसका निमित्त कारण मानते हुए अन्य कहीं बिना मन लगे, समय काटने की अपेक्षा तो इस आश्रम की भली प्रकार निवाहते हुए विवेक का उपयोग कर दुष्प्रवृत्तियों से बचना चाहिए एवं आत्म परिष्कार की लक्ष्य सिद्धि की ओर बढ़ चलना चाहिए।

तथ्यानि स्पष्ट यन्नम्रोऽगादीद् धौम्यो महामुनिः।
महत्त्वपूर्णोऽयं धर्मो गृहस्थाश्रमजो ध्रुवम्॥ ११॥
तस्मिन्नुपार्जितायास्तु क्षमताया भवत्यलम्।
उपयोगस्य सच्छिक्षा ह्यनुभूतिश्च सा नृणाम्॥ १२॥
कैशोर्ये स्वास्थ्यसंवृद्धिः शिक्षार्जनमथापि च।
संयमोऽनुभवावाप्तिरनुशासनसंश्रयः ॥ १३॥
ईदृशीः क्षमता बह्व्यो लभ्यंतेऽहर्निशं नरैः।
नियोज्यश्च विकासस्य क्रमश्चापि सुनिश्चितः॥ १४॥
जायते परिपक्वश्च यौवनारंभ एव तु।
प्रायोनरो दिशांकाञ्चिद् गृह्णात्यपिनिजां स्वयम्॥ १५॥
विधिना केन कर्त्तव्य उपयोगोऽस्य संततम्।
परिपक्वत्वभावस्य समावेशोऽत्र विद्यते॥ १६॥
धर्मे गृहस्थजे यत्र प्रविष्टे तु बहून्यपि।
दायित्वानि समायांति सर्वेष्वेव नरेष्वलम्॥ १७॥
अभिभावकवर्गैश्च भरणादौ व्ययस्तु यः।
कृतस्तस्माद्दृणान्मुक्तौ सहयोगस्तु तैः सह॥ १८॥
कर्त्तव्यः प्रथमं चैतत्कर्त्तव्यं जायते नृणाम्।
वयस्कैः सहयोगस्तु यत्नश्चोत्थापने सदा॥ १९॥
अनुजानां विधातव्यो भवतीति विवेकिनाम्।
यौवने समनुप्राप्ते समेषामेव वै नृणाम्॥ २०॥

टीका—तथ्यों को और भी स्पष्ट करते हुए महामुनि धौम्य आगे बोले गृहस्थ धर्म अपने स्थान पर अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उसमें उपार्जित क्षमता के सदुपयोग का प्रशिक्षण एवं अनुभव प्राप्त होता है। उठती आयु में स्वास्थ्य संवर्द्धन, शिक्षा अर्जन, अनुभव संपादन, अनुशासन, अवलंबन संयम जैसी अनेकों क्षमताएँ उपलब्ध की जाती हैं। विकासक्रम सुनियोजित किया जाता है। यौवन काल में प्रवेश करने तक मनुष्य बहुत कुछ परिपक्व हो जाता है तथा स्वयं किसी दिशा की ओर बढ़ना चाहता है। इस परिपक्वता का सदुपयोग किस प्रकार हो, इस विधि-व्यवस्था का गृहस्थ धर्म में समावेश है। उसमें प्रवेश करने पर कई उत्तरदायित्व कंधे पर आते हैं। अभिभावकों द्वारा किए गए भरण-पोषण में जो ऋण चढ़ा है, उसे उनका हाथ बँटाते हुए उतारना प्रथम कर्त्तव्य है। समान आयु वालों का प्रयत्न सहयोग, छोटों को ऊँचा उठाने आगे बढ़ाने के लिए सामर्थ्य भर प्रयत्न यह उत्तरदायित्व यौवन काल में प्रवेश करते ही हर विचारशील को निभाना ही होता है॥ ११-२०॥

गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने से पूर्व जिन सोपानों से मनुष्य को गुजरना पड़ता है, वे उसे शारीरिक दृष्टि से सुदृढ़ एवं वैचारिक दृष्टि से परिपक्व बनाते हैं। किसी भी परीक्षा को पास करने के बाद एक प्रशिक्षण अवधि होती है, जिसे पूरा किए बिना सीधे नौकरी नहीं दे दी जाती। एप्रेन्टीसशिप, इन्टर्नशिप का अभ्यास किए बिना मैकेनिक, इंजीनियर या डॉक्टर की भूमिका निभाना संभव नहीं। अर्जित ज्ञान संपदा एवं प्राप्त सामर्थ्य क्षमता का उच्चस्तरीय व्यावहारिक शिक्षण कहाँ हो ताकि मानवी व्यक्तित्व कसौटी पर कसने योग्य बन सके? इसके लिए ऋषिगणों ने गृहस्थाश्रम का प्रावधान किया है। यह मनुष्य के भावी विकास के सुनियोजन की अवधि है।

ब्रह्मचर्य की अवधि में, उठती आयु में जब मानसिक विकास अति तीव्र होता है, अनेकों अनुभव जीवन संबंधी उपलब्ध होते हैं। मनुष्य स्वयं के संबंध में, अपने परिकर के बारे में नूतन जानकारियाँ अर्जित करता है। इस ज्ञान भंडार को गृहस्थ धर्म निबाहते समय विधिपूर्वक दिशा दी जा सकती

है। यह जिम्मेदारियों के निर्वाह की अवधि है। जन्म से विवाह होने तक जिन माता-पिता ने सारे कष्ट उठाते हुए उत्तरदायित्वों को निवाहा और प्रगति पथ पर आगे बढ़ाया, उनके ऋण से मुक्त होने के लिए उनके सहयोगी सहायक के रूप में स्वयं को विकसित करना पड़ता है। अर्थ प्रतिभा, शारीरिक श्रम, सद्भाव जिस भी माध्यम से बन पड़े इस पितृऋण को चुकाना गृहस्थ का प्रथम कर्त्तव्य है।

बचपन एवं यौवनावस्था की इस पूरी अवधि में सम आयु वाले जिन सखा-सहयोगियों का विकास क्रम में हाथ रहा है, उनकी ओर अपनी ओर से भी हाथ बढ़ाना युवा गृहस्थ का एक महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य है। अपने से छोटी आयु के किशोरों, बालकों के प्रति भी जिम्मेदारियाँ शेष रह जाती हैं, क्योंकि मनुष्य परिवार संस्था की एक इकाई होने के नाते उसके समग्र विकास के लिए भी उत्तरदाई है। अपने अनुभवों से छोटों को भी लाभान्वित किया जाना चाहिए, ताकि वे भी अर्जित ज्ञान संपदा की फलश्रुतियाँ जीवन में उतार सकें।

हर दृष्टि से गृहस्थाश्रम तक पहुँचने वाला व्यक्ति अर्जित उपलब्धियों के नाते अपने से छोटों के लिए प्रेरणा का स्तोत्र होना चाहिए। न केवल अनुकरणीय आचरण करने वाला, अपितु अपनी उपलब्धियों से छोटों को आगे बढ़ाने, मनोबल जागृत कर उन्हें सही दिशा देने योग्य सक्षम होना चाहिए।

प्रस्तुत प्रतिपादन में गृहस्थ जीवन की जिन तीन महती जिम्मेदारियों का विवरण प्रस्तुत हुआ है, वह बड़ा ही हृदयग्राही प्रेरक एवं वरेण्य है।

ऋणान्यन्यानि विद्यंते दैवान्येव विधानि तु।
कुटुंबक्षेत्रबाह्यानि यान्यानृण्यवहानि च ॥ २१ ॥
देशधर्मसमाजानां संस्कृतेर्बहुभिस्तु तैः ।
अनुदानैर्विकासस्य प्राप्तस्त्ववसरः शुभः ॥ २२ ॥
कुटुंबस्यैव ते लोका व्यवस्थाः समुपार्जितुम्।
न समर्था भवन्त्यत्र सर्वतश्चिंत्यतां यतः॥ २३ ॥
जीविकोपार्जनं पाणिग्रहणं शिक्षणं तथा।
अनेकानि हि कार्याणि बहूनामिह सन्नृणाम्॥ २४ ॥
अनुदानैस्तु जायंते ऋणं दैवं समाजगम्।
महत्त्वपूर्णं चैतद्धि नरैः प्रोक्तमृणं वरैः ॥ २५ ॥
तस्मान्मुक्तिश्च सर्वेषां कर्त्तव्यं विद्यते नृणाम्।
समाजस्य समृद्धिश्च विकासो भवतोऽभितः॥ २६ ॥
यौवनारंभकाले च नरः सर्वो हि विद्यते।
समर्थोऽपि च संपन्नो वैभवं पुरुषैरिदम्॥ २७ ॥
उपयोक्तव्यमत्रैव दातुं सामाजिकं सदा।
ऋणमेषु दिनेषु स्युः यानि कार्याणि तद्वरम्॥ २८ ॥

टीका—परिवार क्षेत्र से बाहर भी चुकाने योग्य अनेकानेक देवऋण हैं। देश, धर्म, समाज, संस्कृति के अनेकानेक अनुदानों के सहारे ही मनुष्य को सुविकसित होने का अवसर मिला है। मात्र परिवार के लोग ही जीवन निर्वाह की सारी व्यवस्थाएँ नहीं जुटा देते। चारों ओर दृष्टि डालकर विचारें, चूँकि आजीविका उपार्जन और सहचर का पाणिग्रहण, शिक्षा अभिवर्द्धन जैसे अनेकानेक सुयोग असंख्यों लोगों के अनुदान से ही हस्तगत होते हैं। यह सब देवऋण अर्थात् समाज-ऋण कहलाता है। श्रेष्ठ पुरुषों ने इसे महत्त्वपूर्ण ऋण कहा है। इस ऋण को चुकाना समाज को हर दृष्टि से समृद्ध सुविकसित बनाना, हर विचारशील का आवश्यक कर्त्तव्य है। यौवन में प्रविष्ट होते समय मनुष्य समर्थता और संपन्नता की स्थिति में होता है। इस वैभव का उपयोग समाज ऋण चुकाने हेतु किया जाना चाहिए। इन दिनों जितने लोकोपयोगी कार्य बन सकें, उतना ही उत्तम है॥ २१-२८॥

परिवार तो समाज की एक इकाई है। मनुष्य को विकसित स्थिति तक पहुँचाने में समाज के हर घटक की भूमिका है। अपने आप तक अथवा परिवार तक ही सीमित होकर रह जाने वाले व्यक्ति संकीर्ण कहलाते हैं। मुसीबतें आने पर भी उन्हें कोई सहयोगी नहीं मिलता, क्योंकि वे स्वयं किसी के कभी काम ना आए। शरीर बल संवर्द्धन, साधन उपार्जन, बहिरंग शिक्षा सभ्यता के माध्यम से व्यक्तित्व संवर्द्धन जैसे महत्त्वपूर्ण अनुदान माता-पिता से लेकर समाज के विभिन्न अंगों द्वारा किए गए सहयोग के परिणाम स्वरूप हस्तगत होते हैं।

जिस समाज राष्ट्र में हमने जन्म लिया है, उसने प्रकारांतर से हमें संरक्षण एवं साधन देकर उपकृत किया है। उसके प्रति उऋण हुए बिना हम कृतघ्न कहे जाएँगे, चाहे हमारी व्यक्ति गत उपलब्धियाँ, श्रेय संपदा कुछ भी क्यों न हो? इसके लिए सबसे उत्तम काल वही है, जब मनुष्य स्वास्थ्य की दृष्टि से भी मन:स्थिति एवं साधनों की दृष्टि से भी समर्थ संतुलित होता है। पारिवारिक जीवन आरंभ करते समय यौवन की पराकाष्ठा होती है। ऐसे में मद में चूर न होकर अपने कर्त्तव्य में जुट जाना ही मनुष्य की श्रेष्ठता का सूचक है। जहाँ तक हो सके जन कल्याण की योजनाओं में स्वयं को नियोजित कर अपनी प्रतिभा का लाभ समाज को देना चाहिए।

यह बात सदैव स्मरण रखी जानी चाहिए कि संसार में हमने बहुत कुछ पाया है। अधिकांश जीवनोपयोगी वस्तुएँ लोगों के परिश्रम से बनी हैं। उनके बुद्धि कौशल का अनुग्रह लाभ उठाकर ही हम उस स्थिति में पहुँचे हैं, जहाँ कि आज हैं। यदि किसी का सहयोग न मिला होता, तो सुसंपन्न होना तो दूर, कदाचित् हम जीवित भी न रह पाते। ऐसी दशा में आवश्यक है कि उस बगीचे को सीचें, जिसकी छाया में बैठकर हम फलों से गुजारा करते हैं। ऋणमुक्ति का सही

तरीका इस विश्वसुधा को सुखी-समुन्नत बनाना ही है। ऋणग्रस्त को मोक्ष कैसे मिले?

कामेच्छाऽपि नरान् सर्वान् विह्वलान् विदधाति सा।
प्रकृतिप्रेरणा चैवं भावना वेगवत्यलम्॥ २९॥
पुंसोरत्रोभयोरेव समुदेति यथा वयः।
शक्तिप्रवाहमेनं च नियम्यैव विवेकिनः॥ ३०॥
प्रयोजनेषु दिव्येषु योजयन्ते परं नहि।
आत्मनिग्रहहीनैस्तु सामान्यैः शक्यते नृभिः॥ ३१॥
अस्मिन्नायुषि लोकास्तदद्यत्वेऽनुभवत्यलम्।
विवाहस्यानिवार्यत्वं प्रवर्तन्ते च तत्र ते॥ ३२॥
परं विवाहः कर्त्तव्यः शरीरे पक्वतां गते।
उपार्जने समारब्धे दायित्वं गृह्यतामिदम्॥ ३३॥
अवयस्कैर्वृत्तिहीनैर्विवाहस्यास्य बंधनम्।
न स्वीकार्यं तथा नैव दंपत्योर्द्वन्द्वनिश्चये॥ ३४॥
रूपमात्रं न द्रष्टव्यं, गुणं कर्म तथैव च।
स्वभावः प्रमुखत्वेन विवेच्यः सुखिमिच्छता॥ ३५॥

टीका—कामेच्छा भी प्रचलन प्रवाह के कारण मनुष्य को बेचैन करती रहती है। प्रकृति-प्रेरणा से इस प्रकार की उत्तेजना नर-मादा दोनों में ही अवस्थानुसार उत्पन्न होती है। विचारशील तो इस शक्ति प्रवाह को रोककर महान् प्रयोजनों में भी लगा देते हैं, पर साधारण जनों से, आत्म निग्रह के अभाव में ऐसा कुछ बन नहीं पड़ता। इसलिए आम लोग इस आयु में विवाह की आवश्यकता अनुभव करते और उसमें प्रवृत्त भी होते हैं। विवाह शरीर के परिपक्व होने पर ही करना चाहिए। उपार्जन आरंभ होने पर ही यह जिम्मेदारी उठानी चाहिए। न कमाने वाले और कम आयु वाले विवाह न करें। जोड़ी निश्चित करने में रूप-सौंदर्य को नहीं, गुण, कर्म, स्वभाव को महत्त्व देना चाहिए॥ २९-३५॥

यौन उल्लास एक स्वाभाविक प्रक्रिया है, जो गृहस्थाश्रम के प्रारंभ में प्रकृति की सहज अभिव्यक्ति के रूप में उमंगों के रूप में उठने लगती है। इसका सुनियोजन महत्त्वपूर्ण है, अस्वाभाविक रूप से नियंत्रण लगाने से तो अनेकों विकृतियाँ जन्म ले सकती हैं। कुछ विरले व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो इस उल्लास को सृजनात्मक प्रयोजनों से जोड़कर आजीवन अविवाहित बने रहते हैं। सारा समाज उनका कार्य क्षेत्र होता है, परिवार होता है, अतः उन्हें कोई अभाव भी अनुभव नहीं होता।

बहुसंख्य व्यक्ति उपरोक्त श्रेणी में नहीं आते। कामेच्छा एक सहज प्रवृत्ति के रूप में उन्हें व्यग्र बनाती एवं विवाह बंधन में बँधने की दिशा देती है। कामोल्लास के सुनियोजन हेतु जरूरी है कि व्यक्ति मर्यादा से बँधकर रहे। खेत में मेड़ न बाँधी जाए, तो सारा पानी बहकर निकल जाता है, फसल को कोई लाभ नहीं मिल पाता। आत्मसंयम का एक रूप यह भी है कि व्यक्ति अपने को एक जीवनसाथी के साथ जोड़कर अपना कर्त्तव्यपालन करता रहे। मानसिक चिंतन कामवासना से भरा हो एवं व्यक्ति अविवाहित हो, तो इसे किसी प्रकार का त्याग या अध्यात्म मार्ग का सोपान नहीं कहा जा सकता। इसी कारण ऋषियों ने विवाह-बंधन का प्रावधान किया है, ताकि व्यक्ति वर्जनाओं में बँधा रहे।

विवाह कच्ची आयु में न हो, न ही आयु बीत जाने पर। शरीर एवं मन की दृष्टि से जब व्यक्ति परिपक्व है, अपने पैरों पर खड़ा है, अपनी एवं अपने परिवार की जिम्मेदारियाँ उठा सकने में समर्थ है, तो वही विवाह की सही उम्र है। परावलंबी बच्ची मनःस्थिति के असंयमी व्यक्ति तो ऐसा करके अपने पैरों कुल्हाड़ी मारते हैं, जीवन साथी के साथ भी विश्वासघात करते हैं।

विवाह करते समय दोनों ही पक्षों के चिंतन एवं चरित्र को महत्ता मिलनी चाहिए। वही मूल संपदा है, जो जीवन रूपी नैय्या पार लगाती है। रूप को महत्त्व देने वाले ऐसे अनेकों मूरख समाज में देखे जा सकते हैं जो इसी कारण अनेकों संबंध ठुकरा देते व फिर स्वयं दर-दर की ठोकरें खाते फिरते हैं। जहाँ स्वभाव मिले, दोनों के आदर्श मिलें, वही सच्चा गठबंधन है, पाणिग्रहण है।

देवानां वस्तुजातानां चाकचक्यस्य वा पुनः।
आभूषणादिकानां च सम्मर्दस्य प्रदर्शनम्॥ ३६॥
पाणिग्रहणसंस्कारे यदि सम्मिलितं भवेत्।
कालुष्यं भजते दिव्यमात्मबंधनमादितः॥ ३७॥
अपव्ययानुगाश्चैते धनमुख्या भवंति ये।
पाणिग्रहणसंस्कारा आसुरास्ते ह्यवाञ्छिताः॥ ३८॥
कारणैरेभिरेवात्र पक्षयोरुभयोरपि।
अयथाबलमारंभैरविवेकतयाभृशम्॥ ३९॥
आजीवनं भवेन्नूनं मनोमालिन्यमंततः।
जीवनं स्वर्गतुल्यं च गार्हस्थ्यं नरकायते॥ ४०॥

टीका—दहेज, आभूषण, प्रदर्शन, भीड़भाड़, धूमधाम जैसे अपव्यय विवाह संस्कार के साथ सम्मिलित करने पर वह परम पवित्र आत्मबंधन प्रारंभ में ही कलुषित हो जाता है। ऐसे धन प्रधान विवाहों को आसुर विवाह कहते हैं, ये अवांदनीय है। इन कारणों से दोनों पक्षों के बीच आजीवन मन-मुटाव बना रहता है। चूँकि दोनों अपनी शक्ति से अधिक व्यय करते हैं, विवेक से काम नहीं लेते। इससे स्वर्गतुल्य गृहस्थ जीवन नरक तुल्य बन जाता है॥ ३६-४०॥

विवाह एक पवित्र बंधन है जिसमें दो आत्माओं का उच्चस्तरीय प्रयोजनों हेतु मिलन संयोग होता है। इस परंपरा में विकृतियों का समावेश मनुष्य की कुटिल बुद्धि की उपज है।

कन्यादान के साथ धन संपदा, विलास के साधनों का आदान-प्रदान एक शर्त के रूप में जोड़ देना, स्वार्थ बुद्धि की पराकाष्ठा तो है ही, मनुष्य की शोषक क्रूर प्रवृत्ति का परिचायक भी है।

दुर्भाग्यवश इस पवित्र मिलन के साथ मध्यकाल के अंधकारयुग में ऐसे कुप्रचलनों का समावेश हो गया, जिन्होंने न केवल विवाह संस्था को कलुषित किया, अपितु अनेकों निरपराध मासूम कन्याओं को दहेज की बलिवेदी पर चढ़ने को विवश कर दिया। जहाँ गुण, कर्म, स्वभाव का परस्पर मिलकर परिष्कार होना चाहिए था, वहाँ इसके विपरीत व्यावसायिक वणिक वृत्ति ने पारस्परिक संबंधों के मध्य एक गहरी दरार पैरा कर दी है। इससे आपस में दो व्यक्तियों के मिलकर एक होने की बात तो दूर संदेह, घृणा, अपमान एवं अशिष्ट कृत्यों ने नारकीय परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी हैं।

अपव्यय से युक्त विवाहों के लिए दोनों ही पक्ष दोषी हैं। धूमधाम का प्रदर्शन जिस अहंता की वृत्ति के कारण किया जाता है, उसे त्यागा जाना चाहिए। खरचीले विवाह निश्चित ही व्यक्ति को दरिद्र एवं बेईमान बनाते हैं। गरीबों या सामान्य व्यक्तियों द्वारा अमीरों का स्वाँग बनाया जाना एक बुरी किस्म का फूहड़पन है। दहेज का रिवाज जब भी कभी था तब वह विशुद्ध स्त्रीधन के रूप में स्वेच्छा से दिया जाता था। पिता, भाई, कुटुंबी, संबंधी अपनी सामर्थ्यानुसार कुछ लड़की को देते थे, ताकि वह संकट के समय काम आ सके। अब जब वरपक्ष कन्या के साथ जबरदस्ती दहेज की रकम भी दिए जाने की शर्त ठहराता है तो यह विवाह पुण्य कृत्य न होकर आसुरी कृत्य हो जाता है। दहेज कम मिलने पर वधू को जलाकर मार देने या गला घोट देने जैसे पैशाचिक कृत्य नित्य इन दिनों प्रकाश में आ रहे हैं। राजदंड तो इन्हें मिलना ही चाहिए, ऐसे कृत्य करने वालों को सामाजिक दंड भी मिलना चाहिए, ताकि उन्हें व अन्यों को सीख मिले।

पतिः पत्नी च प्राणैस्तु गच्छेतामेकतां सदा।
शरीरेण द्वयं स्यातां स्नेहसम्मानमेव च ॥ ४१ ॥
सहयोगं सदापूर्णं विश्वासं च परस्परम्।
अर्पयेतामुभौ नैव गूहेतां किमपि क्वचित् ॥ ४२ ॥
त्रुटीः शोद्ध्याश्च विस्मर्याः प्रतिशोधस्य भावना।
न ग्राह्या मतभेदाश्च विचारैस्ते परस्परम् ॥ ४३ ॥
समाधेयाः स्वपक्षे च हठं नैव समाश्रयेत्।
कोऽपि तत्र विपक्षं च भावयन् स्वं, विचारयेत् ॥ ४४ ॥
काठिन्यं विवशं भावमन्यपक्षगतं सदा ।
आक्रोशं नाधिगच्छेच्च भग्ने स्वीये मनोरथे ॥ ४५ ॥

टीका—पति-पत्नी एक प्राण दो देह बनकर रहें। एक दूसरे को परिपूर्ण स्नेह, सम्मान, सहयोग एवं विश्वास प्रदान करें। परस्पर दुराव न रखें। भूलों को सुधारते और भुलाते रहें, प्रतिशोध की भावना न रखें। मतभेदों को विचार-विनिमय से सुलझा लिया करें। कोई पक्ष आग्रहशील हठवादी न बने। अपने को दूसरे की स्थिति में कठिनाई और लाचारी पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करें। अपनी मरजी पूरी न होने पर आक्रोश से न भरें ॥ ४१-४५ ॥

सुखी, सफल दांपत्य जीवन तभी संभव है, जब नर व नारी एक दूसरे के पूरक होकर जिएँ। पति-पत्नी में आपस में कोई दुराव-छिपाव न हो। गलतियाँ दोनों में से किन्हीं की भी हो सकती हैं। उन्हें विनम्रता से इंगित कर उनका समाधान निकाला जा सकता है। सौजन्य एवं सहकार पर ही परिवार रूपी रथ की धुरी टिकी हुई है। इसमें दुराग्रह, पूर्वाग्रह या प्रतिशोध की भावना पनपने का अर्थ है, विग्रह का जन्म लेना ऐसे संदेहों का जन्म होना जो घुन की तरह धीरे-धीरे उस शहतीर को नष्ट कर डालते हैं जिस पर भवन टिका हुआ है।

सहिष्णुतां समाश्रित्य मैत्री निर्वाह्यते सदा।
संसारे द्वौ नरौ नैव प्रकृत्या समयतां गतौ ॥ ४६ ॥
स्वेच्छया न बलात्तत्र बाध्यं कर्तुं कमप्यहो।
शक्यते संकटोऽभ्येति महँस्तत्र बलाद्यदि ॥ ४७ ॥
कार्यते कार्यमेषोऽत्र संकटश्च तथाविधः।
उदेत्युग्रो व्यथादायी कार्यानुत्पत्तितोऽपि यः ॥ ४८ ॥
अवसरो नैव दातव्यो मतभेदोदयाय च ।
आगतायां स्थितावेवं सहमानैर्विधीयताम् ॥ ४९ ॥
कार्यं नारीव्रतं तत्र पातिव्रत्यं नरोऽपि च।
कुर्यात्पत्नीव्रतं दिव्यं निष्ठातो जीवनं निजम् ॥ ५० ॥

टीका—सहिष्णुता के सहारे ही मैत्री का निर्वाह होता है। संसार में कोई भी दो मनुष्य एक जैसी प्रकृति के नहीं होते, फिर भी बलपूर्वक किसी को अपनी मर्जी पर चलने के लिए बाधित भी तो नहीं किया जा सकता। इस तरह काम करा लेने पर काम न होने से भी अधिक व्यथित करने वाला बड़ा संकट उत्पन्न होता है। अस्तु, मतभेदों को पनपने का अवसर ही न दिया जाए। यदि ऐसी स्थिति आए भी तो उन्हें सहन करते हुए काम चलाया जाए। नारी पतिव्रत धर्म का एवं नर पत्नीव्रत धर्म का निष्ठापूर्वक निर्वाह करें यही दैवी जीवन है ॥ ४६-५० ॥

पारस्परिक सौजन्य के सहारे ही दो साथियों की मैत्री निभती है। जिन्हें जीवन भर के लिए एक गठबंधन में बाँध दिया गया ह, उन्हें तो सहनशीलता का अभ्यास और भी अच्छी तरह करना चाहिए। स्वभाव दो व्यक्तियों के एक जैसे होते तो नहीं, पर समझा-बुझाकर, तालमेल बिठाकर ऐसी रीति-नीति बनाई जा सकती है, जिससे दो व्यक्ति यों के आपस में टकराने की स्थिति न आए। पारस्परिक मतभेद पनपने पर कोई एक पक्ष भी यदि सामयिक रूप से उन्हें

अधिक न बढ़ने देने के लिए संकल्पित हो, तो कालांतर में वे स्वयमेव तिरोहित हो जाते हैं। जब वस्तुस्थिति का पता चलता है तब लगता है, उस समय की मन:स्थिति एवं तद्जन्य आवेश कितना निरर्थक एवं तिल को ताड़ रूप में बनाया गया है।

एक दूसरे के प्रति एकनिष्ठ भाव से समर्पित होकर जीना यदि संभव हो सके, तो गृहस्थ जीवन स्वर्ग से भी बढ़कर है। मात्र पत्नी के लिए पति परायण होना ही नहीं, पति के लिए पत्नी के प्रति उतनी ही कर्त्तव्यनिष्ठा चिंतन एवं व्यवहार में होना जरूरी है, तभी दोनों का गठबंधन सार्थक है।

देवतुल्यं विधातुं तद् विवाहात्पूर्वजं तथा।
व्यतिरेकश्च विस्मर्यः कार्यं न संशयादिकम्॥ ५१॥
विवाहस्य दिनादेव प्रारब्धा व्रतशीलता।
जायते भाव्यमेतैश्च नियमैरुभयोः कृते॥ ५२॥
समानैर्विधवानां ते विधुराणामुताऽपि च।
कारणेऽपरिहार्ये च बंधनान्मुक्तिरिष्यते॥ ५३॥
नियमं मन्यतां नैतदपवादं तु केवलम्।
प्रसंगाश्चेदृशा न्यूना एवायांतु कदाचन॥ ५४॥
अर्धांगिनी न त्यक्तव्या नरेणानीतिपूर्वकम्।
दृष्टिं दद्याज्जागरूकां तस्यां देहे निजे यथा॥ ५५॥

टीका—विवाह से पूर्व के व्यतिरेकों को भुला दिया जाए। इस कारण कोई किसी पर अविश्वास या संदेह न करें। व्रतशीलता तो विवाह के दिन से आरंभ होती है। विधवा और विधुर दोनों के लिए एक जैसे अनुशासन होने चाहिए। बंधन-मुक्त होने का प्रयत्न अनिवार्य कारण होने पर ही किया जाए। उसे नियम नहीं अपवाद माना जाए। ऐसे प्रसंग कम ही आए। कोई पति अपनी पत्नी को अनीतिपूर्वक परित्याग न करे। इस पर अपने शरीर की देखभाल की तरह ही कड़ी दृष्टि रहनी चाहिए। ५१-५५

पाणिग्रहण संस्कार व्रतों को निभाते हेतु दृढ़-निश्चयी दो व्यक्तियों का संयुक्तीकरण है। ऐसे पुण्य-प्रयोजनों में निरत साथियों को आपसी संबंधों में आड़े न आने देना चाहिए। यदि पूर्व के कोई ऐसे प्रसंग हों, जिनसे अविश्वास को पोषण मिलता हो, तो उनसे विमुख होकर उनमें न उलझना ही श्रेयस्कर है। इसी में पारिवारिक गठबन्धन की मर्यादा निभती है।

यदि किसी कारणवश दोनों को अलग होना पड़े तो ऐसे अवसर कम से कम आने दें। इन दिनों छोटी-छोटी बातों पर आवेशग्रस्त होकर संबंध टूटते देखे जाते हैं। तलाक के प्रसंग आम हो गए हैं। पाश्चात्य सभ्यता देव संस्कृति पर हावी होती जा रही है एवं आधुनिकता की दौड़ में मदहोश व्यक्ति विवेक खोकर गृहस्थ-जीवन रूपी हाथ आए सुयोग को गवाँ बैठता है। इसमें एक बात विशेष रूप से ध्यान रखने योग्य यहाँ बताई गई है कि कोई भी व्यक्ति अपनी पत्नी को, जो उसकी अर्धांगिनी है, अनीतिपूर्वक न छोड़े। यह एक ऐसा अपवित्र कृत्य है, जो मनुष्यता के नाम पर कलंक है।

यौवने पुरुषैः सर्वैरर्थोपार्जनमिष्यते।
उचितं चेदमाभाति तथैवावश्यकं नृणाम्॥ ५६॥
श्रमस्याजीविका ग्राह्या सर्वैरेव नरैरिह।
ग्राह्या पवित्रता चैव तत्रोपार्जनकर्मणि॥ ५७॥
नेदृशं व्यवसायं च कश्चिदेव समाश्रयेत्।
पतनस्य पराभूतेर्गर्ते येन पतेत्स्वयम्॥ ५८॥
अनावश्यके च शृंगारे सज्जायामपि वा पुनः।
अपव्यययुतं नैव प्रदर्शनमथाऽऽचरेत्॥ ५९॥
व्यसनेषु प्रपञ्चेषु गौरवं नैव मन्यताम्।
नैव तस्मिन् व्ययः कार्यः पणकस्यापि कुत्रचित्॥ ६०॥
सरलयैव पद्धत्या जीवनस्य तया सह।
उत्कृष्टं जीवनं बद्धमहंकारि-नरास्तु ये॥ ६१॥
प्रदर्शनरतास्ते तु सदैवात्राधमर्णताम्।
घृणास्पदस्थितिं चैव प्राप्नुवंति निरंतरम्॥ ६२॥

टीका—युवावस्था में सभी को अर्थोपार्जन करना पड़ता है। प्रत्येक मनुष्य के लिए यह उचित भी है और आवश्यक भी। सभी को श्रम की आजीविका उपार्जित करनी चाहिए। उपार्जन में ईमानदारी बरती जाए। कोई ऐसा व्यवसाय नहीं करें, जिससे किसी को पतन-पराभव के गर्त में गिरना पड़ता हो। अनावश्यक शृंगार-सज्जा, अपव्यय भरा प्रदर्शन, आडंबर एवं दुर्व्यसनों में न तो बड़प्पन मानना चाहिए और न उनमें एक पैसा खरच करना चाहिए। सादगी के साथ ही उत्कृष्ट जीवन जुड़ा हुआ है। प्रदर्शन प्रिय अहंकारी आर्थिक तंगी भुगतते, ऋणी रहते और घृणास्पद बनते हैं॥ ५६-६२॥

कुरीत्याक्रमणं प्रायो गृहस्थे जीवनेऽधिकम्।
जायते पुरुषाः संति तत्र येऽपक्वबुद्धयः॥ ६३॥
मन्यन्ते ते च सर्वस्वं यत्तत्प्रचलनोद्भवम्।
त्यक्तुं तन्न समर्थास्ते मन्यंते स्वकुबुद्धयः॥ ६४॥
दृष्ट्वाऽन्योऽन्यं प्रथास्ताश्च गृह्णन्त्येव निरंतरम्।
सर्वथाऽनुपयोगित्वं वर्तमाने गतास्तु याः॥ ६५॥

टीका—कुरीतियों का आक्रमण प्राय: गृहस्थ-जीवन के दिनों में ही होता है। अविकसित मस्तिष्क प्रचलनों को ही सब कुछ मानते हैं तथा दुराग्रह बुद्धि के कारण वे उन्हें छोड़ नहीं पाते हैं और देखा-देखी उन प्रथाओं को भी अपनाते हैं जो वर्तमान परिस्थितियों में सर्वथा अनुपयुक्त हो गई है॥ ६३-६५॥

विवाहेषूपजातीनां सीमाबंधनमद्य तु।

समाप्यं यत आसंस्ते वर्णाश्चत्वार एव तु॥ ६६॥
उपजातिवितानं तु मध्यकालस्य विद्यते।
अंधकारयुगस्येयमुत्पत्तिर्भेदवाहिनी ॥ ६७॥
प्रदर्शनपराणां तु विवाहप्रीतिभोजयोः।
अद्यत्वेऽपव्ययानां हि नैवोचित्यं तु वर्तते॥ ६८॥
त्यक्तव्याः सर्व एवैते श्रद्धाहीनास्तथैव च।
प्रदर्शनपरा भोजव्यवस्था मृतकोद्भवा ॥ ६९॥
भिक्षाया व्यवसायः स जातिमान्या च मान्यता।
अवगुण्ठनादिकाः सर्वा रीतयो हानिदा अलम्॥ ७०॥

टीका—विवाहों में उपजातियों का सीमा बंधन समाप्त होना चाहिए। पुरातन काल में चार वर्ण ही थे, उपजातियों का जंजाल तो मध्यकाल के अंधकारयुग की भेद-प्रभेदमय देन है। अपव्यय, धूमधाम भरे प्रीतिभोजों, विवाहों का वर्तमान परिस्थितियों में तुक नहीं। इन्हें बंद किया ही जाना चाहिए। इसी प्रकार श्रद्धाविहीन बड़े मृतक भोज, भिक्षा-व्यवसाय, जाति-पाँति के आधार पर बरती जाने वाली ऊँच-नीच की मान्यता, पर्दाप्रथा जैसी कुरीतियों में असीम हानि ही है॥ ६६-७०॥

गृहस्थाश्रम के जहाँ अनेकों लाभ हैं, वहाँ एक हानि यह भी है कि प्रगतिशीलता के अभाव में, चिरपुरातन समय से चली आ रही परंपराएँ प्रचलन, पारिवारिक सदस्यों के दैनिक जीवन का एक नियमित अंग बन जाती हैं। बड़े-बूढ़े कह गए हैं, इसलिए कुछ करना एवं उसे तर्क की कसौटी पर न कसना सौजन्य एवं मर्यादापालन नहीं कहलाता। आने वाली पीढ़ियाँ व अन्य पारिवारिक सदस्य भी इन मूढ़-मान्यताओं को जो समय के प्रवाह के साथ-साथ अब उपयुक्त नहीं रहीं, शाश्वत मानकर चलते एवं उनका परिपालन करते हैं। इससे अंततः समाज की प्रगति में अवरोध ही आते हैं।

विवाहों से जुड़ी कुरीतियों में उपजातियों का बंधन अहंता के प्रदर्शन से भरे खरचीले विवाह आदि आते हैं। अब समय आ गया है कि देव-संस्कृति के पुरातन स्वरूप को उसके शाश्वत प्रखर रूप में प्रस्तुत किया जाए एवं हर वर्ण में बने उपजाति के बंधन तोड़े जाएँ। वर्णों का विभाजन कर्मों के आधार पर माना जाए, न कि जन्म के आधार पर। ऐसे में श्रेष्ठ आचरण वाले उपयुक्त वर-वधू समाज में से चयन कर श्रेष्ठ नागरिक समाज को दिए जा सकते हैं। धूम-धड़ाके से भरी शादियाँ व्यक्ति यों को अनीति की कमाई की ओर तो प्रवृत्त करती ही हैं, अन्य अनेकों के मन में ईर्ष्या-डाह भर देती हैं। ऐसे अवसर पर आयोजित प्रीतिभोज संक्षिप्त, सादगी से भरे एवं वास्तविक अर्थों में सौजन्य बढ़ाने वाले सम्मेलन के रूप में होना चाहिए।

बड़ों की मृत्यु के बाद भोज देने की परंपरा अभी भी समाज में विद्यमान है। इसके स्थान पर श्राद्ध रूप में परमार्थ कार्य को लेना चाहिए। इससे पितरों के प्रति सही अर्थों में श्रद्धा व्यक्त होती है। ऊँच-नीच, भिक्षा-व्यवसाय, नारी को परदे में बाँध रखने की प्रवृत्तियाँ भी ऐसी ही हैं, जो गृहस्थाश्रम में रहकर कार्य करने वालों के मार्ग में बाधक बनती हैं। इनसे जूझने-इनके विरुद्ध माहौल बनाने का सही समय यही है। आज की परिस्थितियों में वह अभीष्ट है, वही क्रिया की जानी चाहिए।

हितं नैव तु कस्यापि सिद्ध्येदेभिः क्वचिन्मनाक्।
असंख्या हानयो मात्रं भवंत्येव निरंतरम् ॥ ७१॥
अंधविश्वासबाहुल्यं दिवसेष्वेषु विद्यते।
यदाश्रित्य च धूर्तास्तु जनान् लुंठन्ति नित्यशः॥ ७२॥
आत्मानं हि भ्रमादस्माद्रक्षेदन्यानपि स्वकान्।
भाग्यवादे किंवदन्ती श्रितेष्वेतेषु वा पुनः॥ ७३॥
देवेषु पुरुषेष्वेवं भविष्यद् वक्तृषु क्वचित्।
मुहूर्तस्यादिवादे न भ्रांतैर्भाव्यं विवेकिभिः ॥ ७४॥

टीका—अंधविश्वासों की इन दिनों भरमार है। उनकी आड़ में धूर्त लोग भोले-भावुकों को ठगते रहते हैं। इस भ्रम-जंजाल से स्वयं बचना और दूसरों को बचाना चाहिए। भाग्यवाद चित्र-विचित्र किंवदन्ती, आश्रित देवी-देवताओं का प्रचलन, भविष्य कथन, मुहूर्तवाद जैसी भ्रांतियों में विज्ञजनों को नहीं ही फँसना चाहिए॥ ७१-७४॥

परिवार में रहते हुए मूढ़ मान्यताओं, अंध विश्वासों के कुचक्र से बचना हर गृहस्थ के लिए अनिवार्य है। जनमानस इतना लचीला होता है कि वह जिधर मोड़ा जाए, उधर ही मुड़ जाता है। विवेक से काम लेने वाले कम ही देखे जाते हैं। धर्म के नाम पर अनेकों विकृतियाँ समाज में फैली हैं। धर्म का वस्तुतः सही स्वरूप ही जन साधारण को नहीं मालूम है।

गृहस्थजीवने चाऽत्र संबद्धातिथि सत्कृतिः।
वर्तितव्यो नातिवादस्तथाप्यत्र कदाचन ॥ ७५॥
सख्यव्याजेन येष्वत्र गृहेषु मित्रमंडली।
संतिष्ठते सदा सत्वहीनता तेषु जृंभते॥ ७६॥
समयो नश्यति द्रव्यं नश्यत्येतेन संततम्।
विकृतीनां प्रवेशश्च कुटुंबे जायतेऽञ्जसा॥ ७७॥
आवश्यकेन कार्येण विना नैव कदाचन।
आतिथ्यमाचरेदत्र निष्क्रियाणां नृणां बुधः॥ ७८॥
गृहेषु नैव चान्येषां गच्छेद् व्यर्थं निरंतरम्।
समयस्य विनाशस्तु मित्रैः सह न युज्यते॥ ७९॥
हानयो विपुलाः संति दिनेष्वेतेषु सर्वथा।
जीविका कष्टयुक्तेषु विधिनाऽनेन निश्चितम्॥ ८०॥
सन्मित्राणामभावस्तु प्रायोऽद्यत्वे विलोक्यते।
भावुकाश्च दिशाहीना वर्धंते चाऽन्यसंगताः॥ ८१॥

टीका—गृहस्थ जीवन के साथ अतिथि सत्कार जुड़ा हुआ है, पर उसमें अतिवाद नहीं बरता जाना चाहिए। जिन घरों में दोस्ती के नाम पर निरर्थक व्यक्तियों की मंडली जमी रहती है, उनका दिवाला निकल जाता है, समय नष्ट होता है, पैसों की बरबादी होती है। इस अवांछनीय घुसपैठ से परिवार में अनेकों विकृतियाँ अनायास घुस पड़ती हैं। इसलिए बिना आवश्यक काम के निठल्ले लोगों का आतिथ्य नहीं करना चाहिए, न ही दूसरों के घरों में बिना कारण बार-बार जाना चाहिए। मित्रों के साथ आवश्यक समय बरबाद करना किसी भी प्रकार उचित नहीं। इन दिनों तो उससे हानि ही हानि है। भले मित्रों का अब एक प्रकार से अभाव ही हो गया है। दिशाहीन भावुक पुरुषों की संख्या बढ़ रही है, जो औरों को भी बहा ले जाते हैं॥ ७५-८१॥

अतिथि धर्म का निर्वाह हर व्यक्ति के लिए अनिवार्य माना जाता है। पर यहाँ ऋषि इस दिशा में अतिवाद बरते जाने से संभावित परिणामों का संकेत करते हुए कहते हैं कि जहाँ मित्रता के नाम पर अनावश्यक लोगों का जमघट रहता है, वहाँ सत्प्रवृत्तियाँ पनपने, परस्पर मैत्री बढ़ने के स्थान पर विकृतियाँ जन्म लेने लगती हैं। मित्रता जरूरी है, उसके बिना जीवन व्यापार में प्रगति संभव नहीं, पर उस दिशा में विवेक बरता जाना जरूरी है। सच्चे मित्र बड़ी कठिनाई से मिलते हैं। लोक प्रचलन के प्रवाह में तो धूर्तों अथवा अतिभावुकों की ही भीड़ है, जो किसी काम में सहायक तो बनते नहीं, हानिकारक और सिद्ध होते हैं।

संयुक्तस्य कुटुंबस्य रीतिर्योग्यैव सर्वथा।
कर्त्तव्यानि विभक्तानि दायित्वानि नृणां सदा॥ ८२॥
भवेयुः स्वस्वदायित्वं मर्यादाऽपि च स्वतः।
निर्वहेयुः समे नो चेन्मनोमालिन्यमत्र तत् ॥ ८३॥
पृथग्भावोऽपि सद्यस्तु समुदेति भवेत्ततः।
कलहापेक्षया चाल्पकुटुंबस्थिति - बाध्यता॥ ८४॥

टीका—संयुक्त परिवार प्रथा हर दृष्टि से उपयोगी है, पर उसमें कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व बँटे रहना चाहिए और हर सदस्य को अपनी-अपनी जिम्मेदारियों तथा मर्यादाओं का पालन करना चाहिए। इसके बिना मनोमालिन्य और बिखराव पैदा होता है। ऐसी स्थिति में निरंतर के कलह की अपेक्षा छोटे-छोटे अलग परिवार बसाने की विवशता अपनानी पड़ती है॥ ८२-८४॥

संयुक्तस्य कुटुंबस्य लाभश्चात्र तदैव तु।
प्राप्यते यदि कर्त्तव्यमर्यादानां विनिर्मिता॥ ८५॥
आचारसंहिता सा स्यात्पाल्येतापि जनैः स्वयम्।
वयोऽधिकाश्च मान्याः स्युः परिवारे सदैव ते॥ ८६॥
सौविध्यस्य साहाय्यस्य चिंता तेषां विशेषतः।
कर्तव्या लाभ आप्तव्यस्तेषामनुभवैः सदा॥ ८७॥
परामर्शं निदेशं तमौचित्यनिकषे स्वयम्।
पालयेत्संपरीक्ष्यैव यतो वृद्धजनेष्वपि ॥ ८८॥
बहूनां मान्यता इच्छा स्वभावश्च समान्यपि।
विवेकनिकषोत्तीर्णान्यत्र नैव भवंति तु॥ ८९॥
ईदृश्यां च दशायां तु निदेशान् कलहं विना।
शक्यते चाञ्जसा कर्तुमश्रुतान् वाप्युपेक्षितान्॥ ९०॥
सम्मानं च सुरक्षा च सेवा भावोऽन्यदेव तु।
विद्यते चाविचार्येव निदेशपरिपालनम् ॥ ९१॥
भिन्न एव महत्त्वं च विवेकौचित्ययोस्तु तत्।
श्रेष्ठमेव परामर्शाद् वृद्धानामतिरिच्यते॥ ९२॥

टीका—संयुक्त परिवारों का लाभ तभी मिलता है, जब कर्त्तव्यों एवं मर्यादाओं की आचार संहिता बने और उसका विधिवत् पालन हो सके। परिवार संस्था में वयोवृद्धों को समुचित सम्मान मिलना चाहिए। उनकी सुविधा और सहायता का भी ध्यान रखना चाहिए। उनके अनुभवों से लाभ उठाना चाहिए, किंतु परामर्श या निर्देश को औचित्य की कसौटी पर कसने के उपरांत ही पालन करना चाहिए।, वृद्धों में से कितनों की ही मान्यताएँ, आदतें, इच्छाएँ ऐसी होती हैं, जिन्हें विवेक की कसौटी पर कसने पर खरा नहीं पाया जाता। ऐसी दशा में निर्देशों को बिना विग्रह खड़ा किए हुए, उन्हें अनसुना या उपेक्षित भी किया जा सकता है। सम्मान, रक्षा, सुरक्षा, सेवा एक बात है और आँखें मूँदकर निर्देश मानने के लिए बाधित होना सर्वथा दूसरी। विवेक एवं औचित्य का महत्त्व सर्वोपरि है। उसका स्थान वृद्धजनों के परामर्श से भी अधिक है॥ ८५-९२॥

आज परिस्थितियाँ बदली हुई हैं। पुरातन विश्व की तुलना में आज परिवार संस्था का रूप बदला हुआ-सा है। पहले बड़े परिवारों में सभी एक साथ रहते थे, एक साथ उपार्जन कर उसका मिल-बाँटकर उपभोग करते थे। तब समाज छोटे-छोटे हिस्सों में बँटा था, शहर अधिक नहीं थे एवं कृषि तथा ग्राम्य प्रधान संस्कृति होने के कारण संयुक्त परिवार का प्रचलन अधिक था। उसके अपने लाभ थे। सहकारिता, औदार्य एक-दूसरे के प्रति सौजन्य, बड़ों का सम्मान, ये सभी उस परंपरा की ही देन हैं।

आज स्थिति अलग है। उपार्जन के स्थान सुदूर क्षेत्रों में होने के कारण परिवार बँटते चले जा रहे हैं। यदि यह संरचनात्मक विघटन ही होता, तो एक बात थी, किंतु जब उत्तरदायित्वों को भुलाकर भावनात्मक विघटन भी हो जाता है, तो आधुनिकता की इस देन को, बुद्धिमान लोग हेय ही ठहराते हैं। दूसरा पक्ष यह भी है कि पीढ़ियों के अंतर व मानसिकता में भिन्नता होने के कारण परस्पर कलह बना

रहता हो एवं यही संयुक्त परिवार के विघटन का कारण बनता हो, तो ऐसे में बड़ों के प्रति दायित्व निभाते हुए यदि अलग छोटे परिवार बनाने पड़ें, तो इसे आज की आवश्यकता मानकर चलना चाहिए।

यदि सौभाग्यवश संयुक्त परिवार में रहने का अवसर मिल सके, तो निर्वाह तभी हो पाता है, जब सभी परिवारीजन अपने उत्तरदायित्वों को निबाहें। बड़ों ने कष्ट उठाकर परिवार संस्था को समुन्नत किया है। वे सम्मान के योग्य हैं। किंतु यदि उनके परामर्श सामयिक न हों एवं तर्क, तथ्य की कसौटी पर अनुचित ठहरें, तो ऐसे में उन्हें अनसुना करना अकर्त्तव्य नहीं है। ऋषि कहते हैं कि आँख बंद करके, बड़े कह रहे हैं, मात्र इसलिए मान लेना समझदारी की बात नहीं है। जो तथ्य कुरीतियों, मूढ़-मान्यताओं पर लागू होते हैं, वे ही उन सुझावों-परामर्शों पर भी समान रूप से लागू होते हैं, जो समय के प्रवाह से विपरीत हैं अथवा अनुचित हैं।

गृहस्थजीवनस्यातो महिमा स मतः स्वतः।
आश्रमाणामिव श्लाध्यः शोभनः सुप्रशंसितः॥ ९३॥
उच्चादर्शं तु गृह्णन्ति लोकसेवा - विधेस्तु ये।
जनास्तेषां कृते नैवानिवार्यं विद्यते परम् ॥९४॥
सर्वसाधारणानां तु कृतेऽस्त्येव जनैर्यतः।
विकासश्च कुटुंबस्थः सर्वेषामेव जायते॥ ९५॥
गृहस्थेन ततः सर्वे संबद्धाः संति निश्चितम्।
अतस्तत्सूत्रसंबद्धकर्त्तव्यपरिपालनम् ॥ ९६॥

टीका—गृहस्थ जीवन की महिमा भी अन्य आश्रमों की तरह ही सुंदर, प्रशंसनीय एवं श्लाघ्य मानी गई है। लोकसेवा का उच्च आदर्श अपनाने वालों के लिए वह अनिवार्य नहीं, तो भी सर्वसाधारण के लिए वही उपयुक्त है। हर किसी का जन्म और विकास तो परिवार के अंतर्गत ही होता है, इसलिए उसके साथ हर कोई जुड़ता है। अतएव उस संबंध सूत्र के साथ जुड़े हुए कर्त्तव्यों का परिपालन ही श्रेष्ठ माना जाता है॥ ९३-९६॥

गृहस्थ जीवन प्रकरण का समापन करते हुए ऋषिश्रेष्ठ सर्वसाधारण के लिए परिवार-बंधन में जुड़ने का माहात्म्य बताते हुए कहते हैं कि चूँकि मनुष्य परिवार की, समाज की, एक इकाई है, उसे अपवादों को छोड़कर यथासंभव अपने दायित्व परिवार संस्था से जुड़कर ही निभाना चाहिए। माता-पिता, भाई-बहिन, पत्नी-पुत्र, मित्रगण इन सभी के प्रति उसके कर्त्तव्य हैं। उन्हें गृहस्थ धर्म में रहकर ही पूरा किया जा सकता है। मनुष्य के लिए सर्वश्रेष्ठ मार्ग यही है, कि वह स्वयं को इस बंधन से जोड़कर सबको साथ लेकर चले एवं अपने धरती पर अवतरण को सफल बनाए।

उद्बोधनं प्रियं जातं श्रोतृणामद्य यच्छ्रुतम्।
शांतिपाठनमस्कारजयशब्दैरथापि च ॥ ९७॥
नीराजनेन सार्धं च समाप्तं सत्रमुत्तमम् ।
यथाकालं परं गन्तुमुत्थातुं चापि नो मनः॥ ९८॥
कस्यापि कुरुते तत्र साहसं नित्यकर्मणः।
व्यवस्था च व्यधात् सर्वान्विवशान् गंतुमत्र च॥ ९९॥

टीका—आज का उद्बोधन जनों को और भी प्रिय लगा। शांतिपाठ, आरती, जयकार, अभिवंदन के उपरांत नियम समय पर सत्र समाप्त हुआ, पर उठने व जाने के लिए किसी का मन नहीं कर रहा था। नित्य-नियम की व्यवस्था ने ही उन्हें विदा होने के लिए विवश किया॥ ९७-९९॥

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,
श्रीधौम्यऋषिप्रतिपादिते गृहस्थजीवन इति प्रकरणो नाम द्वितीयोऽध्यायः॥

॥ अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

नारी-माहात्म्य प्रकरण

सत्र प्रवचने तत्र तृतीयस्य दिनस्य तु।
अभूदुपस्थितिः सा च श्रोतृणां महती नृणाम्॥ १॥
संख्या प्रतिदिनं विज्ञजनानां वर्द्धते यतः।
अन्वभूवन्निदं सर्वे प्रथमं यद् गृहस्थजः॥ २॥
धर्मोऽपि समतुल्यः स योगसाधनया ध्रुवम्।
निर्वाहेण च तस्यैव सीमितानामिह स्वयम्॥ ३॥
मर्यादानामुदाराणामनुरूपतया नरः।
पुण्यस्य परमार्थस्य योग्यतामेति सत्वरम्॥ ४॥
स हैवावधिकालेऽस्मिन्नभ्यसंश्च पराक्रमम्।
प्रतिभोपार्जनेनैव परार्थं प्रचुरं सह ॥ ५॥
कर्तुं क्षमो भवेदत्र श्रोतुं च वचनामृतम्।
औत्सुक्यं सन्नृणां वीक्ष्य धौम्यः संतोषमागतः॥ ६॥
यच्छ्रुतं सावधानैस्तु नरैर्मे प्रतिपादनम्।
सार्थक्यं स्व प्रयासस्य अन्वभूत्स प्रहर्षितः॥ ७॥

टीका—तीसरे दिन के सत्र प्रवचन में श्रोताओं की और भी अधिक उपस्थिति थी। विज्ञजनों की संख्या प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। लोगों ने प्रथम बार यह अनुभव किया कि गृहस्थ धर्म भी योगसाधन के समतुल्य है और उसका निर्वाह निर्धारित उदार मर्यादाओं के अनुरूप करने से मनुष्य पुण्य-परमार्थ का भागी बन सकता है। साथ ही इस अवधि में पराक्रम का अभ्यास करते हुए प्रतिभा अर्जन के साथ-साथ प्रचुर परमार्थ भी कर सकता है। अमृतवचन सुनने के लिए आतुर जन समुदाय की उत्सुकता देखकर महर्षि धौम्य को संतोष हो रहा था, कि उनका कथन प्रतिपादन ध्यानपूर्वक सुना गया। वे अपने प्रयास की सार्थकता अनुभव कर रहे थे॥ १-७॥

गृहस्थ धर्म को सामान्यतया उपभोग प्रधान माना जाता है एवं यह समझा जाता है कि अध्यात्म की लक्ष्य सिद्धि इसमें संभव नहीं। किंतु प्रस्तुत सत्र में जो विशेष रूप से गृहस्थ जीवन को लक्ष्य करके ही आयोजित किया गया, सत्राध्यक्ष द्वारा स्थान-स्थान पर इसे एक योग साधन, जीवन देवता की साधना-आराधना की उपमा देते हुए उसके माहात्म्य पक्ष पर ही जोर दिया जाता रहा है। विभूतियों को अर्जित करने के लिए परिवार संस्था विशुद्धतः एक प्रयोगशाला-पाठशाला है, जहाँ मानवी पराक्रम की परीक्षा होती है, तदनुसार उसे उपलब्धियाँ मिलती हैं। कौन उन्हें कितना, किस प्रकार पुण्य प्रयोजन के निमित्त खरच करता है यह उसके आंतरिक स्तर एवं सुसंस्कारिता पर निर्भर है। ऐसे हृदयग्राही प्रतिपादनों को सुनकर श्रोताओं को, स्वयं को धन्य अनुभव करना सहज ही संभाव्य है।

धौम्य उवाच

भद्रजनाः! गृहिण्याश्च महत्त्वं वर्णितं परम्।
वस्तुतस्तु, यतो धुर्या गृहिणी परिवारगा ॥ ८॥
उत्कृष्टत्वे निकृष्टत्वे तस्या एव गृहस्थजम्।
उत्थानं पतनं नूनमाश्रितं नात्र संशयः ॥ ९॥
तस्याः सहायकस्त्वेष पुरुषः केवलं सदा।
साधनान्यर्जयन्नस्या साहाय्यं विदधाति तु ॥ १०॥
शय्या त्यागात्समारभ्य यावद्रात्रो समेऽपि च।
शेरते तावदेवेयं गृहेऽभिरमतेऽभितः ॥ ११॥
तथा निरन्तरं तस्य परिवारस्य मध्यगा।
छायेव बद्धमूला सा प्रशस्तैवाधिका हि सा॥ १२॥
गृहिणी विद्यते तेन गृहलक्ष्मीरसंशयम्।
मंदिरस्थेव देवी सा गेहे मान्या समैरपि ॥ १३॥
समानमनुदानं च तथैवास्यै विधीयताम्।
प्रत्येकस्य गृहस्थस्य कर्त्तव्यं प्रथमं त्विदम्॥ १४॥
मातुः पत्न्या भगिन्या वा कन्याया वाऽपि संस्थिता।
रूपे नारी यदा यत्र तत्र तां स्वावलंबिनीम्॥ १५॥
स्वस्थां प्रसन्नां संस्कारयुतां च प्रतिभामयीम्।
शिक्षितां मानवः कर्तुं न्यूनतां न समाश्रयेत्॥ १६॥
प्रयासाः सर्वदा कार्या नरैरेवं विधास्तथा।
ग्राह्या चाल्पाऽपि नोपेक्षा तेषु हानेर्भयायादिह ॥ १७॥

टीका—महर्षि धौम्य ने कहा हे भद्रजनों शास्त्रों में नारी की बड़ी महत्ता वर्णित की गई है। नारी परिवार की धुरी है, उसी की उत्कृष्टता-निकृष्टता पर गृहस्थ का उत्थान पतन निर्भर रहता है इसमें जरा भी संदेह नहीं है। पुरुष तो उसका सहायक मात्र है। वह साधन जुटाता और सहयोग देता है। प्रातः शय्या त्याग से लेकर जब तक रात्रि घर के सदस्य सोते हैं। तब तक होने वाले घर के प्रत्येक कार्य में प्रतिक्षण व्यस्तता इसी में देखी जाती है। निरंतर उस परिवार पर छाई रहने के कारण उसी की प्रशंसा अधिक है। नारी गृहलक्ष्मी है। उसे घर के देवालय में अवस्थित प्रत्यक्ष देवी माना जाना चाहिए। वैसा ही सम्मान एवं अनुदान भी उसे प्रस्तुत किया जाना चाहिए। प्रत्येक सद्गृहस्थ का प्रथम कर्त्तव्य हैं कि माता, भगिनी, पत्नी और कन्या के जिस भी रूप में नारी रहे, उसे स्वस्थ, प्रसन्न, शिक्षित, स्वावलंबी एवं सुसंस्कृत प्रतिभावान बनाने में कुछ भी कमी न रखें। इस प्रकार के प्रयत्न निरंतर

जारी रहें। उन प्रयासों की तनिक भी उपेक्षा न करें। अन्यथा महान् हानि का भय बना रहेगा॥ ८-१७॥

शास्त्रों में नारी की महत्ता और उसकी गरिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि नारी ब्रह्मविद्या है, श्रद्धा है, शक्ति है, पवित्रता है, कला है, और वह सब कुछ है जो इस संसार में सर्वश्रेष्ठ के रूप में दृष्टिगोचर होता है। नारी मूर्तिमान्, कामधेनु है, अन्नपूर्णा है, सिद्धि है, ऋद्धि है, और वह सब कुछ है, जो मानव प्राणी के समस्त अभावों, कष्टों और संकटों का निवारण करने में समर्थ है। यदि उसे श्रद्धासिक्त सद्भावना से सींचा जाए तो यह सोमलता विश्व के कण-कण को स्वर्गीय परिस्थितियों से ओत-प्रोत कर सकती है।

नारी को परिवार का हृदय और प्राण कहा गया है। परिवार का संपूर्ण अस्तित्त्व तथा वातावरण नारी पर सुगृहिणी पर निर्भर करता है। नारी अपनी कोमलता, सुशीलता, संवेदना, करुणा, स्नेह और ममता आदि हार्दिक विशेषताओं के कारण परिवार के निर्माण में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है और इन विशेषताओं के कारण ही घर-परिवार के सदस्यों के अधिक निकट रहती और उन्हें प्रभावित करती है। वृहत्संहिता में कहा गया है—

''पुरुषाणां सहस्त्रं च सती नारी समुद्धरेत्''।

अर्थात् सती स्त्री अपने पति का ही नहीं, अपने उत्कृष्ट आचरण की प्रत्यक्ष प्रेरणा से सहस्त्रों पुरुषों का उद्धार यानी श्रेष्ठता की दिशा में मार्गदर्शन करती है।

नारी स्वभावतः गृहलक्ष्मी है। घर की अंदरूनी व्यवस्था से लेकर परिवार में सुख-शांति और सौमनस्यता के वातावरण का दायित्व प्रायः नारी को ही निभाना पड़ता है। उसमें परिवार को स्वर्ग बनाने की प्रकृति प्रदत्त क्षमता विद्यमान है। इसीलिए उसे गृहिणी, सुगृहिणी, गृहलक्ष्मी जैसे सम्मानजनक विशेषणों से संबोधित किया जाता है और जीवन संगिनी के रूप में जन्म-जन्मांतरों का साथी समझा जाता है।

''पूज्या हि गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियश्च लोकेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन॥''

(९/२६)

गृहस्वामिनी स्त्री पूजा के योग्य है। इसमें और लक्ष्मी में कुछ भी भेद नहीं है।

गृहिणी समुन्नतैवात्र परिवारं तु स्वर्गिणम्।
विधातुं हि समर्थास्ति ततोऽस्याः क्षमतोदये॥ १८॥
यः श्रमो यो मनोयोगो धनं तु विनियोगताम्।
आश्रयंति समायाति तदिहासंख्यतां गतम्॥ १९॥
श्रेयो मानं च ये मर्त्या गृहिण्यै ददति स्वयम्।
अपेक्षयाऽनुदानस्यासंख्यं प्रतिफलं तु ते ॥ २०॥
प्राप्नुवंति कुटुंबं तद् यतः प्रतिफलं द्वयोः।
नार्या नरस्य संयुक्ताऽनुदानानां हि निश्चितम्॥ २१॥
गृहिण्या भूमिका श्रेष्ठा कनिष्ठा च नरस्य तु।
खनिर्नारी नराः सर्वे खनिजा इति मन्यताम् ॥ २२॥
जायंते धातवः सर्वे खनितुल्याः खनेर्ध्रुवम्।
कृष्णाङ्गाराश्च लौहाश्च ताम्रं चंद्रो हिरण्मयम्॥ २३॥
खनेः स्वस्वानुकूलाया उद्भवंति यथा तथा।
श्रेष्ठा नार्यः सुतान् श्रेष्ठाञ्जनयंति गुणान्वितान्॥ २४॥
कर्मशीलान् सुशीलांश्च प्रतिबिंबानिव स्वकान्।
मलयाचलभूमिः सा यत्रस्था गन्धिनः समे॥ २५॥

टीका—समुन्नत नारी ही परिवार को स्वर्ग बना पाती है। उसकी क्षमता विकसित करने में लगाया गया श्रम, मनोयोग एवं धन असख्यों गुना होकर लौटता है। नारी को श्रेय-सम्मान देने वाले अपने अनुदान की तुलना में असंख्य गुना प्रतिफल प्राप्त करते हैं। परिवार नर और नारी के संयुक्त अनुदानों का प्रतिफल है। इसमें नारी की भूमिका वरिष्ठ और नर की कनिष्ठ है। नारी खदान है, नर उसमें से निकलने वाला खनिज। खदान जैसी होती है, धातुएँ उसी स्तर की उसमें से निकलती हैं। कोयला, लोहा, ताँबा, चाँदी, सोना आदि अपने-अपने ढंग से खदानों में से ही निकलते हैं। श्रेष्ठ स्तर की नारियाँ अपने जैसे गुण-कर्म-स्वभाव की संतानें जनती हैं। वे (चंदन वृक्ष) मलयाचल भूमि की तरह है। उनके सान्निध्य में बड़े-छोटे उसी प्रकार की सुगंध से महकने लगते हैं॥ १८-२५॥

समुन्नत-सुसंस्कृत नारी अपने पारिवारिक राज्य में स्वर्गीय परिस्थितियाँ उत्पन्न करने में पूरी तरह समर्थ है। घर के समान की सुव्यवस्था रखकर उस छोटे से घरौंदे को सुरुचि, शोभा, सौंदर्य से भरा-पूरा बना देना सुगृहिणी के बाएँ हाथ का खेल है। नीरस और ओछे स्तर के लोगों को भी अपनी परिष्कृत प्रवृत्ति में जकड़कर शालीनता के ढाँचे में ढलने-बदलने के लिए विवश कर देना, भाव संपत्ति के धनी नारी के लिए अतीत सरल है। नारी का अंतःकरण कुछ विशेष तत्त्वों के बाहुल्य से भरा-पूरा बनाया गया है। उसमें आत्मीयता और उदारता की, करुणा और कोमलता की मात्रा पुरुषों की तुलना में अधिक होती है। अपनी इस विशेषता के कारण वह रूखी और कर्कश प्रकृति के लोगों को नरम बना सकती है, उनमें सरस-सहृदयता का संचार कर सकती है। यदि घर के लोगों में सामान्य शालीनता मौजूद हो तब तो कहना ही क्या। सुसंस्कृत नारी की भूमिका उस स्थिति में सोना और सुगंध की कहावत चरितार्थ करती है।

बच्चे आसमान से नहीं उतरते। वे माता के शरीर के ही एक अंग हैं। उनमें विद्यमान चेतना का सिंचन, परिपोषण, संस्कारों का अभिवर्द्धन माता के द्वारा ही होता है। नर नर

रत्नों का उत्पादन किसी भी समाज-राष्ट्र में तभी बढ़ सकता है जब नारी की सुसंस्कारिता पर समुचित ध्यान दिया जाए। बौद्धिक ज्ञान तो पाठशालाओं में भी दिया जा सकता है। किंतु व्यक्तित्व को उत्कृष्टता के ढाँचे में ढालने का पुनीत कार्य परिवार की प्रयोगशाला में ही संभव हो पाता है। इसमें नर से भी बड़ी नारी की भूमिका है।

ऊसर, बंजर, रेतीली, नमकवाली, कंकड़-पत्थर वाली जमीन में फसल उगाना संभव नहीं हो पाता। अच्छी फसल पानी है तो खाद-पानी के अतिरिक्त उर्वर भूमि भी चाहिए। श्रेष्ठ स्तर की धातुएँ उसी स्तर की खदानों से उपलब्ध होती हैं। नारी को नर रत्नों को जन्म देने वाली खदान माना गया है। अगली प्रखर पीढ़ी के निर्माण की भूमिका सुविकसित नारी के माध्यम से ही संभव हो सकती है। इसलिए नारी को नर से अधिक महत्त्व दिया जाता है। वही परिवार को श्रेष्ठता से अभिपूरित, धरती का स्वर्ग बनाती है। नारी को जितने अनुदान दिए जाते हैं, चाहे वे स्नेह, सुसंस्कारिता, समर्थता, स्वावलंबन के रूप में हों अथवा सहयोग, सम्मान, संरक्षण एवं क्षमता के सुनियोजन रूप में, वे खाली नहीं जाते। इसका परिणाम पूरे परिवार, समाज, राष्ट्र को मिलता है। अत: श्रेष्ठता के पक्षधर हर व्यक्ति का यह प्रयास होना चाहिए कि वह नारी को समुन्नत, सुसंस्कृत बनाने हेतु किए जा रहे पुण्य पुरुषार्थ को हर संभव सहयोग दें।

नारी का सबसे बड़ा महत्त्व उसके जननी पद में निहित है। यदि जननी न होती, तो कहाँ से सृष्टि का संपादन होता और कहाँ समाज तथा राष्ट्रों की रचना होती। यदि माँ न हो तो कौन सी शक्ति होती, जो संसार से अनीति एवं अत्याचार मिटाने के लिए शूरमाओं को धरती पर उतारती। यदि माता न होती, यह बड़े-बड़े वैज्ञानिक, प्रकांड पंडित, कलाकार, अप्रतिम साहित्यकार, दार्शनिक, मनीषी, महात्मा एवं महापुरुष किसकी गोद में खेल-खेलकर धरती पर पदार्पण करते। नारी व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र की जननी ही नहीं, वह जगजननी है। मानवता के नाते, सहधर्मिणी होने के नाते, राष्ट्र व समाज की उन्नति के नाते उसे उसका उचित सम्मान और स्थान दिया ही जाना चाहिए।

स्नेहसौजन्ययोर्नार्या बाहुल्यं प्राकृतं स्वतः।
व्यक्तिनिर्माणसामर्थ्यं द्वयमेतन्निगद्यते ॥ २६ ॥
यंत्ररेखाश्रिता नूनं भूषणादिविनिर्मितिः ।
कुंभकारो यथा चक्रं स्वांगुली - कौशलेन सः ॥ २७ ॥
अर्हति पात्रतां नेतुं मृदं क्लिन्नां शनैः शनैः।
तथा कुटुंबगान् नारी सर्वान् संस्कर्तुमर्हति ॥ २८ ॥
देव्या सोपमिता नारी प्राधान्याद् यत एव ते।
देवा अनुचरास्तस्या देव्या अत्रापि सा स्थितिः ॥ २९ ॥
महत्त्वपूर्णकमैतत् यो नार्या प्रतिभोदयः ।
कल्याणं निहितं सृष्टे समायाः कर्मणीह तु ॥ ३० ॥
अभ्यर्थना च देवीनामाख्याता या मतं बहु।
तस्या माहात्म्यमत्रैषु शास्त्रेषु वस्तुबोधकम् ॥ ३१ ॥
तुष्यंति शीघ्रं ताः सर्वा वरदानं ददत्यलम्।
प्रत्यक्षं देवतो नार्यो द्रष्टुमेतच्च संभवम् ॥ ३२ ॥

टीका—नारी में स्नेह सौजन्य की प्रकृति प्रदत्त बहुलता है। इसे व्यक्तियों के निर्माण की प्रमुख क्षमता कहा गया है। जैसा साँचा होता है, वैसे ही उपकरण आभूषण ढलते हैं। कुम्हार अपने चाक पर उँगलियों के कौशल से गीली मिट्टी को किसी प्रकार के भी बरतन में बदल सकता है, उसी प्रकार नारी अपने पिता और परिवार के छोटे-बड़े सदस्यों को इच्छानुरूप ढालने-बदलने में समर्थ है। उसे देवी ही उपमा और प्रधानता दी गई है। देवता उनके अनुचर होते हैं, वही स्थिति यहाँ भी समझनी चाहिए। नारी की प्रतिभा को निखारना, बहुत बड़ा काम है। इसमें समस्त सृष्टि का कल्याण सन्निहित है। देवियों की अभ्यर्थना का शास्त्र में बहुत माहात्म्य बताया गया है, जो वस्तुतः यथार्थ है। वे शीघ्र संतुष्ट होती और अधिक वरदान देती हैं। प्रत्यक्ष देवियों के रूप में नारी समुदाय को देखा जा सकता है ॥ २६-३२ ॥

नारी को शक्ति कहा गया है। शक्ति अर्थात् देवताओं को जन्म देने वाली, देवत्व का संस्कार प्रदान करने वाली स्रष्टा की विशेष कृति। वह अपनी कतिपय सहज ही विद्यमान विशेषताओं के कारण जहाँ भी रहती है, वहाँ के वातावरण को देवत्व से अभिपूरित कर देती है। नारी चाहे माँ के रूप में हो, भगिनी अथवा भार्या के रूप में, ममत्व की दृष्टि से संपन्न है। सहनशीलता, शिष्टाचार, करुणा एवं सौजन्य उसकी अमूल्य निधियाँ हैं। इन्हीं विशेषताओं के कारण वह स्वयं अपने आचरण में भी सुसंस्कारिता का समावेश करती व परिवार के अन्य सदस्यों को भी उन विभूतियों से कृतार्थ करती है।

न केवल बच्चों को नारी कुम्हार की तरह, मूर्तिकार की तरह अपने अभिभावक, सहचर, पति अन्य पारिवारिक सदस्यों को भी श्रेष्ठता के साँचे में ढालने-गढ़ने, आमूल-चूल बदलने में समर्थ है। संभवतः यही कारण है कि नारी को देवी की उपमा देकर अध्यात्म दर्शन में उसकी उपासना का प्रावधान किया गया है, ताकि उसके अनुदानों से सभी का कल्याण हो सके। ऐसी देवी स्वरूपा नारी को पददलित करना, परावलंबी बनाना निकृष्टतम कार्य है। संतान के निर्माण में ही नहीं, परिवार के समूचे निर्माण में भी पुरुष की अपेक्षा नारी की भूमिका हजार गुनी अधिक महत्त्वपूर्ण और अधिक प्रभावशाली है। अतः समाज को ऊँचा उठाना है तो नारी को देवी का दर्जा

देते हुए, उसके प्रति सम्मान की भावना सबके मन में जगाई जानी चाहिए।

मणयोऽपि च पंके चेन्मग्नास्तर्हि तिरस्क्रियाम्।
उपेक्षां च लभंतेऽत्र तथा तासु सतीष्वपि ॥ ३३॥
विशेषतासु नार्यश्चेत्कृताः स्युर्नहि संस्कृताः।
प्रतीयंते ह्ययोग्यास्ता अविकासस्थिताः सदा॥ ३४॥
मलिनोऽसंस्कृतो हीरः काच एव हि दृश्यते।
टंकनादेव सौन्दर्यं भ्राजते मूल्यमाव्रजेत् ॥ ३५॥
सम्मुखे दर्पणस्यैष यथारागस्तथैव तु।
छाया सा दृश्यते तस्मिंस्तथास्थितिगता सदा॥ ३६॥
उत्तमा मध्यमा हेया नारी सा दृश्यते क्रमात्।
मौलिकं तु स्वरूपं तत्तस्याः स्वच्छं न संशयः॥ ३७॥
बुधैः प्रोक्ताविचार्यैव नारीह भावनामयी।
बाधिता स्यान्न तस्यास्तु भावनैषा कदाचन॥ ३८॥
स्नेहं सम्मानमुत्साहदानं प्रशिक्षणं तथा ।
सहयोगं च नारी चेत्प्राप्नुयात्तर्हि निश्चितम्॥ ३९॥
उच्चतां स्तर आगच्छेत्तस्या सोऽप्यञ्जसैव तु।
कल्पवृक्षोऽस्ति नारी तु तां यो यत्नेन सिंचति॥ ४०॥
पुष्पाणि तस्याश्छायायां स्थितः स्वान् स मनोरथान्।
इच्छितान् वरदानान् वै प्राप्नोत्येव सुखावहान्॥ ४१॥

टीका—मणि भी कीचड़ में फँसी रहने पर उपेक्षित और तिरस्कृत रहती है। मौलिक विशेषताएँ होते हुए भी यदि नारी को निखारा-उभारा न जाए, तो वह भी पिछड़ी स्थिति में पड़ी रहती है व अयोग्य प्रतीत होती है। मैला और अनगढ़ हीरा भी काँच जैसा प्रतीत होता है। खरादने पर ही उसका सौंदर्य चमकता और मूल्यांकन होता है। दर्पण के सम्मुख जैसा भी रंग होता है, वही उसमें छाया दीखती है। परिस्थितियों के अनुरूप ही नारी उत्कृष्ट, मध्यम और हेय स्तर जैसी दीखती है। उसका स्वरूप स्फटिकमणि की तरह स्वच्छ है। यह एक सुविचारित तथ्य है कि नारी भावना प्रधान है। उसकी भावना को चोट न लगने पाए। उसे समुचित स्नेह, सम्मान, प्रोत्साहन, प्रशिक्षण और सहयोग दिया जाए, तो उसका स्तर ऊँचा उठाना तनिक भी कठिन नहीं। नारी कल्पवृक्ष है, जो उसे लगनपूर्वक सींचता-पालता है, वह उसकी छाया में बैठकर मनोरथ पूरा करता और इच्छित प्रतिफल वरदान रूप में प्राप्त करता है॥ ३३-४१॥

नारी को देवमानवों नर रत्नों को जन्म देने वाली खदान की उपमा ऋषि ने दी है, किंतु इस स्थिति को भी स्पष्ट कर दिया है कि पिछड़ेपन का कारण समाज का उपेक्षा भरा रूप है। वह उस हीरे के समान है जिसे खराद पर चढ़ाया व तराशा नहीं गया है। उसका मूलभूत रूप अत्यंत उज्ज्वल, स्वच्छ एवं श्रेष्ठता से युक्त है। अंगारे पर चढ़ी राख की परत उसके ज्वलनशील ताप प्रदान करने वाले गुण को उजागर नहीं होने देती। नारी भी एक प्रकार से ऐसे ही उपेक्षित पड़े अंगारे, कोयले के ढेर में पड़े हीरे की तरह अनगढ़ स्थिति में होती है। जहाँ समाज जागृत होता है, वहाँ या तो स्वयं नारी की ओर से अथवा प्रगतिशील नागरिकों द्वारा ऐसे प्रयास होते हैं, जिससे कठिनाइयों के बीच से उसका रूप और भी अधिक निखरकर आता है। वह प्रखरता की मूर्ति के रूप में उभरकर आती है और समाज को नवीन चेतना प्रदान करती है, नई दिशा धारा दे जाती है।

मूलतः नारी की मानसिक बनावट भावनात्मक है वह तर्कों से नहीं, भाव संवेदनाओं से अभिप्रेरित होकर अपनी जीवन दिशा बनाती है। भावुक हृदय होने के कारण अत्यंत वत्सला नारी को उसकी करुणा सहज ही उसे उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित कर विराट् विश्व का एक अभिन्न अंग बना देती है। इसीलिए कवि रस्किन ने कहा है, माता का हृदय एक स्नेहपूर्ण निर्झर है, जो सृष्टि के आदि से अनवरत झरता हुआ मानवता का सिंचन कर रहा है। नारी की भाव-संवेदनाओं को यदि समुचित पोषण मिलता रहे, तो उसका अभ्युदय संभव है, सुलभ है। यह भी अनिवार्य है कि उसकी भावुक मानसिकता का दोहन न हो, ऐसी स्थिति में वह अंदर से टूट जाती है।

नारी को परिवार तथा समाज के अन्यान्य सदस्यों का स्नेह श्रद्धा और सम्मान भरा सहयोग भी चाहिए। उसके बहुमुखी स्तर को ऊँचा उठाने के लिए समुचित प्रशिक्षण प्रोत्साहन की व्यवस्था अनिवार्य रूप से की जानी चाहिए। शास्त्रकारों ने नारी के साथ कदम-कदम पर सहयोग और सम्मान करने का निर्देश दिया है तथा उसी आधार पर परिवार में सुख-शांति व सुव्यवस्था की स्थापना को संभव बताया है।

यदि कुलोन्नयने सरसं मनो,
यदि विलासकलासु कूतूहलम्।
यदि निजत्वमभीप्सितनेकदा,
कुरु सतीं श्रुतशीलवतीं तदा॥

यदि तुम चाहते हो कि तुम्हारे कुल की उन्नति हो, यदि तुम अपना और अपनी संतान का कल्याण करना चाहते हो, तो अपनी कन्या को विद्या, धर्म और शील से युक्त करो।

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः॥
यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रमंते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यंते सर्वास्तत्राऽफला क्रियाः॥

-मनु० ३/५५-५६

पिता, भाई, पति और देवर जो भी कोई परिवार में हों, यदि वे अपना कल्याण चाहते हैं, तो उन्हें चाहिए कि वे

स्त्रियों का सम्मान करें और उन्हें प्रसन्न रखें। जहाँ स्त्रियों का सत्कार होता है, वहाँ देवता निवास करते हैं, और जहाँ उनका सत्कार नहीं होता, वहाँ सारी क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं। नारी की उपमा ऋषि ने उस कल्पवृक्ष के रूप में दी है जिसके सान्निध्य से सब कुछ पाया जा सकता है। यदि उसे समुचित सम्मान मिलता रहे, उसे ऊँचा उठाने के प्रयास चलते रहें, तो प्रत्युत्तर में वह अनुदानों की वर्षा कर सारे समाज को उपकृत करती, धन्य बनाती है। वह मानव के समस्त मनोरथों को पूर्ण करने में समर्थ है।

विवेकिनां हि दायित्वमिदं यन्न्यूनता नहि।
नारीशिक्षाविधौ स्याच्च दायित्वं प्रतिबोधिता॥ ४२॥
निर्वाहाय तथैषां च मार्गदर्शनमिष्यते।
सहयोगश्च दातव्यः शिक्षा योग्याऽप्यपेक्षते॥ ४३॥
नार्याः शिक्षणमेतस्या बौद्धिकं व्यवहारगम्।
भवेदीदृशमेवन्न यदाश्रित्य परिस्थितीः ॥ ४४॥
प्रतिकर्तुं समर्था सा भवेदिह तथा निजम्।
परिवारं विधातुं च प्रोन्नतं प्रभवेदपि॥ ४५॥
शिक्षां निरर्थकां दत्त्वा भाररूपां नहि श्रमम्।
समयं चापि तस्यास्तु नाशितुं युज्यते क्वचित्॥ ४६॥
भवेन्नारी स्वावलम्बं श्रिता शीलयुता भवेत्।
न संकोचं गता चैवं भवेद् यच्छोचितुं तथा॥ ४७॥
वक्तुं न क्षमता तिष्ठेद्दासीभावं व्रजेन्न च।
गृहलक्ष्म्याः स्वरूपे सा स्वतो विकसिता भवेत्॥ ४८॥
कौशलं चेदृशं तस्या भवेद् यद् यद्यपेक्ष्यते।
अर्थोपार्जनमेषां तत्कर्तुं च प्रभवेदपि॥ ४९॥
नराश्रयं विनैवैषा स्वयं दद्यादपि स्वकान्।
आश्रयं सहयोगं च सर्वानन्यानपि क्वचित्॥ ५०॥

टीका—विचारशीलों का यह दायित्व है कि नारी शिक्षा में कमी न रहने दी जाए। उसे अपने महान् उत्तरदायित्वों का ज्ञान कराया जाए। उसके निर्वाह के लिए मार्ग दिखाया जाए और सहयोग दिया जाए। उसके अनुरूप प्रशिक्षण व्यवस्था की नितांत आवश्यकता है। नारी का बौद्धिक एवं व्यावहारिक शिक्षण ऐसा हो, जिसके आधार पर उसे प्रस्तुत परिस्थितियों का सामना करते हुए अपने संपर्क परिकर को समुन्नत कर सकना संभव हो सके। निरर्थक शिक्षा का भार लादकर, उसका श्रम बरबाद न किया जाए नारी को स्वावलंबी बनने दिया जाए। वह शीलवती बनी रहे, किंतु इतनी संकोची भी न बने जिससे सोचने, बोलने और करने की क्षमता ही चली जाए। उसे दासी न बनाया जाए। गृहलक्ष्मी के रूप में विकसित किया जाए। उसका कौशल ऐसा रहना चाहिए कि आवश्यकतानुसार उपार्जन भी कर सके। पराश्रित न रहकर वह समयानुसार दूसरों को आश्रय एवं सहयोग भी प्रदान कर सके॥ ४२-५०॥

नारी जो राष्ट्र की जननी और निर्मात्री है, वह अविकसित स्थिति में अँधेरे में भटक रही है। यदि समाज की प्रगति हमें अभीष्ट है, तो नारी को परावलंबन के गर्त से निकाल कर उसे स्वावलंबी, सुसंस्कारी बनाना होगा। यह कार्य सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक शिक्षण द्वारा ही संभव है एवं इस दिशा में सभी अनिवार्य कदम उत्साहपूर्वक उठाए जाने चाहिए। यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि जहाँ भी जिस भी समुदाय में स्वाभिमानी, सुसंस्कृत, श्रमशील नारी विद्यमान होती है, वह समाज निश्चित ही प्रगति करता है। ऐसे ही परिकर में देवत्व हम सबका है कि नारी का शील सुरक्षित बनाए रख उसे स्वावलंबी बनाएँ, ताकि वह अपनी विभूतियों का लाभ समाज को दे सके।

नारी के शिक्षण हेतु स्तर के अनुरूप भिन्न-भिन्न उपाय अपनाने पड़ सकते हैं। इसका निर्धारण समाज की परिस्थिति एवं नारी की मनःस्थिति को देखकर ही किया जा सकता है।

परिवारस्य कार्येषु नरः कुर्यात् सदैव च।
सहयोगं गृहिण्याः सा समयं येन चाप्नुयात्॥ ५१॥
व्यवस्था स्वच्छता हेतोः सज्जा हेतोश्च सद्मनः।
वार्तलापे कलानां च कौशलेऽथापि सा स्वयम्॥ ५२॥
समस्यानां समाधाने भूमिकां निर्वहेत्स्वकाम्।
अतिव्यस्तस्थितौ स्यान्न किमप्याचरितुं क्षमा ॥ ५३॥
कुटुंबदिनचर्याऽथ व्यवस्थाया विधिश्च सः।
परंपरा तथैवं स्याद् येन पाकविधावुत ॥ ५४॥
स्वच्छतायां न नष्टः स्यात्सर्वोऽस्याः समयो महान्।
ईदृशी सुविधा यत्र तत्रत्या गृहिणी नहि ॥ ५५॥
अनुभवत्यथ काठिन्यं विकासं योग्यतामपि।
सुसंस्कारानवाप्तुं यत् कुटुंबाय महत्त्वगम्॥ ५६॥
नार्याः श्रमस्य कर्तव्य उपयोगो विशेषतः।
युगं नवं ततो नारीप्रधानं भविता शुभम् ॥ ५७॥
सृजनस्य नवस्यास्यां क्षमता भावनात्मिका।
बाहुल्येनास्ति चागामिदिवसेषु भविष्यति॥ ५८॥
समाजो भावना मुख्यः स्तरस्याऽस्य विनिर्मितेः।
क्षमता मुख्यतो दत्ता स्त्रष्टा नार्यां न संशयः॥ ५९॥
निर्माणाय युगस्यापि नेतृत्वायस्त्रियस्ततः।
नः प्रमादो विलंबो वा कार्यो वर्चः परिष्कृतौ॥ ६०॥

टीका—घर परिवार के कार्यों में पुरुष नारी का हाथ बँटाए। उन्हें इतना अवकाश दें कि परिवार की व्यवस्था, स्वच्छता, सज्जा ठीक प्रकार रख सके। वार्तालाप कला-कौशल एवं समस्याओं के समाधान में अपनी भूमिका निभा सके। घोर व्यस्तता की स्थिति में तो वे कुछ भी न कर सकेगी। पारिवारिक दिनचर्या, विधि-व्यवस्था और परंपरा

ऐसी रहे, जिसमें उसे पाकशाला स्वच्छता में ही सारा समय न खपाना पड़े। ऐसी सुविधा जहाँ होती है, वहाँ नारी को सुविकसित, सुसंस्कृत एवं सुयोग्य बनने में विशेष कठिनाई नहीं रह जाती। यह पारिवारिक हित में बहुत महत्त्वपूर्ण है नारी-श्रम का अधिक महत्त्वपूर्ण उपयोग करने की आवश्यकता है। हे सज्जनो नवयुग नारी प्रधान होगा। नवसृजन की भावनात्मक क्षमता की उसी में बहुलता है। अगले दिनों भावना प्रधान समाज बनेगा। उस स्तर के निर्माण की क्षमता नारी में ही स्रष्टा ने प्रमुखतापूर्वक प्रदान की है, इसमें संदेह नहीं। युग का निर्माण और नेतृत्व करने के लिए उसका वर्चस्व करने में न विलंब किया जाए, न प्रमाद बरता जाए॥ ५१-६०॥

आज समाज में चलन यही है कि पत्नी को चारदीवारी में बंद रहकर घर की सुव्यवस्था बनानी चाहिए, एवं जहाँ तक संभव हो पुरुष, बालकों व अन्य पारिवारिक सदस्यों के विकास हेतु खपना चाहिए सदियों से वह यही करती आई है। पर्दाप्रथा जैसी कुरीतियों ने ऐसी त्रासदी और बढ़ाई है।

यह मानस समुदाय के हित में ही है कि पुरुष व स्त्री दोनों मिल-जुलकर परिवार रूपी रथ की गाड़ी खींचें। नारी को इतना समय मिलना चाहिए कि वह परिवार की सुसंस्कारिता, सुव्यवस्था बनाए रखने के अतिरिक्त स्वयं को सर्वांगीण पूर्ण प्रगति के लिए समय निकाल सके। यह कदम पुरुष समुदाय की ओर से ही उठना चाहिए, क्योंकि इसमें नारी के साथ-साथ उनका हित-साधन भी होता है विश्व संतुलन नारी के पक्ष में जा रहा है। अब कहीं-कहीं नारी जागृति के स्वर मुखरित होने लगे हैं। जहाँ अवसर मिला है, नारी स्वयं आगे आई है व परावलंबन की जंजीरें तोड़कर उसने प्रगतिशील भूमिका निभाई है।

यहाँ ऋषि कहते हैं कि आने वाला समय मूलत: भाव प्रधान होगा एवं इसका सुसंचालन नारी शक्ति करेगी। ऐसी स्थिति में यह न केवल सृष्टा की इच्छा के विपरीत है, अपितु एक तरह से मनुष्य की तुच्छता ही है कि वह नारी को विकास हेतु आगे बढ़ने देने का अवसर न दे। नया समाज लाने नव-निर्माण करने एवं मानव में देवत्व, धरती पर स्वर्ग जैसी परिस्थितियों को उतारने के लिए नारी की शक्ति को निखारना, उसे प्रखर बनाना समय की एक महती आवश्यकता है। अगले दिनों नारी द्वारा विश्व का नेतृत्व किए जाने की संभावना इसलिए अधिक है कि पददलित वर्ग को अगले दिनों अनीति मूलक प्रतिबंधों से छुटकारा पाने का अवसर मिलने ही वाला है। ऐसी दशा में वे अपने को सुविकसित एवं सुयोग्य बनाने का प्रयत्न करेंगी, फलस्वरूप प्रकृति का पूर्ण सहयोग भी उन्हें मिलेगा और विश्व के नव निर्माण में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका संपादित करेंगी।

योग्यदायित्वनिर्वाहे स्वस्थस्य वपुषस्तथा।
तुलिताया मनोभूमेरनुभूतेस्तथैव च ॥६१॥
अपेक्षा कौशलस्यास्ति तेन चावसरस्त्वयम्।
नार्या लभ्येत यत्नोऽत्र नूनं कर्तव्य इष्यते॥६२॥
सुविधाश्च समा एता संयुक्ताः स्युस्तदैव तु।
नारीं पुराणकालस्य स्तरं प्रापयितुं भवेत्॥६३॥
वातावृतिं समानेतुं कृतस्येव युगस्य तु।
उचितां भूमिकां वोढुं गृहिणी तून्नतस्तरा॥६४॥
विधेया यत्नतो नारी नरेणैव गतेषु तु।
दिनेष्वनीतियुक्तैश्च प्रतिबंधैः सुपीडिता॥६५॥
नीता दुर्गतिमद्यापि न सा तस्मादुदेत्यहो।
अर्द्धांगिनीदशाहेतोः संकटैर्नर आवृतः ॥६६॥
प्रायश्चित्तमिदं तस्योत्साहेन द्विगुणेन हि।
तस्या उत्थानकर्मैतद् विधेयं यत्नतो नरैः॥६७॥

टीका—महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्वों के निर्वाह में स्वस्थ शरीर, संतुलित मनोबल, अनुभव एवं कौशल अपेक्षित है। नारी को इस योग्य बनने का अवसर मिलना आवश्यक है। ये सभी सुविधाएँ जुटाने से ही नारी को प्राचीनकाल की तरह समुन्नत स्तर तक पहुँचाया जा सकेगा। सतयुग का वातावरण वापस लाने के लिए नारी को उपयुक्त भूमिका निभा सकने योग्य स्तर का बनाया जाना चाहिए। पिछले दिनों नारी को अनीति भरे प्रतिबंधों में जकड़कर नर ने ही उसे दुर्गतिग्रस्त किया है। इसी से आज भी वह उठ नहीं पा रही है तथा अर्द्धांगिनी की दुर्दशा से नर भी संकटों से घिरा है। उसका प्रायश्चित यही है कि दूने उत्साह से उसके उत्थान की व्यवस्था बनाई जाए॥ ६१-६७॥

नारी में समुचित आत्मबल है। फिर भी समाज रूपी रणक्षेत्र में ऊँचा उठने के लिए उसे कौशल अर्जन, स्वास्थ्य संवर्द्धन एवं पुरुष के सहयोग की आवश्यकता है। अभी तक तो उसे पराधीनता के पाश में ही जकड़ा जाता रहा है। फलश्रुतियाँ सामने हैं। मध्यकाल के अनीति व दमन से भरे समय में पुरुष समुदाय ने नारी-शक्ति का दोहन भी किया व उसे पददलित भी। उसे दंड स्वरूप अवगति के गर्त में जाना पड़ा है। नारी की दुर्दशा का अर्थ है, नर का संकटों से घिरना। अब यदि सत्प्रवृत्तियों से भरा नया समाज बनाना है, सतयुग लाना है, तो नारी के प्रसुप्त मनोबल को उभारना एवं उसे परिपूर्ण सहयोग देना ही पुरुषों का प्रायश्चित हो सकता है। नारी में शक्ति का अजस्त्र स्तोत्र छिपा है, उसे उजागर करने भर की आवश्यकता है। जब-जब भी अवसर आए उसने आगे बढ़कर मोरचा हाथ में लेकर, अपनी साहसिकता का परिचय दिया है।

अबलात्वाच्च नार्यास्तु नात्याचारस्तु कश्चन्।
कोमलांग्या भवेदित्थमेतदर्थं च निश्चितम्॥ ६८॥
समस्तस्य समाजस्य भाव उद्बुद्ध इष्यते।
अनीत्याश्रयिणो नैव नराः स्युर्दण्डवञ्चिताः॥ ६९॥
व्यवस्था चेदृशीकार्या मूर्द्धन्यैः पुरुषैः सदा।
सामाजिकं च दायित्वं तैरुह्यं स्वयमेव च॥ ७०॥

टीका—नारी की सहज दुर्बलता के कारण उस पर कहीं कोई अत्याचार न होने पाए, इसके लिए समस्त समाज की जागरूकता आवश्यक है। अनीति करने वाले दंड से बचने न पाएँ, ऐसी व्यवस्था, मूर्द्धन्यों को साहसपूर्वक बनानी चाहिए, व्यवस्था संबंधी सामाजिक दायित्व स्वयं ही उन्हें स्वीकार करने चाहिए॥ ६८-७०॥

नारी मनस्वी भी है, तेजस्वी भी, पर उसकी विशेषताएँ दबी रह जाती हैं। शरीर बल के नाते पुरुष जाति का उस पर आधिपत्य ही रहा। उसे अन्य वैभव संपत्ति की भाँति ही, एक आभूषण मानकर अधिकार जताने की विडंबना भर होती रही है। समाज के हर सदस्य को जागरूक विवेकशील बनकर अनीति के प्रतिकार का साहस जुटाना चाहिए। कहीं भी ऐसे अत्याचार होते दीखें, तो उनका विरोध बलपूर्वक कर समाज की सुव्यवस्था बिठाने का दायित्व मूर्द्धन्य नागरिकों का ही है। इसमें पुरुषों की तो प्रायश्चित कर्त्ता होने के नाते महत्त्वपूर्ण भूमिका है ही, जागृत नारी को भी अपना दायित्व निभाना चाहिए। जो अनीति करे, उन्हें किसी न किसी रूप में उसका प्रतीक रूप में दंड अवश्य मिले, ताकि आगे वे कभी ऐसा दुस्साहस न कर सकें।

संख्यार्द्धं दलितायां तु स्थितौ संप्रेष्यमानवान्।
सर्वानेव पराभूतेः पतनस्य स्थितौ स्थितान्॥ ७१॥
कृत्वाऽनर्थः कृतो यस्तु तमग्रे नाचरेदिह।
अर्द्धनारीश्वरा जातिर्मानवानां दलोपमा ॥ ७२॥
अधिकाराः समानास्ते दायित्वानि समानि च।
उभयोः शकटस्येव चक्रयोः सहगामिता॥ ७३॥
अपेक्ष्यते न कश्चिच्च बाधेतान्यं कदाचन।
कृताभिस्त्रुटिभिः शिक्षामधिगत्य झटित्यलम्॥ ७४॥
अनाचारस्य नाशस्तु भवितव्य इहाधुना ।
प्रतिभा परिचयं दातुं लभेतावसरं च सा ॥ ७५॥
संदर्भेऽस्मिन्नरस्यास्ति दायित्वमधिकं स्वयम्।
हानिं प्राप नरः स्वाभ्यस्त्रुटिभ्यो विपुलामपि॥ ७६॥
परिष्कारे त्रुटीनां च कुर्यात्तत्परतां ततः।
नर एव लभेतापि लाभ सोऽधिकमप्यतः॥ ७७॥

टीका—आधी जनसंख्या को पददलित स्थिति में धकेल कर समूचे मानव समुदाय को पतन-पराभव की स्थिति में रखने का अनर्थ अब आगे और न किया जाए। नर और नारी दोनों ही बीज के दो दलों के समान मनुष्य जाति के अविच्छिन्न अंग हैं। दोनों के अधिकार और उत्तरदायित्व समान हैं। दोनों के मध्य गाड़ी के पहियों का सा सहयोग होना चाहिए। कोई किसी पर हावी होने का प्रयत्न न करे। पिछली भूलों से शिक्षा लेकर इस संदर्भ में चलते रहे अनाचार का अब अंत होना चाहिए। उसे अपनी प्रतिभा का परिचय देने के लिए कार्यक्षेत्र में उतरने का अवसर मिलना चाहिए। इस संदर्भ में नर का उत्तरदायित्व विशेष है। की गई भूलों से हानि भी उसी को उठानी पड़ी है। सुधारने में पुरुष को ही अधिक तत्परता बरतनी चाहिए। लाभ भी अपेक्षाकृत उसी को अधिक मिलेगा॥ ७१-७७॥

संसार के सभी क्षेत्रों में नारी पीड़ित और पददलित रही है। इसका प्रमुख कारण नारी संबंधी अतिवाद का एक सिरा यह है कि कामिनी, रमणी, वैश्या आदि बनाकर उसे आकर्षण का केंद्र बनाया गया। अतिवाद का दूसरा सिरा है, उसे परदे, घूँघट की कठोर जंजीरों में जकड़कर अपंग सदृश बना दिया गया। उस पर इतने प्रतिबंध लगाए गए, जितने बंदी और पशु भी सहन नहीं कर सकते। जेल के कैदियों को थोड़ा घूमने-फिरने की, हँसने-बोलने की आजादी रहती है। पर घर की छोटी-सी कोठरी में कैद नववधू के लिए परिवार के छोटी आयु वालों के सामने ही बोलने की छूट है। बड़ी आयु वालों से तो उसे परदा ही करना होता है। न उनके सामने मुँह खोला जा सकता है और न उनसे बात की जा सकती है। परदा सो परदा-प्रथा प्रतिबंध सो प्रतिबंध इसमें न्याय, औचित्य और विवेक के लिए क्यों गुंजाइश छोड़ी जाए? पशु को मुँह पर नकाब लगाकर नहीं रहना पड़ता। वे दूसरों के चेहरे देख सकते हैं। और अपने दिखा सकते हैं। जब मरजी हो, चाहे जिसके सामने अपनी टूटी-फूटी वाणी बोल सकते हैं। पर नारी को इतने अधिकार से भी वंचित कर दिया गया। इस अमानवीय प्रतिबंध की प्रतिक्रिया बुरी हुई। नारी शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से बहुत पिछड़ गई। भारत में नर की अपेक्षा नारी की मृत्यु दर बहुत अधिक है। मानसिक दृष्टि से वह आत्महीनता की ग्रंथियों में जकड़ी पड़ी है। सहमी, झिझकी, डरी, घबराई, दीन-हीन अपराधिन की तरह वह यहाँ-वहाँ लुकती-छिपती देखी जा सकती है। अन्याय-अत्याचार और अपमान पग-पग पर सहते-सहते क्रमशः अपनी सभी मौलिक विशेषताएँ खोती चली गई। आज औसत नारी उस नीबू की तरह है, जिसका रस निचोड़कर उसे कूड़े में फेंक दिया जाता है।

पुरुष-स्त्री वस्तुतः समान हैं, एक ही रथ के दो पहिए हैं। न कोई बड़ा है, न छोटा। जब तक यह मान्यता गृहस्थाश्रम एवं समाज व्यवस्था में विकसित परिपक्व नहीं होगी, नारी

पददलित ही बनी रहेगी।

सर्वसाधारण को इस तथ्य से परिचित कराया जाना चाहिए कि नर-नारी का सघन सहयोग यदि पवित्र पृष्ठभूमि पर विकसित किया जाए, तो उससे किसी को कुछ भी हानि नहीं है, वरन् सबका सब प्रकार लाभ ही होगा। नारी कोई बिजली या आग नहीं है, जिसे छूते ही या देखते ही कोई अनर्थ हो जाए। उसे अलग-अलग रखने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है।

इसी प्रकार तथाकथित संत-महात्माओं को कहा जाना चाहिए कि वे अपने मन की संकीर्णता, क्षुद्रता और कलुषत से डरें। उसे ही भवबंधन मानें। नरक की खान वही है। नारी को उस लांछना से लांछित कर उस मानव जाति की भर्त्सना न करें, जिसके पेट से वे स्वयं पैदा हुए हैं, और जिसका दूध पीकर इतने बड़े हुए हैं। अच्छा हो हमारी जीभ पुत्री को न कोसे, भगिनी को लांछित न करे, नारी नरक की खान हो सकती है, यह कुकल्पना अध्यात्म के किसी आदर्श या सिद्धांत से तालमेल नहीं खाती। यदि बात ऐसी ही होती, तो अपने इष्टदेव राम, कृष्ण, शिव आदि नारी को पास न आने देते। ऋषि आश्रमों में ऋषिकाएँ न रहतीं। सरस्वती, काली, लक्ष्मी आदि देवियों का मुख देखने से पाप लग गया होता। निरर्थक की डीगें न हाँकें, तो अच्छा ही है। अंतरात्मा, प्रज्ञा, भक्ति, साधना, मुक्ति, सिद्धि यह सभी स्त्रीलिंग हैं। यदि नारी नरक की खान है, तो इन स्त्रीलिंग शब्दों के साथ जुड़ी हुई विभूतियों को भी बहिष्कृत किया जाना चाहिए। अच्छा हो अध्यात्मवाद के नाम पर भौंड़ा भ्रम जंजाल अपने और दूसरों को दिग्भ्रांत करने की अपेक्षा उसे समेटकर अजायबघर की कोठरी में बंद कर दिया जाए।

न्याय, औचित्य और स्वतंत्रता का समर्थन करने वाले, मानवी आदर्श को मान्यता देने वाले, उदात्त मनस्वी लोगों को इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि नारी घर के उत्तरदायित्व तो सँभाले, पर उतने ही क्षेत्र में कैद न रहे। उसके ऊपर लगा परदा प्रतिबंध शिथिल होना चाहिए और विश्वसनीय माना जाना चाहिए। शिक्षित होने, अनुभव बढ़ाने, समाज का स्वरूप समझने, लोकमंगल के प्रयोजनों में भाग लेने का पूर्ण अवसर नारी को दिया जाना चाहिए। इससे मानव जाति की आधी शक्ति मूर्च्छित आत्मा को जगाने का पथ-प्रशस्त होगा और समूची मानव जाति को इस प्रगतिशील कदम का लाभ मिलेगा।

उपदेशेन चानेन तत्रस्थानामभूत्स्वतः ।
नारीणां स्वगरिम्णस्तु बोधो विस्मयकारकः ॥ ७८ ॥
संकल्पश्च नवस्तेन तासां प्रादुरभूद् हृदि।
कर्तुं नव्यं च निर्माणं स्वस्तरस्य तथैव च॥ ७९ ॥
कर्तृत्वस्योत्थितेश्चापि सोत्साहं सहसाऽद्भुतम्।
उपेक्षकाश्च नारीणामन्वभूवंस्त्रुटीर्निजाः ॥ ८० ॥
व्यवहारं निजं तेऽपि भविष्यत्समये समे।
निरचिन्वन् विधातुं तु परिवर्तितमाशु च ॥ ८१ ॥

टीका—इस प्रवचन से उपस्थित नारियों को अपनी गरिमा का विस्मयकारी बोध हुआ। अपने स्तर, उत्थान एवं कर्तृत्व का अभिनव निर्माण करने के लिए मन में नया संकल्प उभरा। जो नारी के प्रति उपेक्षा बरतते थे, उन्हें अपनी भूल का अनुभव हुआ। भविष्य में उनने भी अपना व्यवहार बदलने का निश्चय किया॥ ७८-८१ ॥

अपनी विस्मृत गरिमा का बोध होना भी एक विलक्षण योग है। उपस्थित नर-नारी समुदाय ने अपनी-अपनी कमजोरियों को भी जाना एवं अंदर छिपी महानता को भी पहचाना। कथोपदेश सुनकर ही अंदर से स्वयं को बदलने की इच्छा उमगती है। नारी समुदाय में आत्मोत्थान के प्रति सजा मानसिकता का उदय निश्चित ही एक शुभ लक्षण है।

सत्रमद्यतनं दिव्यं समाप्तं च यथाविधि ।
दृष्ट्वा सूर्यास्तवेलां च नित्यकर्मविधित्सया॥ ८२ ॥
ययुः सर्वे निवासान् स्वान् प्रस्फुरद्दिव्यचिंतनाः।
अर्द्धनारीश्वरं रूपं विजानंतो शिवस्य तत्॥ ८३ ॥
सत्यं यच्च शिवं नृणां सुन्दरं स्वर्गदं भुवि।
प्रज्ञायुगस्य दृश्यं तत् क्षणं बुद्धौ विदिद्युते॥ ८४ ॥

टीका—आज का सत्र भी यथाविधि संपन्न हुआ। सूर्यास्त की वेला देखकर सभी अपने निवास स्थलों पर नित्यकर्म के लिए चले गए। उनके चिंतन में दिव्यस्फुरण हो रहा था। शिवजी का अर्द्धनारीश्वर रूप मानव विज्ञान के रूप में उन्हें दीखा, जो सत्यं-शिवं-सुंदरम् का प्रतिबिंब था। भावी प्रज्ञायुग की एक झलक-सी उनके मस्तिष्क में कौंध गई॥ ८२-८४ ॥

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,
श्री धौम्य ऋषि प्रतिपादिते नारी माहात्म्य इति प्रकरणो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥

॥ अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥

शिशु-निर्माण प्रकरण

दिवसोऽद्य चतुर्थस्तु धर्मसत्रस्य तस्य च।
अभूद् गृहस्थजस्याशु यत्र धर्मात्मसु शुभा ॥ १ ॥
नृषु कुंभागतेष्वेषा चर्चा प्रचलिताऽभितः ।
ऋषिर्धौम्यः करोत्यत्र सत्संगमुपयोगिनम् ॥ २ ॥
श्रुतं येनैव सोत्साहः स नरोभूद् विहाय च।
कर्माण्यन्यानि सत्संगे समयात्पूर्वमाययौ ॥ ३ ॥
आगंतॄणां तमुत्साहं दृष्ट्वा चैव प्रतीयते।
विस्मृतं ते गृहस्थस्य ज्ञातुं गौरवमुत्तमम् ॥ ४ ॥
अभूवन् सकला येन दायित्वानां स्वकर्मणाम्।
नवीनमिव संज्ञानं तेषां तत्रोदगान्नृणाम्॥ ५ ॥
श्रवणानंतरं तत्र संदर्भे ते परिष्कृतिम् ।
परिवर्तनमानेतुमदृश्यंतसमुत्सुकाः ॥ ६ ॥
तेषामाकृतिगण्याश्च भावा एवं समुद्गताः।
अभूत्प्रवचनस्याद्य विषयः शिशुनिर्मितिः ॥ ७ ॥

टीका—आज गृहस्थ सत्र का चौथा दिन था। कुंभ पर्व में आए धर्मप्रेमियों में यह चर्चा फैली कि ऐसा उपयोगी सत्संग धौम्य ऋषि चला रहे हैं। जिसने सुना उसी का उत्साह उभरा और सब काम छोड़कर उस पुण्य प्रयोजन में सम्मिलित होने के लिए समय से पूर्व ही जा पहुँचे। आगंतुकों के उत्साह को देखते हुए प्रतीत होता था कि वे भूली हुई गृहस्थ गरिमा को समझने में बहुत हद तक सफल हुए हैं। उन्हें अपने कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व का नए सिरे से भान हुआ है। सुनने के उपरांत वे उस संदर्भ में सुधार, परिवर्तन के लिए उत्सुक दृष्टिगोचर होते थे। यह विचार भाव उनके चेहरे से टपके पड़ रहे थे। आज के प्रवचन का विषय था शिशु निर्माण॥ १-७ ॥

धौम्य उवाच

महर्षिर्धौम्य आहाग्रे प्रसंगं स्वं विवर्द्धयन्।
तत्र संबोध्यतान् सर्वान् सद्गृहस्थांस्तु पूर्ववत्॥ ८ ॥
बालो योऽद्यतनः सः वै भविता राष्ट्रनायकः।
समाजग्रामणीर्वृक्षा भवंत्येव यथाक्षुपाः ॥ ९ ॥
कुशला अतएवात्र मालाकारा विशेषतः।
क्षुपाणां रक्षणे ध्यानं ददत्यावश्यके विधौ॥ १० ॥
गोमयादेर्जलस्यापि न्यूनता न भवेदपि।
वन्याः पशवा एतान् न नाशयेयुरितीव ते॥ ११ ॥
सावधाना भवंत्येव कस्मिन् क्षेत्रे च संभवा।
क्षुपाणां क्रियतां वृद्धिः संकुलत्वं न तन्वते॥ १२ ॥
गृहस्थैश्चेतनैर्भाव्यं मालाकारैरिव स्वयम्।
गृहोद्यानस्य रम्यास्ते क्षुपा बोध्याश्च बालकाः ॥ १३ ॥

टीका—महर्षि धौम्य ने अपने प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए उपस्थित सद्गृहस्थों को संबोधित करते हुए कहा, आज का बालक कल समाज संचालक और राष्ट्रनायक बनता है। छोटे पौधे ही विशाल वृक्ष बनते हैं। अतएव कुशल माली छोटे पौधों की आवश्यकता एवं सुरक्षा पर पूरा-पूरा ध्यान देते हैं। उन्हें खाद-पानी की कमी नहीं पड़ने देते। वन्य पशु उन्हें नष्ट न कर डालें, इसका समुचित ध्यान रखते हैं। किस खेत में कितने पौधों के बढ़ने की गुंजाइश है इस बात का ध्यान रखते हुए घिच-पिच नहीं होने देते। गृहस्थों को जागरूक माली की तरह होना चाहिए तथा गृह उद्यान के सुरम्य पौधे बालकों को समझना चाहिए॥ ८-१३ ॥

परिवार एक फुलवारी के समान है, जिसमें बालकों के रूप में पुष्प विकसित होते एवं अपनी सुरभि से सारे वातावरण को आह्लादयुक्त बना देते हैं। जैसा कि पूर्व प्रकरणों में चर्चा की जा चुकी है, परिवार समाज की एक छोटी इकाई है। राष्ट्र के भावी नागरिक, परिवार रूपी खदान से ही निकलते हैं एवं अपनी प्रतिभा द्वारा सारे समुदाय के उत्थान में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। बच्चे छोटी पौध के समान हैं, एवं माता-पिता की भूमिका एक माली की होती है। पौधे को वृक्ष का रूप लेने से पूर्व काफी उपचारों से गुजरना पड़ता है। यह कार्य कुशल माली द्वारा ही संभव हो पाता है। निराई-गुड़ाई, काँट-छाँट, वर्षा-पानी एवं सघनता से बचाव इत्यादि के माध्यम से ही नर्सरी की पौध एक वृक्ष का रूप लेती है। परिवार रूपी पौध में माता-पिता को ही सारा ध्यान रखना होता है कि बालकों के समुचित विकास में उनका योगदान हो पा रहा है या नहीं। थोड़ी सी भी असावधानी अनेकानेक समस्याओं को जन्म दे सकती है। बालक की अपरिपक्व स्थिति से परिपक्व स्थिति में विकास होते समय यदि कोई त्रुटि रह जाती है, तो उसका सारा दोष परिवार रूपी धुरी के दो महत्त्वपूर्ण अंग माता-पिता पर ही जाता है। इसीलिए बालकों को जन्म देने से भी अधिक जागरूक बने रहकर उनके विकास को समुचित महत्त्व देने वाले अभिभावकों की महत्ता बताई जाती रही है एवं ऐसे आदर्श माता-पिता के नाम इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे जाते रहे हैं।

भारतीय माताएँ सुसंतानों के निर्माण में तथा देश को अमूल्य नवरत्न प्रदान करने में हमेशा बेजोड़ रही हैं।

कुशरीरमृता ये तु मनोरोगाभिबाधिताः।
दुःस्वभावा दुराचारा वर्द्धयेयुर्न संततिम्॥ १४ ॥
भारायिताः समाजाय तेषां संततिरंततः।

संततौ हि सुयोग्यायां पितृसद्गतिरिष्यते॥ १५॥
हीना चेत्संततिस्तस्या जन्मदातृनृणां ततः।
इहलोके परत्रापि दुर्गतिर्निश्चिताऽभितः॥ १६॥

टीका—शारीरिक, मानसिक और स्वभाव चरित्र की दृष्टि से जो लोग पिछड़ी स्थिति में हों, वे बच्चे उत्पन्न न करें। समाज का भार न बढ़ाएँ यही उपयुक्त है। संतान के सुयोग्य होने पर पितर सद्गति प्राप्त करते हैं, किंतु हेय स्तर के होने पर जन्मदाताओं को इस लोक में तथा परलोक में दुर्गति का भाजन भी बनना पड़ता है॥ १४-१६॥

सृष्टा ने विवाह की व्यवस्था इंद्रिय लिप्सा की पूर्ति और भोग विलास के लिए नहीं वरन् सृष्टि संचालन के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन राष्ट्र की संपत्ति, श्रेष्ठ नागरिकों को जन्म देने के लिए नियमित जीवन जीने के लिए की है। विवाह एक संकल्प है, जो राष्ट्र के भावी बल, सत्ता और सम्मान को जाग्रत् रखने के लिए किया जाता है।

शास्त्रकार का कथन है—

तावेहि विवहावहै सह रेती दधावहै।
प्रजां प्रजनतावहै पुत्रान् विंदावहै बहून्॥

अर्थात्, विवाह का उद्देश्य परस्पर प्रीतियुक्त रहकर राष्ट्र को सुसंतति देना है।

शारीरिक, मानसिक और स्वभाव चरित्र की दृष्टि से स्वस्थ, समुन्नत और सुयोग्य व्यक्ति को ही विवाह करना चाहिए न कि दुष्ट, पतित, दुराचारी और पिछड़ी शारीरिक, मानसिक स्थिति के व्यक्ति को।

ऋग्वेद का स्पष्ट आदेश है

तमस्मेरा युवतयो युवानं मर्मृज्यमानाः परियंत्यापः।
स शुक्रेभिः शिक्वभीरेवदस्मे
दीदायानिध्मोघृत निर्णिगप्सु॥

–ऋग्वेद २/३५/४

अर्थात् जिनके हृदय शुद्ध, निर्मल और पवित्र हों, तथा जिनकी आयु इस हेतु पूर्ण हो चुकी हो, कि युवक और युवती परस्पर पाणिग्रहण करें। वे शक्ति संपन्न जन विवाह करके परिवार को सतेज बनाएँ।

समाज को सुयोग्य नागरिक देने के लिए ही प्रजनन किया जाए, न कि कीड़े-मकोड़ों की तरह अयोग्य और प्रतिभाहीन बच्चों को जन्म दिया जाए। वंश वृद्धि का अर्थ है समाज को राष्ट्र को सुयोग्य नागरिक प्रदान करना।

मरणोत्तर जीवन एवं पितर योनि का अस्तित्त्व जितना सत्य एवं महत्त्वपूर्ण है, उतना ही सत्य यह भी है कि योग्य संतान के श्रेष्ठ कर्मों से ही पितरों, अभिभावकों को वांछित योनि एवं सुख मिलता है।

कर्मभिः सद्भिरेवैतत्कुलं संशोभते नृणाम्।
संततेः संस्कृताया हि हस्तदत्तैः प्रियैरलम्॥ १७॥
पिंडैः पितर आयांति सुखं संतोषमेव च।
कुपात्राणां ध्रुवं यांति नरकं पितरः सदा॥ १८॥
उत्पाद्या तावती मर्त्यैः संततिः संभवेदपि।
स्नेहरक्षा विकासादि यावत्याः सुव्यवस्थितम्॥ १९॥
विना विचारं दायित्वं संततीनां च गृह्यते।
यदि दुःखं तदा यांति संततीनां दुःखयंति च॥ २०॥

टीका—जन सामान्य में एक रूढ़िवादी मान्यता यह है कि वंश परंपरा का निर्वाह संतान के माध्यम से ही संभव है। जब कि यह नितांत भ्रांत चिंतन है। संतान यदि गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से निकृष्ट हुई तो वंश को डुबाती, घर परिवार को दुर्गति के गर्त में डालती भी है।

शास्त्रों में यह नहीं कहा गया है कि वंशवृद्धि से ही सद्गति मिलती है, निस्संतान व्यक्ति को सद्गति मिलती है, सद्गति तो मिलती है, व्यक्ति को अपने सत्कर्मों से। मनुस्मृति का यह श्लोक द्रष्टव्य है।

अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम्।
दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसंततिम्॥

–अ० ५ श्लोक १५९

अर्थात् कइयों हजार कुमार, ब्रह्मचारी ब्राह्मणों ने बिना संतान उत्पन्न किए ही अपने उच्च विचारों, सत्कार्यों और सेवा व्रतों द्वारा स्वर्ग लोक को प्राप्त किया है।

संतान न होते हुए भी कितने ही लोगों का यश उज्जवल और धवल है। कृष्ण को सभी जानते हैं, पर उनकी संतानों के नाम भी शायद ही किसी को मालूम हों। राम के बाद लवकुश को छोड़कर उनकी अगली पीढ़ी के नाम शायद किसी को ज्ञात हों। महावीर तो वीतराग और गृहत्यागी तपस्वी थे, उनका यश आज भी बढ़ रहा है। बुद्ध को राहुल से अधिक लोग जानते हैं। ईसा, शंकराचार्य, रामानंद, तुलसीदास, सूरदास, मीरा, कबीर, ज्ञानेश्वर, रैदास, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, महर्षि रमण, रामतीर्थ, अरविंद, राजा महेंद्र प्रताप आदि कितने ही महात्मा महापुरुष थे, जो या तो अविवाहित रहे अथवा गृहस्थ भी रहे, तो उनकी कीर्ति संतान से नहीं उनके अपने सत्कार्यों से ही अमर हुई। अतः व्यक्ति का नाम और यश संतान से नहीं, उसके सद्गुणों और सत्कर्मों से बढ़ता और अमर होता है। संतान यदि निकृष्ट स्तर की हो तो जन्म देने वाले माता-पिता एवं पूर्वज सभी इसका फल भोगते एवं मरणोत्तर जीवन में त्रास पाते हैं।

महर्षि धौम्य उपस्थित जन समुदाय को समझाते हैं कि माता-पिता संतान अपनी ही उत्पन्न करें, जितनों के प्रति समुचित जिम्मेदारी का निर्वाह कर सकें, अन्यथा संतानों की संख्या ज्यादा बढ़ा लेने और उचित उत्तरदायित्व का निर्वाह न

कर पाने के कारण संतान ऐसी निकलेगी, जो कुल को कलंकित करेगी और समाज पर अनावश्यक भार बनेगी।

ऋग्वेद में स्पष्टतः कहा गया है।

बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश।

—ऋग्वेद १/६४/३२

अर्थात् अधिक संतानें सदा कष्ट का कारण बनती हैं। इतना ही नहीं अवांछनीय प्रजनन कितने संकट उत्पन्न करता है, इसे गंभीरता से समझने का प्रयत्न करने पर लगता है मरणं विंदुपातेन की उक्ति अक्षरशः सही है। विशेष प्रकार की बिच्छू मादा और एक खास किस्म की मकड़ी प्रजनन के साथ ही मृत्यु के मुख में चली जाती हैं। मनुष्य को वैसा तो नहीं करना पड़ता, पर त्रास लगभग उतना ही मिलता है।

क्लिन्नमृत्स्नेव बालास्तु भवंत्येव च तान् समान्।
परिष्कृतान् कुटुंबस्य वृतौ कर्तुमिहेष्यते॥ २१॥
एतेषां स्नेहिनामत्र समाह्वाच्य नरः स्वयम्।
पूर्वमेवोपयुक्ताश्च स्थितिरुत्पादयेच्छुभाः ॥ २२॥
पित्रोः शारीरिकं स्वास्थ्यं विकासो मानसस्तथा।
अर्थप्रबंध एतादृग् भवेद् येन नवागतः॥ २३॥
उपयुक्तां स्थितिं नित्यं लभते यदि कश्चन।
पित्रो रोगी भवेत्तर्हि संततिः साऽपि जन्मनः॥ २४॥
अनुन्नतोऽसंस्कृतश्च जन्मदातृस्तरो यदि।
बालास्तथैव मूढाश्च दुश्चरित्रा भवंत्यपि ॥ २५॥
अर्थस्थितावयोग्यायामभावग्रस्ततां समे।
बालका यांति तिष्ठंति तेऽविकासस्थितौ समे॥ २६॥

टीका—बालक गीली मिट्टी के समान है। उन्हें परिवार के वातावरण में ढाला जाता है। इन सम्मानित अभ्यागतों को बुलाने से पूर्व उनके लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ उत्पन्न कर लेनी चाहिए। माता-पिता का शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक विकास, अर्थ-प्रबंध ऐसा होना चाहिए, जिससे नवागत को आरंभ से ही उपयुक्तता उपलब्ध हो सके। माता-पिता में से कोई भी रोगी होने पर संतान जन्मजात रूप से रोगी उत्पन्न होती है। जन्मदाताओं का बौद्धिक स्तर गया गुजरा हो, स्वभाव अनगढ़ हो तो बच्चे भी वैसे ही मूढमति उत्पन्न होंगे और आगे चलकर दुश्चरित्र बनेंगे। अर्थ व्यवस्था ठीक न होने की स्थिति में बालकों को अभावग्रस्त रहना पड़ता है और वे अविकसित स्तर के रह जाते हैं॥ २१-२६॥

पारिवारिक वातावरण की शिशुओं के निर्माण में बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। जिस प्रकार कुम्हार चाक से देता है, ठीक उसी प्रकार माता एवं पिता अभ्यागत संतान को गुण, कर्म, स्वभावी रूपी संपदा के माध्यम से संस्कार देने में सक्षम हैं। यह उन पर निर्भर करता है कि वे इस कार्य में कितने सजग एवं समर्थ हैं। शास्त्रों में इसीलिए विवाह एवं प्रजनन संबंधी आयु मर्यादा के साथ-साथ पति-पत्नी की मनःस्थिति परिवार रूपी परिस्थिति को अनुकूल बनाने के प्रसंग सुप्रजनन के संदर्भ में आते हैं।

पहले माता-पिता का स्तर ऊँचा होना, चिंतन परिष्कृत होना एवं शरीर का स्वस्थ होना जरूरी है। ऐसा न होने पर जैसे अनगढ़, चरित्रहीन अभिभावक होंगे, वैसा ही संतति जन्मेगी। स्वावलंबन द्वारा आजीविका उपार्जन की जब तक व्यवस्था न हो, तब तक संतान को निमंत्रण न दिया जाए। निर्धनता कोई अभिशाप नहीं, पर अर्थव्यवस्था ऐसी तो हो कि आगंतुक अतिथि का भार वहन किया जा सके।

गृहस्थजीवनैर्मत्यैरुपस्थाप्या निजाः शुभाः।
आदर्शां अथ सौजन्ये संस्कार्यं च कुटुंबकम्॥ २७॥
अभ्यासः सत्प्रवृत्तीनां कर्तव्यः सततं तथा।
स्नेहो देयश्च कर्त्तव्यः हार्दिकी ममताऽपि च॥ २८॥
अवाञ्छनीयतोत्पत्तेः सतर्कैः स्थेयमप्यलम्।
भ्रष्टं चिंतनमप्येतद्दुराचरणमप्यथ ॥ २९॥
उच्छृङ्खला व्यवहृतिः सद्गुणानां तु तस्कराः।
विचार्येदं निरोद्धयाः स्वक्षेत्रे प्रहरिणेव च॥ ३०॥
प्रांगणे विषवृक्षश्चानौचित्यस्य कदाचन।
नैवोद्भवेदिदं सर्वैगौरवं चाभिमन्यताम् ॥ ३१॥
सद्गृहस्थाश्च धन्यास्ते सर्वतो गौरवान्विताः।
परिवारं निजं ते तु सुखिनं च समुन्नतम्॥ ३२॥
सुसंस्कृतं विनिर्मान्ति श्रेयो लाभं प्रयांति च।
भविष्यदुज्जवलं तेषां संततेरपि स्वस्य च॥ ३३॥

टीका—गृहस्थ जीवन जीने वालों को अपना आदर्श उपस्थित करके समूचे परिकर को सज्जनता के ढाँचे में ढालना चाहिए और सत्प्रवृत्तियों का सतत् अभ्यास करना चाहिए। स्नेह दिया जाए और दुलार किया जाए किंतु साथ ही अवांछनीयताओं से सतर्क भी रहा जाए। भ्रष्ट चिंतन, दुष्ट आचरण और उच्छृंखल व्यवहार को चोर तस्कर मानकर सावधान प्रहरी की तरह, उन्हें अपने क्षेत्र में प्रवेश करने से रोकना चाहिए। अनौचित्य का विष-वृक्ष अपने आँगन में न उगने देने में ही गौरव है। ऐसे गौरवशाली सद्गृहस्थ हर दृष्टि से धन्य बनते हैं। अपने परिवार को सुखी, समुन्नत और सुसंस्कृत बनाकर श्रेय लाभ प्राप्त करते हैं, उनकी संतति का भविष्य तथा अपना भविष्य भी उज्ज्वल बन जाता है॥ २७-३३॥

परिवार में जैसा वातावरण होता है, जैसी प्रवृत्तियाँ पनपती हैं, बच्चे सहज ही उनका अनुकरण करते हैं। यह मानवी स्वभाव की एक जन्मजात विशेषता है कि बड़े जैसा करते हैं, छोटे उनके अनुरूप ही बनते चले जाते हैं। समाज रूपी विराट् परिवार में भी जैसा प्रचलन होता है, जनमानस सहज

ही उसके अनुरूप ढलता जाता है। जब परिवार में बड़े अपनाते, जीवन में उतारते हैं, तो बालकों में वे विशेषताएँ सहज ही विकसित होने लगती हैं। मनुष्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपनी गरिमा के अनुकूल आचरण कर अपने आदर्शों से दूसरों को शिक्षण दे। अभिभावकों को अपनी निज की बड़ी जिम्मेदारियों से भरी भूमिका गृहस्थ जीवन में होती है। यह उन्हीं का कर्त्तव्य है कि वे छोटे बच्चों के मानस में दुष्प्रवृत्तियों के प्रवेश को रोकने हेतु सतत् सतर्क रहें, एक पहरेदार की भूमिका निबाहें। उनसे यह अपेक्षा की जाती है कि वे बच्चों को प्यार भरा शिक्षण देंगे, उन्हें स्नेह का अभाव अनुभव नहीं होने देंगे, किंतु साथ ही इतना अनुशासित भी रखेंगे कि वे इस दुलार का दुरूपयोग न करने लगें अथवा इसकी आड़ में अपना भविष्य नष्ट करने वाली निकृष्ट आदतें न अपनाने लगें। स्वयं अपना जीवन सुसंस्कृत, सुव्यवस्थित बना लेना ही काफी नहीं होता। अपनी संतानों, परिवारीजनों में संस्कारों का पोषण देने हेतु कितना पुरुषार्थ किया गया, इससे ही जीवन की सार्थकता आँकी जाती है। ऐसे गृहस्थों की ही गरिमा श्लाध्य है, इन्हीं का जीवन धन्य है।

समत्वेन च मान्यास्तु कन्याः पुत्राश्च मानवैः।
तयोर्भेदो न कर्त्तव्यो मान्या श्रेष्ठा च कन्यका॥ ३४॥
सा हि श्रेयस्करी नृणामुभयोर्वंशयोर्यतः ।
जानक्या जनकः ख्यातः कुपुत्रैर्नहि रावणः॥ ३५॥
अनुभवंति स्वतो डिंभा गर्भेमातुरलं समैः।
गर्भिण्या मानसं स्वास्थ्यं शारीरं शोभनस्थितौ॥ ३६॥
यथा स्याच्च तथा कार्यं विहाराहारयोरपि।
सात्विकत्वं भवेद् बालवृद्धिबाधा न संभवेत्॥ ३७॥
वातावृतिः कुटुंबस्य सदा स्यादीदृशी शुभा।
कुसंस्कारा न बालेषु भवेयुरुदिता क्वचित् ॥ ३८॥
अभिभावकसंज्ञेभ्यो भिन्नैरपि जनैर्नहि।
व्यवहार्यं तथा येन दूषिता स्याच्छिशुस्थितिः॥ ३९॥
चिन्तनं ते चरित्रं च यथा पश्यंति सद्मनि।
कुटुंबे वा तथा तेषां स्वभावो भवति स्वतः॥ ४०॥
भविष्यच्चिंतया ताँश्च शोभनायां निवासयेत्।
वातावृतौ शिशूं स्तेषां व्यक्तित्वस्यपरिष्कृतिः ॥ ४१॥
प्रारंभिकेषु वर्षेषु दशस्वेव मता शुभा।
अस्मिन् काले कुटुम्बं च सतर्कं सततं भवेत्॥ ४२॥
उपयुक्ताः निजाः सर्वैः परिवारगतैर्नरैः।
उपस्थाप्याः शुभादर्शास्तेषामग्रे निरंतरम्॥ ४३॥

टीका—कन्या और पुत्र को समान माना जाए। उनके बीच भेदभाव न किया जाए। पुत्र से भी अधिक कन्या को श्रेष्ठ और श्रेयस्कर माना जाना चाहिए, चूँकि वह पिता और श्वसुर दो वंशों के कल्याण से संबद्ध है। जनक ने कन्या से ही श्रेय पाया और रावण के अनेक पुत्र उसके लिए अपयश का कारण बने। बच्चे गर्भ में रहकर माता से बहुत कुछ प्राप्त कर लेते हैं। इसलिए गर्भिणी के शारीरिक-मानसिक स्वास्थ्य को सही रखा जाए, उसके आहार-विहार में ऐसी सात्विकता रखी जाए जो शिशु के विकास में व्यवधान उत्पन्न न करे। परिवार का वातावरण ऐसा रहे, जिसका बालकों पर कुसंस्कारी प्रभाव न पड़े। अभिभावकों के अतिरिक्त घर के अन्य सदस्य भी बालक के सम्मुख ऐसा व्यवहार प्रस्तुत करें, जिससे कोमल मन पर बुरी छाप न पड़े। चिंतन और चरित्र जैसा भी घर-परिवार में वे देखते हैं, वैसे ही ढलने लगते हैं। बच्चों के भविष्य का ध्यान रखते हुए उन्हें सुसंस्कारी वातावरण में ही पाला जाए। व्यक्तित्व के परिष्कार की ठीक अवधि आरंभ के दस वर्षों में मानी गई है। इस अवधि में समूचे परिवार को सतर्कता बरतनी चाहिए और अपने उपयुक्त उदाहरण सदा उसके सम्मुख प्रस्तुत करने चाहिए॥ ३४-४३॥

जैसी भ्रांति जन सामान्य में संतान से वंश चलने की है, लगभग वैसी ही कन्या व पुत्र में अंतर मानने की भी है। सामान्यतया हर अभिभावक को पुत्र की ही आकांक्षा होती है, जबकि नर व नारी दोनों में कोई भेद नहीं है। इसके विपरीत नारी को तो संस्कारों की खदान बताया गया है, शक्ति रूपा माना गया है। वह सृजन की देवी है। किंतु सामाजिक प्रचलन, मूढ़ताएँ, जन्म होने के बाद से ही विवाह में धन व्यय होने की चिंता सदैव पुत्र के जन्म होने की मनौती ही मनवाती रहती है। अनेकों ऐसे उदाहरण हैं, जहाँ पुत्रों ने अपने दुष्कर्मों से वंश को डुबोया एवं पुत्रियाँ अपने श्रेष्ठ कार्यों से अभिभावकों एवं समुदाय के लिए श्रेयाधिकारी बनीं। पुत्र व पुत्री में कन्या की महत्ता कितनी है। इस संबंध में एक आप्त वचन है दसपुत्रसमा कन्या, या स्यात् शीलवती सुता। जिस समाज में कन्या को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है, वह निश्चित ही ऊँचा उठता है। वह अपने पिता का ही नहीं, जिस घर में विवाहित होकर जाती है, उसका भी कल्याण करती है।

महर्षि दयानंद ने कहा है भारतवर्ष का धर्म, उसके पुत्रों से नहीं सुपुत्रियों के प्रताप से ही स्थिर है। भारतीय देवियों ने यदि अपना धर्म छोड़ दिया होता, तो देश कब का नष्ट हो गया होता। कन्या को पुत्र के तुल्य ही समझने का आदेश महाराज मनु ने भी दिया है जैसे आत्मा पुत्र रूप में जन्म लेती है, वैसे ही पुत्री के रूप में भी जन्म लेती है।

-मनुस्मृति ९-१३०

नारी नौ माह तक भ्रूण को अपनी काया में रख, पोषक ही नहीं देती संस्कार भी देती है। यदि गर्भावस्था में माँ का चिंतन परिष्कृत, सात्विक है, उस पर भावनात्मक दबाव न पड़ता हो, वह सदैव महापुरुषों के आदर्श कर्त्तव्यों का चिंतन

मनन करती हो तो संतान भी वैसी ही उत्कृष्ट जन्मेगी। जन्म के बाद भी वैसा ही संस्कारमय वातावरण घर परिवार में बना रहना अनिवार्य है। जीवन के प्रारंभ के दस वर्ष शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक विकास की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माने गए हैं। इस अवधि में उनको सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक दोनों की दृष्टि से अनौपचारिक शिक्षण दिया जाना चाहिए, ताकि वे श्रेष्ठ नागरिक के रूप में विकसित हो सकें।

बाला बोध्या विनेयाश्च प्रायः स्नेहेन साध्विदम्।
उच्यते शिशवः स्नेहं लभन्तां शिक्षणोन्मुखम्॥ ४४॥
स्नेहातिरेकतो बाला विकृतिं यांति संततम्।
नायोग्यं दंडयेद् बालान् भयभीतान्न कारयेत्॥ ४५॥
अयोग्याचरणोत्पन्न - हानिर्याप्याऽपवार्य च।
लोकशिक्षेतिहासेन देयाऽन्या शिक्षणादपि॥ ४६॥
ज्ञानवृद्ध्यै पुस्तकानां ज्ञानमेव न चेष्यते।
भ्रमणार्थं च नेयास्ते क्षेत्रे सामीप्यवर्तिनि॥ ४७॥
मार्गप्राप्तैर्विधेया च ज्ञानवृद्धिस्तु वस्तुभिः।
जिज्ञासायाः स्वभावश्च तेषां निर्मातुमिष्यते॥ ४८॥
प्रवृत्तिरेषा प्रोत्साह्या विकासस्य मनःस्थितौ।
विधिः शोभन एवैष यस्तु प्रश्नोत्तरानुगः॥ ४९॥
कीडेयुर्न कुसंगे च बाला इत्यभिदृश्यताम्।
संस्कृतैः सखिभिर्योगो यत्नेनैषां विधीयताम्॥ ५०॥
सखिभ्योऽपि विजानंति शिशवो बहुसंततम्।
यथा संरक्षकेभ्योऽतः सावधानैश्च भूयताम्॥ ५१॥

टीका—बालकों को स्नेह से समझाने–बदलने का प्रयास किया जाए। एक आँख दुलार की दूसरी सुधार की रखने की उक्ति में बहुत सार है। अतिशय दुलार में कुछ भी करने देने से बालक बिगड़ते हैं। उन्हें पीटना डराना तो नहीं चाहिए, पर अवांछनीय आचरण की हानि अवश्य बतानी चाहिए और रोकना भी चाहिए। स्कूली शिक्षा के अतिरिक्त बच्चों को लोकाचार सिखाने का उपयुक्त तरीका सारगर्भित कथा कहानियाँ सुनाना है। ज्ञानवृद्धि के लिए पुस्तकीय ज्ञान ही पर्याप्त नहीं, उन्हें समीपवर्ती क्षेत्र में भ्रमण के लिए भी ले जाना चाहिए और रास्ते में मिलने वाली वस्तुओं के सहारे उनकी ज्ञानवृद्धि करनी चाहिए। जिज्ञासाएँ करने की प्रश्न पूछने की आदत डालनी चाहिए। इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहित भी करना चाहिए। मानसिक विकास का अच्छा तरीका प्रश्नोत्तर ही है। कुसंग में बच्चों को खेलने न दें। ऐसे साथियों का सुयोग बिठाएँ, जो अच्छे स्वभाव के हों। अभिभावकों की तरह साथियों से भी बच्चे बहुत कुछ सीखते हैं इस ओर सावधान रहना चाहिए॥ ४४–५१॥

बालकों के संतुलित विकास से संबंधित तीन महत्त्वपूर्ण सूत्र ऋषि श्रेष्ठ धौम्य यहाँ बताते हैं। (१) दुलार एवं सुधार की समंवित नीति अपनाते हुए उन्हें स्नेह से वंचित भी न रखना एवं आवश्यकता पड़ने पर कड़ाई बरतकर अनौचित्य से उन्हें विरत करना। (२) पाठ्यक्रम से जुड़ी शिक्षा के अलावा भी व्यावहारिक जीवन की शिक्षा उन्हें कथा कहानियों के माध्यम से एवं प्राकृतिक जीवन के साहचर्य के माध्यम से देना, उनकी जिज्ञासु बुद्धि को प्रखर करना एवं स्वाध्यायशीलता के प्रति रुचि जगाना। (३) बालक किनकी संगति में दिन भर रहते हैं, इसका सतत् ध्यान रखना। गुण, कर्म एवं स्वभाव के परिष्कार हेतु उत्कृष्टता को सम्मान देने वाले नम्र स्वभाव के साथियों को ही संगी साथी बनाने को प्रोत्साहन देना।

उपरोक्त तीनों ही पक्ष बालकों के किशोर रूप में विकसित होने की प्रक्रिया में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। जिस परिवार संस्था में इन पर समुचित ध्यान दिया जाता है, उसमें निश्चित ही श्रेष्ठ नागरिक विकसित होते एवं समुदाय को गौरवांवित करते हैं।

प्रवेशिकास्तरायाश्च शिक्षायाः पूर्वमेव तु।
निश्चेयं बालकायैष भविता केन वै पथा॥ ५२॥
जीविकोपार्जनं केन माध्यमेन करिष्यति।
आनुरूप्येण चास्यैव निर्णयस्याग्रिमा ततः॥ ५३॥
निर्धार्या तस्य कक्षा च शिक्षा नैवेदृशी शिशोः।
कर्तव्या जीवने तस्य व्यवहारं न याऽऽव्रजेत्॥ ५४॥
बुद्धौ भार इवायाति व्यर्थं चानेन कर्मणा।
शिक्षणेनानिवार्येण वञ्चितो जायते शिशुः॥ ५५॥
व्यर्थतामेति सर्वं च श्रमः कालो धनं तथा।
अनिश्चयेन चानेन पश्चात्तापस्ततो भवेत्॥ ५६॥
शिक्षोद्देश्यगतिश्चिंत्या भोजनस्येव निश्चितम्।
क्रीडार्थं समयो देयः कलाकौशलवेदिता॥ ५७॥
लोकाचारसदाचारभिज्ञता तस्य संभवेत्।
नीत्यभ्यस्तो भवेद् बालः प्रबंधश्चेतृशो भवेत्॥ ५८॥
अस्मै प्रयोजनायैतद् भ्रमणं युज्यते ध्रुवम्।
लाभदं ज्ञानवृद्ध्या चेद् भ्रमणं तद्व्यवस्थितम्॥ ५९॥
नोचेत्कौतुकमात्राय भ्रमणेन भवंत्यपि।
हानयो वैपरीत्येन भ्रमणं हि हितैर्हितम् ॥ ६०॥

टीका—प्रवेशिका स्तर की सामान्य शिक्षा पूरी करने से पूर्व ही यह निश्चय कर लेना चाहिए कि बच्चों को क्या बनाना है? उसे उपार्जन का क्या माध्यम अपनाना है। इस निर्णय के अनुरूप ही उसकी अगली शिक्षा न दी जाए, जो उसके व्यावहारिक जीवन में काम न आए। इससे मस्तिष्क पर अनावश्यक दबाव पड़ता है और जो सीखना आवश्यक था, उससे वंचित रहना होता है। किया गया श्रम और समय खरचा गया धन इस अनिश्चय के कारण व्यर्थ ही चला जाता

है। इसके लिए पीछे सदा पश्चाताप रहता है। भोजन की तरह शिक्षा के उद्देश्य का ध्यान रखना भी आवश्यक है। खेलने-कूदने का अवसर दिया जाए। लोक व्यवहार और नीति सदाचार का उपयुक्त ज्ञान लाभ होता रहे। ऐसा प्रबंध किया जाए। परिभ्रमण इस प्रयोजन के लिए आवश्यक है। परिभ्रमण के साथ ज्ञान संवर्द्धन की व्यवस्था पूरी तरह जुड़ी रहे, तभी उसका लाभ है। अन्यथा कौतूहल भर के लिए इधर-उधर घूमने में कई बार तो उलटी हानि भी होती है। उपयुक्त समाधान करते रहने वालों के साथ घूमना भी हितकर है॥ ५२-६०॥

शिक्षा बच्चों को क्या दी जानी है? इसका निर्धारण अभिभावकों को उनकी मन:स्थिति एवं देशकाल की परिस्थितियों को देखकर ही करना चाहिए। जो विषय अप्रासंगिक है, जिनका जीवन से दूर-दूर तक ताल्लुक नहीं शिशुओं के कंधे पर लाद देना वस्तुत: उनके विकास को रोकने के समान है। सामान्य ज्ञान, आहार-विहार, खेल-कूद, सामान्य शिष्टाचार, नैतिक गुणों के व्यावहारिक क्रियान्वयन का शिक्षण पाठ्यक्रम में जुड़ा रहे, तो ही शिक्षा फलदाई होती है। ऐसी अनौपचारिक शिक्षण प्रक्रिया पाठ्य पुस्तकों की डिग्री दिलाने वाली शिक्षा से लाख गुना उत्तम है, एवं अपनाई ही जानी चाहिए। पर्यटन परिभ्रमण भी आस-पास की परिस्थितियों, प्राकृतिक जीवन के विभिन्न पहलुओं के संबंध में दृष्टिकोण को निखारता एवं व्यक्तित्व को सर्वांगपूर्ण बनाता है। आत्मरक्षा का अभ्यास सभी शिशुओं को साथ में कराया जाना चाहिए, ताकि वे साहसी स्वावलंबी बन सकें।

कुसंगाद् बालका रक्ष्या: सेवकेषु सखिष्वपि।
अध्यापकेषु चान्येषु परिचितेषु जनेष्वपि ॥६१॥
योग्या: के संत्ययोग्या: के ध्येयमत्राभिभावकै:।
सतर्कत्वप्रसंगेऽस्मिन्ननिवार्यं हि मन्यताम्॥६२॥
दुष्प्रभावान् कुसंगस्य बालानां प्रकृतिस्तथा।
भविष्यच्चापि संयातो विकृतिं दु:खदायिनीम्॥६३॥
गृहकार्येषु बालानां रुचिं संपादयेन्नर: ।
सहयोगस्य भावं च तेषां संवर्द्धयेदपि ॥६४॥
स्नेहात्किमपि कर्तुं च स्वातन्त्र्यं नैव दीयताम्।
मृदुताकारणात्तेषु केवलं जायते नहि॥६५॥
शीतोष्णयो: प्रभाव: स परं सदसतोरपि।
प्रभावस्तेषु क्षिप्रं स प्रभवत्यञ्जसैव तु॥६६॥

टीका—कुसंग से बच्चों को बचाया जाए। सेवक, साथी, अध्यापक, परिचितों में कौन उपयुक्त, कौन अनुपयुक्त है? इसका ध्यान रखना अभिभावकों का काम है। इस संदर्भ में बहुत सतर्कता की आवश्यकता है। कुसंग के दुष्प्रभाव से कई बार बालकों का स्वभाव एवं भविष्य ही बिगड़ जाता है, जो पीछे बड़ा दु:खदायी होता है। बच्चों को घर परिवार के कामों में रस लेने ध्यान देने और हाथ बँटाने की आदत आरंभ से ही डालनी चाहिए। दुलार में कुछ भी करते रहने की छूट नहीं देना चाहिए। कोमलता के कारण बालकों पर सर्दी-गर्मी का ही अधिक अवसर नहीं होता, वरन् भले-बुरे प्रभाव से भी वे जल्दी प्रभावित होते हैं॥ ६१-६६॥

बालकों, किशोरों के कोमल मन पर सभी समीपवर्ती व्यक्तियों की मन:स्थिति का प्रभाव पड़ता है। चाहे वे घर में कार्यरत सेवक हों, उनके साथी सहचर हों, आने वाले परिचित अतिथिगण हों अथवा शिक्षण देने वाले गुरुजन। इनमें से कौन का साथ हितकर है, यह चुनाव है तो कठिन पर अभिभावकों को यह भी करना ही चाहिए। मौसम के थोड़े से अनुकूल-प्रतिकूल परिवर्तन स्वास्थ्य पर प्रभाव डालते हैं, उसी प्रकार संपर्क संबंधी थोड़े से भी प्रभाव का उन पर दूरगामी असर पड़ता है। अच्छा-बुरा चुनने की बुद्धि किशोरावस्था तक विकसित नहीं हो पाती, किंतु उनका प्रभाव ढलाई की प्रक्रिया से गुजर रहे मस्तिष्क पर तुरंत पड़ता है। अच्छा हो, वातावरण ऐसा बने कि हर श्रेष्ठ कार्य में बच्चों की रुचि जागे एवं दैनंदिन घर गृहस्थी के कार्यों में भी रस लेकर स्वावलंबी बनाएँ, इस प्रयोगशाला से कुछ सीखें।

पाणिग्रहणसंस्कारस्तदैवेषां च युज्यते।
यदेमे संस्कृता बाला संत्वपि स्वावलम्बिन:॥६७॥
तथा योग्याश्च सन्त्वेता बालिका भारमञ्जसा।
क्षमा वोढुं गृहस्थस्य येन स्यु: समयेऽपि च॥६८॥
स्वावलंबनदृष्ट्या ता प्रतीयेरन्नपि क्षमा:।
नो पाणिग्रहणं युक्तमविपक्वायुषां क्वचित्॥६९॥
विकासेऽनेन तेषां हि बाधाऽभ्येति समंतत:।
सुविधा साधनानां हि ज्ञानवृद्धेरपीह च॥७०
व्यवस्थेव सदा ध्येयं बाला: संस्कारिणो यथा।
भवंत्वपि सदा सर्वे गुणकर्मस्वभावत: ॥७१॥
चरित्रे चिंतने तेषा व्यवहारेऽपि संततम्।
शालीनता समावेशो यथायोग्यं भवत्वपि॥७२॥

टीका—विवाह तब करें, जब बच्चे स्वयं सुसंस्कृत व स्वावलंबी बनने की स्थिति तक पहुँचें। लड़कियों को इस योग्य होना चाहिए कि वे नए गृहस्थ का भार उठा सकें और समय पड़ने पर आर्थिक स्वावलंबन की दृष्टि से भी समर्थ सिद्ध हो सकें। परिपक्व आयु होने से पूर्व बालकों या किशोरों का विवाह नहीं करना चाहिए। इससे उनके विकास क्रम में भारी बाधा पड़ती है। ज्ञान वृद्धि तथा सुविधा-साधनों की व्यवस्था करने की तरह ही इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि बच्चे गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से सुसंस्कारी बनें। उनके चिंतन, चरित्र और व्यवहार में शालीनता का

समुचित समावेश होता रहे ॥ ६७-७२ ॥

न केवल शारीरिक सरंचना की दृष्टि से स्वस्थ, अपितु मानसिक परिपक्वता, भावनात्मक विकास की स्थिति में पहुँचने पर ही युवकों को विवाह बंधन में बाँधा जाए। आयु का बंधन तो हो ही, गुण कर्म स्वभाव की दृष्टि से परिष्कार हो पाया है अथवा नहीं, इसे भी विवाह का आधार बनाया जाए। बाल्यकाल से कैशोर्यावस्था की अवधि अनुभवों के अर्जन, ज्ञान संपदा के संचय एवं व्यावहारिक शिक्षण की है। जीवन जीने की कला से जो अनभिज्ञ हैं, उन्हें समय से पूर्व विवाह-बंधन में बाँधना उनके साथ अत्याचार करना है।

वातावृतौ च योग्यायां वसितुं समयं च ते।
लाभन्तां तान् सुयोग्यांश्च नागरान् संस्कृतानपि॥ ७३॥
निर्मातुं यत्नशीलैश्च भाव्यमेवाभिभावकैः।
उन्नतस्तरव्यक्तित्वे भविष्यत्संश्रितं शिशोः ॥ ७४॥
सत्प्रयोजनभाजस्ते सेवाभाजो भवंत्वपि।
अवसरा ईदृशा देयास्तेभ्यः प्रोत्साहनं तथा ॥ ७५॥

टीका—यह भी आवश्यक है कि उन्हें (बच्चों को) उपयुक्त वातावरण में रहने का अवसर मिले। सुयोग्य सुसंस्कारी नागरिक बनाने के लिए भी अभिभावक प्रयत्नशील रहें, क्योंकि व्यक्तित्व के समुन्नत स्तर पर ही बच्चों का उज्ज्वल भविष्य निर्भर रहता है। उन्हें सेवाभावी सत्प्रयोजनों में भाग लेते रहने का अवसर भी देना चाहिए और प्रोत्साहन भी॥ ७३-७५ ॥

बालकों को सुसंस्कारी बनाना जितना अनिवार्य है, उतना ही यह भी कि उन्हें सेवा धर्म के माध्यम से इन गुणों को व्यवहार में उतारने का अभ्यास करने का अवसर भी मिले। परिवार, विद्यालय, मित्र, परिकर एवं समस्त समाज एक कार्यशाला है, जिसमें सत्प्रवृत्तियों का अभ्यास किया जा सकता है। कोरे सिद्धांत तो चिंतन तक ही सीमित होकर रह जाते हैं। उनका व्यवहार में उतरना अत्यंत अनिवार्य है। इस दिशा में सभी अग्रजों द्वारा समुचित प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

संख्यावृद्धौरता ये तु संततेरुचितं नहि।
दायित्वं च विकासस्य तेषां ज्ञातुं क्षमा नराः॥ ७६॥
श्रुत्वा तेऽद्यतनं सारगर्भितं मंगलोदयम्।
परामर्शं गता लज्जां पश्यंतो दोषमात्मनः ॥ ७७॥
मर्यादितां महत्तां तेऽविदुः प्रजननस्य ते।
बालकान् प्रोन्नतान् कर्तुं निरचिन्वंश्च यत्नतः॥ ७८॥
वयस्केषु च बालेषु श्रुत्वा प्रवचनं त्विदम्।
शुभमद्यतनं तत्र शुभाशासोदगान्नवा ॥ ७९॥
महिलाश्चापि बालानामुज्ज्वलस्य भविष्यतः।
सुयोगमिव चायातमन्वभूवन् समा अपि॥ ८०॥
भाराधिक्याच्च जीर्णत्वविपदो रक्षणादपि।
संतोषः सुमहांस्तासामभूदानंदितात्मनाम् ॥ ८१॥
धौम्यप्रवचनं ताश्च वरदानमिव स्त्रियः।
दैवमेवान्वभूवंश्च दिव्यं प्रज्ञायुगोद्भवम्॥ ८२॥
समापनस्य काले च विसर्जनरताः समे।
प्रसन्ना बहुसंतुष्टा निधिं प्राप्येव चाक्षयम्॥ ८३॥

टीका—बालकों की संख्या बढ़ाने में उत्साही किंतु उनके समुचित विकास का उत्तरदायित्व न समझने वाले आज के सारगर्भित मंगलमय परामर्श को सुनकर लज्जित हो रहे थे और अपनी भूल मान रहे थे। उनने मर्यादित प्रजनन की महत्ता समझी एवं घर के बालकों को समुन्नत बनाने में अधिक ध्यान देने और प्रयास करने का निश्चय किया। आज के प्रवचन से समझदार बच्चों में आशा की किरणें जगीं। महिलाओं ने भी अपने बालकों का भविष्य उज्ज्वल बनाने के सुयोग का आगमन अनुभव किया। अधिक भार लदने से जीर्ण-शीर्ण होने की विपत्ति से बचने का भी उन्हें बड़ा सुख एवं संतोष मिल रहा था। उन्हें धौम्य का प्रवचन देव वरदान जैसा लगा। इसे उन्होंने प्रज्ञायुग की दिव्य देन समझा। आज के समापन समय पर विसर्जन कृत्य करते हुए विदा लेते हुए सभी लोग और भी अधिक प्रसन्न संतुष्ट दृष्टिगोचर हो रहे थे, मानों कोई अक्षयनिधि हाथ लग गई हो॥ ७६-८३ ॥

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,
श्री धौम्य ऋषि प्रतिपादिते शिशु निर्माण इति प्रकरणो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥

॥ पञ्चमोऽध्यायः ॥

वृद्धजन-माहात्म्य प्रकरण

धर्मकृत्येषु वृद्धानां रुचिः स्वाभाविकी मता।
कुंभपर्वसमेष्वेते समायांत्यधिका अपि॥ १॥
प्रयान्त्यपि च सत्रेषु ते विचार्यातिखिन्नताम्।
अधिगच्छंति किं कार्यमस्माभिरिह संगतैः॥ २॥
जराजीर्णतया नैव केचनापि तु हस्तगाः।
अधिकाराः कुटुंबस्य वयस्काधिगतास्तु ते॥ ३॥
उपेक्षितातिथेस्तत्र स्थितिं प्राप्ता इवाद्य तु।
निर्वाहसुविधामात्रं कथञ्चित्प्राप्नुवन्निह ॥ ४॥
यापयंति च शून्यास्ते स्थिताः कालं निरंतरम्।
इति स्थितौ गृहस्थस्य भूमिकां कां वहन्तु ते॥ ५॥
नेदं तेषां मतौ सम्यक् स्थिरतां श्रयति स्म तु।
अनुभवंति समे यत्र निराशां ते निरंतरम्॥ ६॥

टीका—धर्मकृत्यों में वृद्धजनों की स्वाभाविक अभिरुचि रहती है। वे कुंभ पर्व जैसे आयोजन में परलोक साधना की दृष्टि से पहुँचते भी अधिक संख्या में हैं। वे इन सत्रों में पहुँचते तो थे, पर यह सोचकर खिन्न होते थे कि वे करें क्या? जराजीर्ण होने के कारण उनके हाथ में घर-परिवार के कुछ अधिकार भी नहीं रहे, उसे वयस्कों ने सँभाल लिए। वे तो एक उपेक्षित अतिथि के रूप में उस परिकर में रहकर किसी प्रकार निर्वाह की सुविधा भर प्राप्त करते हैं। बैठे-ठाले समय गुजारते हैं। ऐसी दशा में वे गृहस्थ धर्म पालन करने की दृष्टि से क्या भूमिका संपन्न कर सकते हैं, यह उनकी समझ में नहीं आ रहा था और निराशा जैसी अनुभव कर रहे थे॥ १-६॥

वार्द्धक्य जीवन की एक ऐसी स्थिति है, जब व्यक्ति सारा जीवन परिश्रम करने के बाद, सहसा अपने आप को एकाकी, दूसरों पर अवलंबित एवं शरीर बल से क्षीण होने के कारण असमर्थ पाने लगता है। वस्तुस्थिति ऐसी है नहीं। यह तो जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण पड़ाव है। इस आयु में धार्मिक अभिरुचि होना स्वाभाविक है। व्यक्ति अपना परलोक सुधारने की बात सोचता है। विभिन्न प्रकार के धार्मिक कर्मकांडों में प्रगतिशील दिशा न मिलने के कारण ऐसे प्रयास बाह्योपचार तक सीमित होकर रह जाते हैं। एक सही मार्ग मिलने की आशा उनमें नए प्राण फूँक देती है। गृहस्थ जीवन संबंधी प्रस्तुत प्रकरण में इन वृद्धजनों का अपनी भूमिका तलाशना एवं उपेक्षा की स्थिति से निकलकर सम्मानस्पद कार्य कर सकने की संभावनाओं के प्रति जिज्ञासा का होना स्वाभाविक ही है।

हृद्गतज्ञः समेषां स महर्षिर्धौम्य उद्गतान्।
वर्गस्यास्य जनानां तु मनोभावान् समध्यगात्॥ ७॥
निश्चिकाय ततस्तेषां कर्तुं स मार्गदर्शनम्।
धौम्य उवाच
गृहस्थे वृद्धव्यक्तीनामपि स्थानं महत्त्वगम्॥ ८॥
वर्तते सञ्चितैस्तेऽपि स्वीयैरनुभवैरलम्।
लाभं बहुभ्यो दातुं तु शक्ता अल्प बला अपि॥ ९॥
परिष्कृताऽथ पक्वा च स्थितिस्तेषां तु मानसी।
अपेक्षया परेषां हि गृहस्थानां नृणामिह॥ १०॥
लाभमस्य कुटुम्बं तत्प्राप्नुयान्नैव केवलम्।
क्षेत्रं संपूर्णमेवापि संसारश्चाप्नुयात्समः॥ ११॥
वाञ्छेयुर्यदि ते तर्हि नवेन विधिना नवम्।
जीवनं प्राप्तुमर्हन्ति तथा कार्यक्रमं नवम्॥ १२॥
स्वीकृत्यान्यं नवेक्षेत्रे प्रवेष्टुं शक्नुवंत्यपि।
इत्थं च समयस्तेषां सञ्चितोऽनुभवस्तथा ॥ १३॥
यूनामपेक्षया नूनमधिकं सेत्स्यतो ध्रुवम्।
लोकोपयोगिनौ भद्रा अत्र नास्त्येव संशयः॥ १४॥
आत्मलाभदृष्ट्या च समयोऽयं तु विद्यते।
भाग्योदयस्य कर्तेव सुयोग्यो योग उच्यताम्॥ १५॥

टीका—सबके मन की बात जानने वाले महर्षि धौम्य ने इस वर्ग के लोगों के मनोभाव जाना और उनका मार्गदर्शन करने का निश्चय किया।

महर्षि धौम्य बोले, गृहस्थ में वयोवृद्धों का भी महत्वपूर्ण स्थान है। वे अपने संचित अनुभवों से बहुतों को लाभ दे सकते हैं। शारीरिक क्षमता घट जाने पर भी उनकी मानसिक स्थिति अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत-परिपक्व होती है। इसका लाभ उस परिवार को ही नहीं, समस्त क्षेत्र एवं संसार को मिलना चाहिए। वे चाहें, तो नए सिरे से नया जीवन जी सकते हैं, नया कार्यक्रम अपना सकते हैं, नए क्षेत्र में प्रवेश कर सकते हैं। हे भद्रजनो इस प्रकार उनका बचने वाला समय और संचित अनुभव तरुणों की अपेक्षा और भी अधिक लोकोपयोगी सिद्ध हो सकता है। आत्मलाभ की दृष्टि से वह समय उनके लिए भाग्योदय जैसा सुयोग्य है ऐसा कहा जा सकता है॥ ७-१५॥

कथा प्रसंग में उपस्थित वृद्धवर्ग की मनःस्थिति के अनुरूप ही प्रतिपादन आरंभ करते हुए महर्षि धौम्य गृहस्थ जीवन में उनकी गरिमा एवं महत्ता को जन सामान्य को समझाने हेतु आतुर प्रतीत होते हैं। वृद्धावस्था में कृशकाय असमर्थ होने के कारण परावलंबी एवं निरुपयोगी होने की, हीन भावना को मन से निकाल बाहर फेंकने एवं क्रियाशील बने रहने चलते

रहते और आत्म कल्याण की विकास यात्रा में आगे बढ़ते रहने के लिए ऋषिवर उन्हें प्रोत्साहित करते तथा उनकी प्रसुप्त क्षमताओं का उन्हें बोध कराते हैं। वृद्धावस्था आ घेरने का अर्थ यह नहीं होता कि मनुष्य निरुत्साहित होकर हाथ पर हाथ रखे, मृत्यु का इंतजार करे। जीवन एक महान यात्रा है, जिसकी सुघड़ता सदैव चलते रहने में है। जब तक हम चलते रहते हैं, तब तक हमारी शक्तियों का उपयोग होता रहता है। जहाँ रुके, वहीं मौत है, वहीं जुड़ता है। चलना, उन्नत होना और आगे बढ़ना जीवंत होने का प्रतीक है। वेद भगवान कहते हैं

आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतौऽनम्।

अर्थात्—जीवन के लिए सबसे आवश्यक बात यह है कि उसे रुकना नहीं चाहिए। उन्नत होना और आगे बढ़ना जीवन का स्वाभाविक धर्म है।

चलते रहना, क्रियाशील बने रहना, सृष्टि का सनातन नियम है। समस्त प्राणिवर्ग एवं प्रकृति के घटक में यह स्पंदन मुखरित हो रहा है। नदियाँ अपने अल्प और सीमित स्वरूप से उस अनंत विराट् सागर की ओर दौड़ी जा रही हैं। ऊँचे-ऊँचे पहाड़ अपनी उत्तुंग चोटियों को फैलाए उस सर्वव्यापी सत्ता की ओर देख रहे हैं, मानों उन्हें अपना स्वरूप अल्प सीमित जान पड़ रहा है। जान पड़ता है वे भी उतने ही विराट्, अनंत महान् बनने की चिर प्रतीक्षा में खड़े हैं। बीज अपने क्षुद्र और साधारण स्वरूप से संतुष्ट नहीं होता और वह अपने आवरण को तोड़, फूट निकलता है। महत् की ओर। उसकी यात्रा जारी रहती है और वह विशाल वृक्ष बन जाता है। फिर भी उसकी विपुल महत् बनने की साध रुकती नहीं और वह सुंदर फूलों से खिल उठता है, मधुर फूलों में परिणत होता हुआ, अपनी सत्ता को असंख्यों बीजों में परिणत कर देता है। उधर देखिए, उस पक्षी शावक को उसे नीड़ या संकीर्ण आवरण तुच्छ जान पड़ता है। वह अपने पंखों में फुरफुरी भर रहा है। नीड़ के दरवाजे से अखिल विश्व भुवन की ओर देख रहा है, जिसकी अनंत गोद में वह किलोल करना चाहता है और देखो, निकल पड़ा, वह सीमित अल्प आवरण को त्यागकर अनंत महत् की ओर।

अल्प से महत् की ओर अग्रसर होने की यह क्रिया सर्वत्र हो रही है। फिर चेतन और ईश्वर का वरिष्ठ राजकुमार कहलाने वाला मनुष्य ही बार्द्धक्यता को जीवन यात्रा में बाधक मानकर अपनी प्रगति यात्रा क्यों बंद कर दे? नहीं उसे जीवन को एक संग्राम मानकर मोरचे पर खड़े एक कर्त्तव्यनिष्ठ और कर्मठ सिपाही की भाँति संघर्ष करना और बढ़ते ही जाना है। इसीलिए ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है

''नाऽनाश्रांताय श्रीरस्ति..........पापो नृषद्वरो
जन इंद्र इच्चरतः सखा। चरैवेति चरैवेति॥

अर्थात् जो चलता है उसकी जंघाएँ पुष्ट बनी रहती हैं। फल प्राप्ति तक उद्योग करने वाला व्यक्ति पुरुषार्थी होता है। प्रयत्नशील पुरुष के पाप-ताप, भवबंधन मार्ग में ही नष्ट हो जाते हैं। इसलिए चलते रहो, चलते रहो।

वृद्धावस्था में व्यक्ति के पास जीवन भर के अनुभवों की थाती जो अपने पास होती है। अनेकों प्रसंगों के माध्यम से उन्होंने जीवन रूपी प्रयोगशाला में इतना कुछ सीखा समझा होता है, कि उस मार्गदर्शन से वे सारे समुदाय को लाभ दे सकते हैं। एक बार सक्रिय उपार्जन प्रधान जीवन समाप्त होने पर आयुष्य के इस मोड़ पर वे अपने जीवन को एक नई दिशा देकर, लोक सेवी व्रत अपनाकर सारे परिकर को समाज को प्रभावित कर सकने की क्षमता रखते हैं।

पक्वं फलं सदा शाखां विहायान्यस्य प्राणिनः।
उपयोगाय संयाति तथैवाऽत्रापि चायुषि ॥१६॥
युक्तं परिणते एव वानप्रस्थग्रहो नृणाम्।
विद्यते शाश्वतीयं च भारतीया परंपरा ॥१७॥
पुण्यार्जनस्य कालोऽयं परस्मै जन्मने तथा।
ऋणं सामाजिकं दातुं गृह्णातुं श्रेय आत्मनः॥१८॥
लोगमंगलजं नूनं महत्त्वानुगतो ध्रुवम्।
धौम्यः संबोधयामास नरान् परिणतायुषः ॥१९॥
निष्क्रियत्वात्तथा तान् स सक्रियत्वस्य चाप्तये।
बोधयामास भूयश्च कथयामास यत्समे॥२०॥
निराशां परिणतां कुर्युरुत्साहे कर्म यत्कृतम्।
नाद्यावधि प्रकुर्वन्तु सोत्साहं विश्वमंगलम्॥२१॥
आधारेण च तेऽनेन मुक्ता भृत्योर्भयात्समे।
जीवन्मुक्तं मुदं यान्तु दृष्टिकोणं च दिव्यकम्॥२२॥

टीका—पका हुआ फल डाली छोड़कर अन्यों के काम आने के लिए चला जाता है। इसी प्रकार ढलती आयु में वानप्रस्थ धर्म अपनाना ही उचित है। यही भारतीय शाश्वत परंपरा भी है। यह समय अगले जन्म के लिए पुण्यफल संचय करने, वर्तमान में समाज का ऋण चुकाने एवं लोकमंगल का श्रेय लेने की दृष्टि से अत्यंत महत्त्व का है। महर्षि धौम्य ने आज अधेड़ आयु वालों को विशेष रूप से संबोधित किया। उन्हें निरर्थकता में सार्थकता उत्पन्न करने का परामर्श दिया और कहा कि वे निराशा को उमंगों में बदलें और विश्वमंगलमय वह काम करें जो अब तक कर नहीं पाए। इस आधार पर वे मृत्यु भय से छूटेंगे और स्वर्गीय दृष्टिकोण तथा जीवन्मुक्त स्तर का आनंद हाथों हाथ उपलब्ध करेंगे॥ १६-२२॥

देव संस्कृति की विशेषता है जीवनावधि का चार आश्रमों ब्रह्मचर्य, गृहस, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों में विभाजन।

इनमें से दो व्यक्ति गत उत्कर्ष के लिए और दो सामाजिक विकास के लिए निर्धारित हैं। सारी उम्र मनुष्य अपने लिए परिवार के लिए मरता-खपता है, उपार्जन उपभोग में ही उसका अधिकांश समय निकल जाता है। समाज के जिन अवयव घटकों के सहारे उसने यह सुविधा भरा जीवन जिया, उनके लिए भी उसके कुछ कर्त्तव्य हैं। ढलती आयु में वानप्रस्थ धारण किया जाए और घर परिवार को आवश्यक मार्गदर्शन सहयोग देते हुए अधिकांश समय समाज सेवा में लगाया जाए। यही प्रेरणा सद्गृहस्थों वृद्धजनों को महर्षि धौम्य देते हैं।

जीवन का आधा भाग उत्तरार्द्ध विशुद्ध रूप से लोकमंगल में नियोजित रखे जाने की शास्त्रीय मर्यादा है। इस परंपरा के निर्वाह से अनेकों प्रयोजन पूरे होते हैं। मोह बंधन का परिवार वाला घेरा टूटता है एवं व्यक्ति विराट् ब्रह्म का एक अंग बनकर लोकोपयोगी कार्यों में स्वयं को नियोजित करता है। इससे शेष बचा जीवन तो धन्य होता ही है, अगले जन्मों के लिए पुण्य की संपदा एकत्र हो जाती है। लोक सेवा में लगा व्यक्ति जीते जी मुक्ति का आनंद इसी जीवन में उठा लेता है। उसके हृदय में विस्तृत विराट् के प्रति प्रेम, वाणी में माधुर्य, व्यवहार में सरलता, नारी मात्र में मातृत्व की भावना कर्म में कला और सौंदर्य की अभिव्यक्ति सभी के प्रति उदारता और सेवा भावना, गुरु जनों का सम्मान, स्वाध्याय सत्संग में रुचि, शुचिता श्रमशीलता जैसे सद्गुण अभ्यास द्वारा स्वभाव के अंग बन जाते हैं।

प्रौढा अनुभवंत्वत्र समये चिंतयंत्वपि ।
अनुशासनमेतस्या दिव्याया देवसंस्कृतेः ॥ २३ ॥
पालयिष्याम एनं च धर्मं त्वाश्रमजं सदा।
आयुषोऽप्युत्तरार्धं च निश्चिन्वन्तु परार्थकम्॥ २४॥
सुविभाजनरेखेयमात्मकल्याणतस्तथा ।
विश्वकल्याणतोऽप्यस्ति श्रेयः संपादिका ध्रुवम्॥ २५॥
विभाजनेऽस्मिन् स्वार्थस्य परार्थस्यापि विद्यते।
समावेशो हि सम्यक् सिद्ध्यंत्येतेन पूर्णतः ॥ २६॥
प्रयोजनानि संस्कारव्यवहारगतान्यथ ।
परात्मनः प्रसादाय चात्मनः काल आप्यते॥२७॥
पुरातनस्य कालस्य दिव्या वातावृतिस्तु सा।
अस्याः परंपराया हि उपहार इव स्मृतः ॥ २८॥
सा च प्रचलिता यावत् तावद् भूमिरियं स्मृता।
जगन्मंगलमूलेव स्वर्गादपि गरीयसी।
निवासिनोऽपि चात्रत्याः त्रयस्त्रिंशत्तु कोटिकाः।
अभूवन् परितः देवास्ते हि सम्मानिता अपि॥ ३०॥

टीका—प्रौढ़ों में से प्रत्येक को समय रहते यह अनुभव करना है कि वे देवसंस्कृति के अनुशासन को ध्यान में रखेंगे। आश्रम धर्म का पालन करेंगे और आयु का उत्तरार्द्ध परमार्थ प्रयोजन के लिए निर्धारित रखेंगे। यह विभाजन रेखा आत्मकल्याण और विश्वकल्याण दोनों ही दृष्टि में परमश्रेयस्कर है। इस विभाजन में स्वार्थ और परमार्थ का संतुलित समावेश है। इससे सांसारिक प्रयोजन भी पूरे होते हैं और आत्मा-परमात्मा को प्रसन्न करने का भी अवसर मिलता है। पुरातनकाल का सतयुगी वातावरण इसी परंपरा की देन था, जब तक वह प्रचलित रही, तब तक जगत् के कल्याण की भूमि स्वर्गादपि गरीयसी बनी रही और यहाँ के निवासी सर्वत्र तैंतीस कोटि देवता माने जाते तथा सम्मानित होते रहे॥ २३-३०॥

आयुष्य के आश्रम विभाजन के मूल में गहरा तत्वदर्शन है। व्यक्ति का स्वयं का तो इसमें हित है ही, समष्टिगत कल्याण भी इससे सधता है। व्यक्ति अपनी जिम्मेदारियों से मुक्त होकर निठल्ला नहीं बनता, वरन् और भी बड़े समुदाय के लिए उत्तरदाई हो जाता है। गृहस्थ जीवन का दायित्व पूरा होते ही समाज क्षेत्र में आराधना के निमित्त निकल पड़ना, देव संस्कृति की पुनीत परंपरा रही है। सतयुग में यह प्रथा जीवित थी, अतः कहीं कोई विग्रह नजर नहीं आता था, न लोकसेवियों की कमी ही पड़ती थी। आज भी उसी परंपरा के पुनर्जागरण की आवश्यकता है।

एतदर्थं मतं चैतत्परमावश्यकं नृणाम्।
शिशवो ह्यल्पसंख्यायामुत्पन्नाः स्युर्गृहे गृहे॥ ३१॥
विवाहस्याल्पकालाच्च पश्चात्प्रजननं स्वतः।
अवरोद्धव्यमर्धे तु व्यतीते चायुषो यतः॥ ३२॥
शिशुदायित्वमुक्तिः स्यात् प्रत्येकस्य शिशोर्हृदि।
स्थापनीयमिदं देयं तेनर्णं पैतृकं महत्॥ ३३॥
इदं तैरिह कर्त्तव्यमृणमुक्त्यै निरंतरम्।
अनुजानां सुनिर्वाहः शिक्षाऽथ स्वावलंबनम्॥ ३४॥
पितुरुत्तरदायित्वेष्वत्र जेष्ठैः सुतैः सदा।
सहयोगो विधातव्योऽनृणैर्भाव्यमिहोत्तमैः ॥ ३५॥
ऋणं तिष्ठेन्न पित्रोस्तद् वयस्कानां कृते त्विदम्।
शास्त्राणां विद्यते ह्याज्ञा धार्मिकी च परंपरा॥ ३६॥
यथोत्तराधिकारस्तु पितुः पुत्रैरवाप्यते।
तथैवोत्तरादायित्वं ते वहंतु च पैतृकम् ॥ ३७॥
अनुजानां तथाऽशक्तजनानां पोषणादिकम्।
तथा कार्यं यथा पित्रा कृतं ज्येष्ठसुतस्य तत्॥ ३८॥

टीका—इस तैयारी के लिए आवश्यक है कि प्रत्येक घर में बच्चे कम संख्या में हों। विवाह के कुछ समय उपरांत ही प्रजनन बंद कर दिया जाए, ताकि आधी आयु होने तक बच्चों के उत्तरदायित्व से निपटा जा सके। हर बालक के मन में आरंभ से ही यह बिठाया जाए कि उन्हें महान् पितृ ऋण चुकाना है। यह ऋण चुकाने का कार्य अपने छोटे भाई-

बहिनों के निर्वाह एवं शिक्षा स्वावलंबन के रूप में करना होता है। पिता के उत्तरदायित्वों में हाथ बँटाना, बड़े बच्चों का कर्त्तव्य है। ऋणी किसी का भी नहीं रहना चाहिए। माता-पिता का भी नहीं यह वयस्क बालकों के लिए शास्त्रों का अभिवचन है। यही धर्म परंपरा भी है। पिता का उत्तराधिकार जहाँ बच्चों को मिलता है, वहाँ उनके शेष उत्तरदायित्वों का भी परिवहन करें। छोटे भाई-बहिनों, घर के वृद्ध या अशक्त जनों का भरण-पोषण उसी प्रकार करना चाहिए, जैसे कि पिता ने ज्येष्ठ पुत्र का किया है॥ ३१-३८॥

टीका—इस तैयारी के लिए आवश्यक है कि प्रत्येक घर में बच्चे कम संख्या में हों। विवाह के कुछ समय उपरांत ही प्रजनन बंद कर दिया जाए, ताकि आधी आयु होने तक बच्चों के उत्तरदायित्व से निपटा जा सके। हर बालक के मन में आरंभ से ही यह बिठाया जाए कि उन्हें महान् पितृ ऋण चुकाना है। यह ऋण चुकाने का कार्य अपने छोटे भाई-बहिनों के निर्वाह एवं शिक्षा स्वावलंबन के रूप में करना होता है। पिता के उत्तरदायित्वों में हाथ बँटाना, बड़े बच्चों का कर्त्तव्य है। ऋणी किसी का भी नहीं रहना चाहिए। माता-पिता का भी नहीं

मानव जीवन किन्हीं उद्देश्य विशेषों के लिए मिला है। पशुओं की तरह स्वच्छंद जीवन बिताकर निरंतर यौनाचार में निरत रहना मानवी गरिमा के प्रतिकूल है। वानप्रस्थ आश्रम में उपयुक्त समय पर प्रवेश कर स्वयं को लोक सेवा में प्रवृत्त किया जा सके, इसके लिए अनिवार्य है कि गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते ही भावी जीवन की योजना बना ली जाए। यदि प्रजनन जल्दी बंद कर दिया जाए तो लौकिक जीवन से निवृत्त लेने की अवधि के पूर्व ही उन दायित्वों से मुक्त हुआ जा सकता है, जो संतानों से जुड़ी है। मात्र अपनी जिम्मेदारी पूरी करना ही काफी नहीं, बच्चों के मनों में प्रारंभ से ही संस्कार डाला जाना चाहिए कि आगे चलकर उन्हें पिता के दायित्वों को सँभालना, अपनों से छोटों का भरण-पोषण कर उन्हें स्वावलंबी बनाना है। इतना किए बिना वे उस ऋण से मुक्त नहीं हो सकते, जो उन पर पिता के उपकारों के कारण चढ़ा रहता है। उत्तराधिकार मात्र धन संपदा का ही नहीं होता उन जिम्मेदारियों का भी होता है, जो कभी पिता ने पूरी की व अब संतानों को पूरा करना चाहिए।

ज्येष्ठा तु संततिर्यर्हि गृहकार्यं विभर्त्यलम्।
व्यतीतार्धायुषा कार्यं पुरुषेण ततः स्वयम्॥ ३९॥
स्वकर्तव्यधिया शेषसदस्यानां सुरक्षया।
भरणेन सहैवात्र परार्थं कर्म चाधिकम् ॥ ४०॥
प्रयोजनेषु देयं च ध्यानमध्यात्मकेष्वपि।
पत्नी कुर्याच्च कार्याणि गृहस्थस्य समान्यपि॥ ४१॥
इच्छुका सा सुयोग्या च यदि तत्साऽपि सादरम्।
प्रयोजनेषु नेयैव परार्थेषु सहैव तु॥ ४२॥
परंपरेयं प्रोक्ता च वानप्रस्थाभिधानतः।
इमं च निर्वहेद् धर्मं गृहस्थमिव सर्वदा॥ ४३॥

टीका—बड़ी संतान जब गृहकार्य सँभालने लगे, तो अधेड़ का कर्त्तव्य हो जाता है कि परिवार के शेष सदस्यों की देखभाल करने के साथ-साथ अपने समय का अधिकांश भाग परमार्थ प्रयोजनों के लिए निकालने लगे। अध्यात्म प्रयोजनों की ओर अधिक ध्यान दे। यदि वह इच्छुक और सुयोग्य हो, तो उसे भी परमार्थ प्रयोजनों में साथ रखे। इसी का नाम वानप्रस्थ है। इसका निर्वाह गृहस्थ धर्म के निर्वाह की तरह ही आवश्यक है॥ ३९-४३॥

गृहस्थान्निवृत्तेर्वानप्रस्थे प्रवृत्तिकस्य च।
मध्ये कर्तुं स्वभावे तु परिवर्तनमप्यथ ॥ ४४॥
भावि जीवनजं नव्यं स्वरूपं ज्ञातुमुत्तमम्।
आरण्यके तु कस्मिंश्चित् साधनायां रतैर्नरैः॥ ४५॥
भाव्यं कार्यं च पापानां प्रायश्चित्तं तु कर्मणाम्।
साधनां च प्रकुर्वंति स्वभावं परिवर्तितुम् ॥ ४६॥
प्रयोजनानां योग्यानां लोकमङ्गलकारिणाम् ।
प्रशिक्षणानि सर्वैश्च प्राप्तव्यानि नैररिह॥ ४७॥
परिवर्तितुमेनं च जीवनस्य क्रमं त्विमम्।
आवश्यकं मतं वातावृतेश्च परिवर्तनम्॥ ४८॥
आरण्यकाश्रमाणां च वातावरणमुत्तमम्।
एतदर्थं भवत्येव लोकमंगलयोजितम् ॥ ४९॥
आरण्यकानां मध्ये च वानप्रस्थसुसाधनाम्।
कृत्वैव लोककल्याणपुण्यकार्यं विधीयताम्॥ ५०॥
प्रत्येकस्मिन्नवीने च क्षेत्रे प्रविशता सदा।
प्राप्तव्यमनुकूलं च प्रशिक्षणमिह स्वयम्॥ ५१॥

टीका—गृहस्थ से निवृति और वानप्रस्थ में प्रवृत्ति के मध्यांतर में स्वभाव परिवर्तन और भावी जीवन का नया स्वरूप समझने के लिए किसी आरण्यक में जाकर साधना रत होना चाहिए। गृहस्थ में बन पड़े पाप कर्मों का प्रायश्चित करें। स्वभाव परिवर्तन के लिए साधना करें। लोकमंगल के विविध प्रयोजनों के उपयुक्त प्रशिक्षण प्राप्त करें। जीवन क्रम बदलने के लिए वातावरण बदलना आवश्यक है। इसके लिए आरण्यक आश्रमों का प्रेरणाप्रद वातावरण उपयुक्त पड़ता है। चूँकि उसका संयोजन ही लोकमंगल की दृष्टि से किया हुआ होता है। आरण्यकों की मध्यांतर, वानप्रस्थ साधना के उपरांत लोकमंगल के पुण्य प्रयोजनों में संलग्न होने की विद्या अपनाएँ। हर नए क्षेत्र में प्रवेश करने वाले को तदनुरूप प्रशिक्षण प्राप्त करना पड़ता है॥ ४४-५१॥

विगत में व्यतीत किया गृहस्थ जीवन अपनी लंबी अवधि

के संस्कार मन-मस्तिष्क पर, स्वभाव-व्यवहार पर छोड़ देता है। अब जब नया जीवनक्रम आरंभ करना है, तो हर प्रौढ़ को अपने आपको नई परिस्थिति के अनुरूप ढालने हेतु तपाना, गलाना पड़ता है। जो गलत कार्य बन पड़े, उनका प्रायश्चित किए बिना, क्षतिपूर्ति किए बिना, नए आश्रम में प्रवेश संभव नहीं। यदि वानप्रस्थ ले भी लिया, तो लाभ नहीं क्योंकि मस्तिष्क पर सदैव पुराना चिंतन हावी होता रहेगा। इसके लिए ऋषिगणों ने आदिकाल से आरण्यक व्यवस्था का प्रावधान किया है। इन आरण्यकों में निवृत्त गृहस्थों के लिए साधना हेतु उपयुक्त वातावरण रहना अनिवार्य है। जब परिमार्जन पूरा हो, तो नए सिरे से प्रशिक्षण द्वारा अपने को लोकसेवी के रूप में विकसित करें। इतनी प्रक्रिया पूरी होने पर ही वानप्रस्थ जीवन की सार्थकता है, तभी तो लोकसेवा में दत्तचित्त होकर लगा जा सकेगा।

प्रव्रज्यायां हि योग्यत्वं सुविधाऽपि च विद्यते।
येषां ते तीर्थयात्रार्थं यांतु धर्मोपदिष्टये ॥५२॥
प्रत्येकेन जनेनात्र साध्यः संपर्क उत्तमः।
अनुन्नतेषु गंतव्यं क्षेत्रेष्वेवं क्रमान्नरैः॥५३॥
रात्रौ यत्र विरामः स्यात्तत्र कुर्यात्कथामपि।
कीर्तनं चोपदेशं सत्संगं यत्नेन पुण्यदम्॥५४॥
तीर्थयात्रा तु सैवास्ति योजनाबद्धरूपतः।
वातावृतिर्भवेद् यत्र निर्मिता धार्मिकी तथा॥५५॥
सदाशयस्य यत्र स्यात्पक्षगं लोकमानसम्।
पोषणं सत्प्रवृत्तीनां भवेद् यत्र निरंतरम्॥५६॥
तीर्थयात्रा सुरूपे च प्रव्रज्यारतता त्वियम्।
वर्तते वानप्रस्थस्य श्रेयोदा साधना शुभा॥५७॥

टीका—जिनकी योग्यता एवं सुविधा प्रब्रज्या के उपयुक्त हो, वे धर्म प्रचार की तीर्थयात्रा पर निकलें। जन-जन से संपर्क साधें। पिछड़े क्षेत्रों में परिभ्रमण करें। जहाँ रात्रि विराम हो, वहाँ कथा-कीर्तन, प्रवचन-सत्संग का आयोजन करें। धर्म धारणा का वातावरण उभारते, लोकमानस को सदाशयता का पक्षधर बनाते सत्प्रवृत्तियों का परिपोषण करते योजनाबद्ध यात्रा पर निकलने को तीर्थयात्रा कहते हैं। तीर्थयात्रा के रूप में प्रब्रज्यारत रहना वानप्रस्थ की परम श्रेयस्कर साधना है॥ ५२-५७॥

गृहस्थ धर्म से निवृत्ति के बाद वातावरण परिवर्तन का माहात्म्य ऋषि ने अभी-अभी समझाया है। अब वे कहते हैं कि वानप्रस्थों को धर्मधारणा का जन-जन तक विस्तार करने के लिए तीर्थयात्रा पर निकलना चाहिए। यह मात्र पर्यटन कौतुक के लिए न हो, अपितु सोद्देश्य हो। एक बार आरण्यक में शिक्षण प्राप्त कर लेने के बाद व्यावहारिक सेवा धर्म की साधना समाज क्षेत्र में करने हेतु सभी को उद्यत रहना चाहिए। तीर्थयात्रा क्रमबद्ध हो, पहले से ही उसके गंतव्यों, कार्यक्रमों एवं उद्देश्यों का योजनाबद्ध निर्धारण कर लिया गया हो। जन-जन में श्रेष्ठता की भावनाएँ भरने के समकक्ष और कोई बड़ी सेवा-साधना नहीं है। एक और बात जो विशेष रूप से यहाँ बताई जा रही है, वह यह कि जहाँ तक संभव हो ऐसी सेवा-साधना पिछड़े क्षेत्रों में संपन्न की जाए। जहाँ ज्ञान का प्रकाश नहीं पहुँचा, दुष्प्रवृत्तियाँ एवं अभाव ही जहाँ संव्याप्त है, वहाँ अपनी सेवाएँ देना सार्थक है।

देहात अभी भी नवयुग के प्रकाश से वंचित है। वहाँ तक पहुँचने में सेवाभावी वानप्रस्थ तीर्थयात्रियों की धर्म प्रचार टोलियाँ ही समर्थ हो सकती हैं।

कस्मादपि च हेतोस्तु येषां वासोऽधिकं नहि।
बहिः संभव एतेऽपि निवासं स्वं तु सद्मनि॥५८॥
स्वीकुर्वंतु कुटुंबस्य सामान्यं हि निरीक्षणम्।
दायित्वस्य धिया चात्र परिवारव्यवस्थितिम्॥५९॥
कार्यं स्वं प्रमुखं ते च लोकमंगलमेव तु।
मन्यन्तां तेषु कार्येषु रुचिं गृह्णन्तु चाधिकाम्॥६०॥
अधिकं समयं तत्र समीपतरवर्तिषु ।
क्षेत्रेषु वाहयन्त्येवं सदैवैभिर्निमित्तकैः ॥६१॥
कार्यक्रमेषु तत्रैवं विधेष्वेव तथाऽऽयुषः।
उत्तरार्द्धं जीवनस्य व्ययीकर्त्तव्यमुत्तमैः॥६२॥

टीका—जिनका कारणवश बाहर रह सकना संभव न हो, वे निवास तो घर पर ही रखें, पर उत्तरदायित्व, परिवार की देखभाल और व्यवस्था भर को सँभालें। अपना प्रमुख कार्य तो लोकमंगल को समझें। इन कार्यों में विशेष रुचि लें और समय का बड़ा अंश इस निमित्त समीपवर्ती क्षेत्रों में ही लगाते रहें। ऐसे ही कार्यक्रमों में संलग्न होकर उत्तम पुरुषों को अपने जीवन का उत्तरार्द्ध बिताना चाहिए॥ ५८-६२॥

अपनी जिम्मेदारियों के पूरा होने के बाद अनिवार्य नहीं कि सभी घर छोड़कर चल दें एवं तीर्थाटन कर जन-जन तक विचारधारा का प्रसार करें। जिनसे यह संभव हो, अवश्य करें। पर जन कल्याण के कार्य घर पर रहकर भी संभव हैं। सारा जीवन उपार्जन में बिता दिया। अब शेष बचे समय को नष्ट होने से बचाना चाहिए एवं जहाँ तक संभव हो, स्वयं को उस पुण्य परमार्थ में नियोजित कर देना चाहिए, जिससे अपने आस-पास का परिकर ही लाभांवित होता रहे।

विगतार्धायुषा पुसां वर्गेणैवं न वंशजाः।
कुटुंबत्वेन विज्ञेयाः केवलं परमत्र तैः ॥६३॥
आत्मीयताऽपि वृद्धिः सा कर्तव्या क्रमशश्च ते।
प्रतिवेशिन एवं च सर्वान् परिचिताँस्तथा॥६४॥
अज्ञातानपि मन्येरन् परिवारगतानिव।
अल्पेभ्यो वंशजेभ्यो न जीवनं यापयंतु ते॥६५॥

समयस्य बृहद्भागं जनान् सर्वान् कुटुंबिनः।
विशालक्षेत्रगान् मत्वा तेषां तत्र समाहितौ॥ ६६॥
समस्यानां तथा तेषामभ्युत्थानविधावपि।
व्ययं कुर्युर्निषिद्धात्र पश्चिमायुषि संततिः॥ ६७॥
विचारपरिवारे तु वंशवृद्धिः सुसंभवा।
मता वसन् कुटुंबे च तत्र संरक्षको भवेत्॥ ६८॥
आधिपत्यं स्थापयेन्न सन्मार्गं शिक्षयेदपि।
खिन्नतां न व्रजेत्तत्रोपेक्षिते शासने निजे॥ ६९॥
यथाऽन्येषु जनेष्वत्र मन्यतेऽप्येनुशासनम्।
बहवो नापि चान्ये तु तत्र नो खेदसंस्थितिः॥ ७०॥
जायते तद्वदेवात्र मान्यता हि कुटुंबजे।
संबंधे पुरुषैः सर्वैर्ज्ञातव्या सुखदायिनी॥ ७१॥

टीका—अधेड़ व्यक्ति मात्र अपने वंशधरों को ही कुटुंबी न समझें, वरन् आत्मीयता के क्षेत्र का विस्तार करें। पड़ोसी, संबंधी एवं परिचितों अपरिचितों को भी कुटुंबवत् मानें। थोड़े से कुटुंबियों के लिए ही न मरते-खपते रहें। समय का एक बड़ा भाग विशाल क्षेत्र में फैले हुए जन समुदाय को अपना कुटुंब मानते हुए, उनके समाधान एवं अभ्युत्थान के लिए लगाते रहें। जीवन के उत्तरार्द्ध में संतानोत्पादन वर्जित है। विचार परिवार के रूप में वंशवृद्धि करते रहने की छूट है। परिवार में रहते हुए भी अपनी स्थिति उस परिकर के संरक्षक जैसी रखें। आधिपत्य न जमाएँ। सन्मार्ग की शिक्षा तो देते रहें, पर न मानने पर मन को खिन्न न करें। जिस प्रकार अन्य लोगों में बहुत से परामर्श को मानते हैं, बहुत से नहीं मानते, तो भी खेद नहीं होता। यही सुखदाई मान्यता घर-परिवार के संबंध में भी रखें॥ ६३-७१॥

मात्र अपने परिवार के, जाति-वंश के व्यक्ति यों को अपना समीपवर्ती मानना, इन्हीं के प्रति अपनी निष्ठा सद्भावना होना, व्यक्ति का सीमित परिधि में समाया हुआ, मोहभाव भर है। वस्तुतः हम निखिल विश्व के, विराट् परिवार के एक अंग हैं। हम सभी के उत्थान आत्मिक प्रगति के लिए उत्तरदाई हैं। उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुंबकम् की शास्त्र उक्ति पर चलते हुए हमें अपने विचार परिकर का निरंतर विस्तार करते रहना चाहिए। जैसे-जैसे हृदय में उदार आत्मीयता का विस्तार होगा, आयु के ढलते जाने पर भी, अपने परिवार के सदस्यों के अपने-अपने दायित्वों के कारण सुदूर स्थानों पर होते रहने पर भी परिवार छोटा नहीं लगेगा। स्वार्थ-परमार्थ में परिणत होगा एवं सारा विश्व, सारा समुदाय अपना परिवार एवं कार्यक्षेत्र प्रतीत होने लगेगा।

एक बात वृद्धजनों के लिए और भी ध्यान में रखने योग्य है। वह यह है कि स्वयं को परिवार के ट्रस्टी के रूप में एक संरक्षक, उत्तरदायी सदस्य मानना, न कि उसका मालिक स्वयं को समझ बैठना। सत्परामर्श देते रहना उनका पुनीत कर्त्तव्य है, किंतु कोई उस पर न चले, तो इससे निराश होने की आवश्यकता नहीं। यह मान्यता विकसित होने पर ही एक लोकसेवी के रूप में विकास अभ्युदय संभव है।

वंशजा अर्थदृष्ट्या चेत् स्वावलंबं गतास्तदा।
सद्प्रयोजनेभ्यस्तु संपदा दीयतां स्वयम्॥ ७२॥
अर्जितं यत्समं तच्च प्राप्नुवंतु कुटुंबगाः।
आवश्यकं न चैतत्तु परं ये स्वाश्रिता नहि॥ ७३॥
अधिकारिण एते हि स्वाभिभावकसंपदः।
विराड्ब्रह्मस्वरूपाय समाजाय यथा नृणाम्॥ ७४॥
कृतं जीवनदानं तत् कालदानं भवेदिह।
तथा कुटुंबदायित्वावशिष्टं लोकभूतये ॥ ७५॥
परंपरेयमेवास्ति धार्मिकानां विवेकिनाम्।
पुण्यदा येन भूरेषा देवभूमिर्निगद्यते ॥ ७६॥

टीका—वंशजीवी यदि आर्थिक दृष्टि से स्वावलंबी हो गए हैं, तो अपनी संपदा सत्प्रयोजनों में लगा दें। जो कमाया जाए, वह सब घर वालों को ही मिले, आवश्यक नहीं। जो स्वावलंबी नहीं, मात्र वे ही अभिभावकों के उपार्जन को उपलब्ध करने के अधिकारी हो सकते हैं। जिस प्रकार विराट् ब्रह्म जनसमाज को समयदान, जीवनदान दिया गया है, वैसे ही पारिवारिक उत्तरदायित्व निर्वाह के उपरांत बचा हुआ धन भी लोकमंगल के लिए समर्पित होना चाहिए। यही विचारशील धर्म परायणों की पुण्य परंपरा है, जिससे यह भूमि सदा देवभूमि कही गई है॥ ७२-७६॥

घर वालों तक ही अपने कुटुंब की सीमा मानने वाले अपना स्नेह दुलार ही नहीं, धन-संपदा का अधिकार भी उन्हीं तक सीमित मानते हैं। अपनी संतानों को स्वावलंबन का शिक्षण दिया जाए, वे उत्तराधिकार में मिलने वाली पूँजी पर निर्भर न रहें। उन्हें यह संस्कार दिए जाएँ कि जो धन समाज के एक-एक घटक के सहयोग से जुटाया गया है, उसका सुनियोजन यथासंभव समाज सेवा में ही हो। विवेक यही कहता है कि जो भी कुछ धन ढलती आयु वाले पुरुषों स्त्रियों के पास शेष बचे, उसे वे अपने विराट् परिवार विश्ववसुधा को ऊँचा उठाने में लगा दें।

परिवर्तनशीलास्तु रीतयः सर्वदैव ताः।
नवे युगे नवेनैव विधिना निर्वहेज्जनः ॥ ७७॥
जीवनं स्वं समैरत्र देया स्वीकृतिरञ्जसा।
अनीतिगानां कार्याणां विरोधः कार्य एव च॥ ७८॥
बाह्यानि तानि कार्याणि गृहस्थान्यपि वा पुनः।
प्रेम्णैव व्यवहर्तव्यं सेव्याः सर्वे यथोचितम् ॥ ७९॥
मोहोऽनावश्यकः कार्यः परेषु स्वेषु वाऽपि न।
आहारस्य च मात्रां तां वार्द्धक्येऽल्पां समाश्रयेत्॥ ८०॥

सुपाच्यानि च वस्तूनि सात्विकानि सदैव हि।
ग्राह्याणि हृदयं नित्यं प्रसन्नं तुलितं भवेत्॥ ८१॥
क्षोभं नैव व्रजेत्तत्र येषु केषु विधिष्वपि।
न्यूनत्वमधिकारे तु कर्तव्ये विस्तरो भवेत्॥ ८२॥
सन्मार्गो गंतुमेवात्र प्रेरणां सन्ततं शुभाम्।
सर्वेभ्यस्तु जनेभ्योऽत्र निर्विशेषं प्रदीयताम्॥ ८३॥
भेदं स्वस्य परस्यात्र न कुर्युः स्युश्च साधना।
स्वाध्यायः संयमः सेवा वानप्रस्थेऽच्छमद्भुतम्॥ ८४॥

टीका—प्रथाएँ परिवर्तनशील हैं। नई पीढ़ी को अपने ढंग से गुजर करने की छूट देनी चाहिए। असहयोग और विरोध, अनैतिक कार्यों के करना ही चाहिए, भले ही कोई बाहर का हो या घर का। प्रेम सबसे करें। सेवा यथोचित रीति से सभी की करें, पर अनावश्यक मोह अपने-पराए किसी के प्रति भी नहीं होना चाहिए। वृद्धावस्था में आहार की मात्रा घटा दें। सुपाच्य सात्विक वस्तुएँ ही ग्रहण करें। मन को प्रसन्न एवं संतुलित रखें। जिस-तिस बात पर खीजें नहीं। कर्तव्य क्षेत्र का विस्तार करें और अधिकार को समेटें। सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा सभी को समान रूप से देते रहें। इसमें अपने-पराए का अंतर न करें। साधना, स्वाध्याय, संयम और सेवा का कार्य वानप्रस्थ मन:स्थिति में ही भली प्रकार बन पड़ते हैं॥ ७७-८४॥

वृद्धों को पुरानी लीक से नहीं बँधे रहना चाहिए। समय के साथ चलना सीखना चाहिए। दो पीढ़ियों में जो आयु का अंतर है, वह विचारों-मान्यताओं का अंतर न बन जाए, इसका सदा ध्यान रहे। यदि युवक अपनी राह चलना चाहते हैं, तो उन्हें सही दिशा तो देनी चाहिए, किंतु उनके मार्ग में अपनी दुराग्रही मान्यताओं के रोड़े नहीं अटकाने चाहिए। उनकी भावनाओं का सम्मान हो। घर वालों के प्रति स्नेह स्वाभाविक है, पर यह एक सीमा तक ही उचित है। अतिशय मोह तो पुत्रेषणा-वित्तेषणा का रूप लेकर नारकीय गर्त में ले जाता है। सभी अपने हैं, यह मानकर सबको सत्परामर्श दें। मन सदैव शांत हो। किसी के कहे पर अनावश्यक मनमुटाव बढ़ाना ठीक नहीं। गरिमा इसी में है कि अपना बड़प्पन बनाए रखा जाए। श्रेष्ठ कार्य करने को तो सारा जीवन है। किंतु वानप्रस्थाश्रम हर दृष्टि से साधना के लिए उचित समय है।

आत्मानं चाधिकं सेवाभाविनं संयमान्वितम्।
उपकाररतं चैवमुदारं कुर्वतो भवेत् ॥ ८५॥
परलोकोऽपि शांतः स सुखयुक्तश्च सर्वदा।
हितं स्वस्य जनानां च स्वानामपि भेवद्ध्रुवम्॥ ८६॥
व्यतीतार्धवयोभिस्तु वृद्धैरपि जनैरिह।
अनुभूतमिवाद्याशु प्रकाशो नव्य उत्तमः॥ ८७॥
यौवनं नवमेवैदतद् भविष्यन्नवमेव च।
नवः कार्यक्रमश्चैव यथा तैराप्यतेऽद्य तु॥ ८८॥
वार्ता प्रचलनाऽभावे नैवाप्ताया स्वयं तु तैः।
हितैरपि न कैश्चित्तु बोधिताऽधिगता तु सा॥ ८९॥
अन्वभूवन समे पर्वस्नानस्यात्र तथैव च।
फलं तीर्थस्य यात्रायाश्चापि प्रत्यक्षमुत्तमम्॥ ९०॥
परामर्शमिमं सर्वे कर्तुं कार्यान्वितं च ते।
निश्चयं चक्रुरत्रैके बहवो गंतुमुत्सुकाः॥ ९१॥
वानप्रस्थे व्रतं दिव्यं कर्तुं संस्कारकालजम्।
पुण्यस्थाने मुहूर्ते च चेच्छां व्यक्तां व्यधुर्नराः॥ ९२॥
तेषां कृते द्वितीयेऽह्नि प्रातः संस्कारकं विधिम्।
वानप्रस्थस्य कर्तुं सा व्यवस्था सूचिताऽपि च॥ ९३॥

टीका—अपने को अधिकाधिक संयमी, सेवाभावी और उदार परोपकारी बनाते चलने से परलोक सुख शांतिमय बनता है। अपना तथा संबंधियों का भी हित होता है। अधेड़ों और वयोवृद्धों ने आज के प्रवचन में ऐसा अनुभव किया, मानों उन्हें नया प्रकाश यौवन, नया भविष्य और नया कार्यक्रम मिला हो। प्रचलन के अभाव में जो बात उन्हें अपने आप नहीं सूझी, किसी हितैषी ने भी नहीं सुझाई, वह इन्हें आज के प्रवचन द्वारा उपलब्ध हुई। उनने अनुभव किया कि पर्व स्नान का, तीर्थयात्रा का पुण्य फल उन्हें प्रत्यक्ष मिल गया। उनने इस परामर्श को तत्काल क्रियान्वित करने का निश्चय किया। कितने ही वानप्रस्थ में प्रवेश करने का व्रतसंस्कार करने के लिए इस पुण्यस्थान में इसी मुहूर्त में करने की इच्छा प्रकट करने लगे। उनके लिए दूसरे दिन प्रातः काल वानप्रस्थ संस्कार विधिवत् कराने की व्यवस्था सुना दी गई॥ ८५-९३॥

आत्मसंयम की साधना जब लोकसेवा के साथ-साथ चलती है, तो अपना हित साधन तो होता ही है, यह जीवन भी श्लाध्य बन जाता है, आगे वाले जन्मों के लिए संस्कारों की निधि एकत्र कर ली जाती है। यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। जो लोग यह सोचते हैं कि परमार्थ से मात्र दूसरों का ही कल्याण होता है, स्वयं को मरना-खपना अलग पड़ता है, उनके लिए यहाँ एक क्रांतिकारी विचार देते हुए ऋषि कहते हैं कि परमार्थ में ही स्वार्थ निहित है। निश्चित ही सुग्राह्य प्रतिपादनों के साथ प्रस्तुत इस मान्यता ने वृद्धों के चिंतन को गहराई से प्रभावित किया।

उपदेशेन चानेन जनैर्जीवनसाधने।
नवः प्रकाश आप्तोऽतो जीवनं तरुणायितम्॥ ९४॥
युवानश्चापि तत्रत्या उत्तरार्द्धस्य चिन्तितुम्।
विषये सज्जिता जाता वर्तमानविनिर्मितेः॥ ९५॥
शुभमुत्तरमायाति तेषां बुद्धिरभूत्तदा।
आनंदस्यातिरेकेण ह्ययोताः प्रोता इवात्र ते॥ ९६॥

श्रोतारः सर्व एवैते सत्रे यातेऽवसानताम्।
विसर्जिता ययुर्वासान् गताः संयमिनामिव।
ऋषीणां तुल्यतां सर्व ऋषिरक्त धरा यतः॥ ९७॥

टीका—प्रवचन से सभी ने जीवन साधना के संदर्भ में नया प्रकाश प्राप्त किया, जिससे उन्हें जीवन में तारुण्य का सा अनुभव हुआ। तरुण भी उत्तरार्द्ध की तैयारी की बात सोचने लगे। वर्तमान के निर्माण में संयम में सुखद उभरेगा, यह उन्होंने भली-भाँति विचार लिया। आनंद से ओत-प्रोत मन:स्थिति में सभी श्रोतागण सत्र समाप्त होने पर विसर्जित हो गए। आज वह संयमी ऋषियों के तुल्य प्रतीत हो रहे थे, ऐसा क्यों न होता, जब उनकी धमनियों से ऋषियों का ही रक्त प्रवाहमान था॥ ९४-९७॥

॥ इति श्री मत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,
श्री धौम्य ऋषि प्रतिपादिते वृद्धजन माहात्म्य इति प्रकरणो नाम पञ्चमोऽध्यायः॥

॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

सुसंस्कारिता-संवर्द्धन प्रकरण

भावनानां विचाराणामाकांक्षाणामथापि च।
गतिविधेरपि चौत्कृष्ट्यान्मानवोऽभ्येति प्रोन्नतिम्॥ १॥
अग्रेचरित्रदृष्ट्या च वर्द्धते सोऽन्यथा त्विह।
पूर्वजन्मकुसंस्कारा जीवने प्रभवन्त्यलम्॥ २॥
उदरपूर्तितया वंशवृद्धिहेतोश्च केवलम्।
पशुचेष्टाभिलग्नत्वाद् व्यर्थतामेति जीवनम्॥ ३॥
हेतुनाऽनेन सर्वेषां वर्तमानमथापि च।
भविष्यज्जायते नूनमंधकारमयं नृणाम् ॥४॥
ऋषेर्धौम्यस्य बुद्धौ च प्रसंगोऽद्यायमुत्थितः।
चिंतयामास सोऽजस्रं निवृता ये कुटुंबतः॥५॥
तेभ्यो विचारा देयास्तु लग्नैर्भाव्यं कथं च तैः।
चतुर्षु पुरुषार्थेषु सेवासत्संगयोरथ ॥६॥
स्वाध्याये साधनायां च धौम्यस्यैस्तत्तु चिंतनम्।
गतिशीलमभूद् द्वारं प्रगतेरपि सुंदरम् ॥७॥

टीका—भावना, विचारणा, आकांक्षा और गतिविधियों की उत्कृष्टता का समावेश करके ही मनुष्य ऊँचा उठता है और बढ़ता है, अन्यथा विगत योनियों के कुसंस्कार ही मनुष्य जीवन पर छाए रहते हैं। पेट प्रजनन की पशु प्रवृत्तियों में संलग्न रहकर मनुष्य जीवन निरर्थक जाता है। इस कारण वर्तमान और भविष्य भी अंधकारमय बनता है। धौम्य ऋषि के मस्तिष्क में आज यही प्रसंग छाया हुआ था। वे सोचते रहे कि परिवार से निवृत्त हुए अथवा परिवार की जिम्मेदारी से युक्त जनों को साधना, स्वाध्याय, सत्संग और सेवा के चार महापुरुषार्थों में किस प्रकार संलग्न होना चाहिए इसका परामर्श दिया जाए। महर्षि का चिंतन गतिशील था, वह प्रगति के भव्य द्वार की तरह प्रतीत होता था॥ १-७॥

आत्मिक्याः प्रगतेर्हेतोर्नितान्तं सम्मतानि तु।
प्रयोजनानि चत्वारि गदितुं तु समागतान्॥ ८॥
महर्षिर्निश्चिकायाथ प्रतिपाद्यमिदं जगौ।
संबोध्य जनतां धौम्य आह चैवं स पूर्ववत्॥ ९॥

टीका—आत्मिक प्रगति के लिए नितांत आवश्यक इन चार प्रयोजनों को उपस्थित लोगों के गले उतारने का महर्षि ने निश्चय किया। यही आज के प्रवचन का विषय भी बनाया। जन समुदाय को संबोधित करते हुए, उन्होंने अपना वक्तव्य जारी रखा॥ ८-९॥

जीवन की भावी दिशाधारा क्या हो, कैसे गृहस्थ जीवन में रहते हुए अथवा निवृत्ति के उपरांत स्वयं को आत्मिक प्रगति की दिशा में प्रवृत्त किया जा सके? यह ऊहापोह जनसाधारण के मन में होना स्वाभाविक है। आध्यात्मिक सिद्धांतों को सुग्राह्य बनाने एवं जीवन में उतारने की सही दिशा हेतु ही विद्वज्जन कथा-सत्संग का आश्रय लेते हैं। महर्षि धौम्य सुसंस्कारिता के जीवन में समावेश हेतु अनिवार्य चतुर्विध सोपानों, जीवन साधना, स्वाध्याय परायणता, सत्संग एवं सेवा-आराधना की व्याख्या प्रस्तुत प्रसंग में कर रहे हैं।

असंस्कृता नराश्चात्र समाजे बहवः सदा।
भवन्त्येव सुयोग्यानां दृश्यते न्यूनता तथा॥ १०॥
कत्तृणानि तु सर्वत्र प्राय एवोद्भवन्त्यलम्।
दुर्लभौषधयो गुण्याः क्वचनैव शुभे स्थले॥ ११॥
भृशमन्वेषणादेव लभ्यंते कुत्रचिज्जनैः।
बहुसंख्यकवर्गेण सह संपर्ककारणात् ॥ १२॥
अविकासं गतास्वासु व्यक्तिषु प्रतिकूलगः।
प्रभावोऽवाञ्छनीयोऽ पतत्येव निरंतरम् ॥ १३॥
प्रवाहे वहनं नृणां सरलं भवतीत्यतः।
कुटुंबगेषु मर्त्येषु समीपतरवर्तिनः ॥ १४॥

वातावरणकस्यै वा वाञ्छितः प्रपतत्यलम्।
प्रभावोऽस्मात्सुरक्ष्यं च संकटाद्धि कुटुंबकम्॥ १५॥
अन्यथा तु निजादर्शप्रयासेषूत्तमेष्वपि।
व्याप्ता वातावृतिः स्वेषु गृहेषु प्रभविष्यति॥ १६॥
तत्रत्यांश्च सदस्यान् सा पतनस्य तथैव च।
पराभूतेर्महागर्ते नेष्यत्येव न संशयः ॥ १७॥

टीका—समाज में अनगढ़ लोग बहुत रहते हैं। सुयोग्यों की कमी पाई जाती है। घास-पात सर्वत्र उगते हैं, किंतु गुणकारी दुर्लभ औषधियाँ कहीं-कहीं ही उगती हैं और बहुत ढूँढ़ने पर कठिनाई से ही कहीं मिलती हैं। इस बहुमत के साथ प्रत्यक्ष संपर्क रहने से अविकसित व्यक्ति यों पर प्रतिकूल अवांछनीय प्रभाव पड़ता है। प्रवाह में बहना सरल पड़ता है। इसलिए परिवार के लोगों में समीपवर्ती वातावरण की अवांछनीयताएँ घुस पड़ती हैं और बुरा प्रभाव डालती हैं। इस संकट से बचना आवश्यक है, अन्यथा निजी आदर्श और प्रयास उत्तम होने पर भी संव्याप्त वातावरण अपने घर को भी प्रभावित करेगा और उन्हें पतन के गर्त में घसीट लेगा, इसमें संदेह नहीं॥ १०-१७॥

जन समुदाय श्रेष्ठ, निकृष्ट सभी स्तर के व्यक्ति यों का समुच्चय है। यहाँ बाहुल्य सामान्यतया ऐसे ही व्यक्ति यों का है, जो शिश्नोदर परायण होते हैं। जिनकी चिंतन परिधि सीमित होती है। इसके अतिरिक्त कमजोर मन:स्थिति वालों पर उनके अधोगामी चिंतन का प्रभाव भी सतत् पड़ता रहता है। प्रचलन में सामान्यतया निकृष्टता संव्याप्त है। पतन का मार्ग आकर्षक होने के कारण सबको सरल दिखाई भी पड़ता है। स्वयं के विवेक का प्रयोग न कर पाने की स्थिति में प्रवाह में बहने लगना स्वाभाविक है। परिवार संस्था पर यह तथ्य विशेष रूप से लागू होता है। दुष्प्रवृत्तियों के प्रभाव से परिवार के सदस्य अपने सुसंस्कारों को भुलाकर गलत दिशा में न चल पड़ें, इसके लिए अनिवार्य है कि परिवार के प्रमुख एवं अन्य सभी वरिष्ठजन उत्कृष्टता का वातावरण बनाए रखने का प्रयास करते हैं। इस ओर उपेक्षा बरतने से स्वयं के सही होने पर भी परिवार के अन्य सदस्यों को अप्रभावित नहीं रहने दिया जा सकता। अत: स्वयं को सुधारने, ऊँचा उठाने के साथ-साथ ऐसा वातावरण बनाया जाना भी जरूरी है, जहाँ सत्प्रवृत्तियाँ स्वयं पनपें, जिनके कारण अधोगामी प्रवृत्तियाँ अपना असर किसी की मन:स्थिति पर डाल न पाएँ। परिवार में धार्मिकता-आस्तिकता का वह वातावरण बनाया जाना चाहिए जिसमें परिवार के सदस्यों को सुसंस्कारिता का पोषण मिल सके। इसके लिए परिवार में कुछ सत्प्रवृत्तियों को विकसित और प्रचलन करने के लिए प्रयास किया जाना चाहिए। इस तरह की सत्प्रवृत्तियों में पाँच प्रमुख हैं, जिन्हें पंचशील कहा गया है।

वातावृतिस्तथाऽऽस्तिक्यभावनाया भवेदपि।
परिवारेषु सर्वेषु तथैवाराधना प्रभोः॥ १८॥
उपासना च संयुक्ता भवेच्च नित्यकर्मणि।
निश्चेतव्योऽपि कालश्च कथाकीर्तनयोः कृते॥ १९॥
बाधा वक्तुं निजाः सर्वा अन्येषां च परिस्थितीः।
ज्ञातुं च समयः सर्वैः लभ्येतेति विचिन्त्यताम्॥ २०॥
आदानं च प्रदानं च विचाराणां हि दैनिकम्।
यत्र स्यान्न भवेत्तत्र मनोमालिन्यमण्वपि॥ २१॥
प्रायस्ते कलहा भ्रांतेः कारणादुद्भवन्त्यतः।
अनिष्टमेतदुत्पन्नमात्रं सर्वैर्निवार्यताम् ॥ २२॥
न वर्द्धन्ते ततस्ते च गोष्ठ्यस्तस्मान्नरैः समैः।
प्रतिसप्ताहमेवात्र कर्त्तव्या हितकारिणी॥ २३॥
स्वाध्यायार्थं गृहस्यैव पुस्तकालय एव तु।
भवेद् येन सुसाहित्यं जीवनस्योपयोगि तत्॥ २४॥
प्रत्येकेन सदस्येन लब्धुं शक्येत वाऽञ्जसा।
उपासना - गृहास्तत्र पुस्तकालय एव च॥ २५॥
प्रत्येकस्य गृहस्थस्य कृते त्वावश्यकं मतम्।
गृहेषु येषु नैतानि दुर्भाग्येन युतास्तु ते ॥ २६॥

टीका—हर परिवार में आस्तिकता का वातावरण रहे। उपासना-आराधना को नित्यकर्म में सम्मिलित रखा जाए। कथा-कीर्तन, पारिवारिक गोष्ठियों के लिए कोई नियत समय रहे। सभी को अपनी अड़चनें कहने और दूसरों की परिस्थितियों को समझने का अवसर मिले। जहाँ विचार-विनिमय चलता रहता है, वहाँ मनोमालिन्य नहीं पनपता। भ्रांतियों के कारण ही अधिकांश कलह विग्रह खड़े होते हैं। ऐसी अवांछनीयताओं को पनपते ही रोका-टोका जाए, तो वे बढ़ने नहीं पातीं। इस प्रयोजन के लिए सप्ताह में एक बार विचार गोष्ठियों का क्रम चलता रहे। स्वाध्याय के लिए घरेलू पुस्तकालय रहें, जिससे जीवनोपयोगी साहित्य हर सदस्य को पढ़ने या सुनने के लिए उपलब्ध हो सके। उपासना गृह और पुस्तक मंदिर प्रत्येक सद्गृहस्थ की महती आवश्यकताएँ हैं। जिस घर में ये न हों, उसे दुर्भाग्यग्रस्त ही कहा जाएगा॥ १८-२६॥

सत्प्रवृत्तियों को स्थान मिले, इसके लिए अनिवार्य है कि ऐसा वातावरण पारिवारिक परिसर में बनाया जाए कि अधोगामी प्रवृत्तियाँ अपने पैर ही न जमा सकें। देव संस्कृति की कुछ अभूतपूर्व देन अपने देश भारत वर्ष को मिली है, जिन्हें अमूल्य थाती समझा जा सकता है। कथा-सत्संग, उपासना एवं जीवन साधना, स्वाध्याय शीलता एवं पारस्परिक विचार विनिमय द्वारा अपनी गुत्थियों एवं भ्रांतियों का निवारण ये कुछ ऐसे अवलंबन हैं, जिनकी आवश्यकता किसी न किसी रूप में हर परिवार को, परिवार के हर सदस्य को है।

सुसंस्कारिता उपार्जन हेतु इन्हें वरीयता दी जानी चाहिए। आज के आधुनिकता प्रधान युग में तो इनकी महत्ता और भी अधिक बढ़ गई है।

परिवार संस्था में विभिन्न आयु एवं चिंतन के सदस्य होते हैं। उनके सोचने की शैली अलग-अलग हो सकती है, किंतु इससे अनावश्यक वाद-विवाद अथवा विग्रह न खड़ा हो, इसके लिए पारिवारिक गोष्ठियों का, सप्ताह में किसी दिन किसी समय, सुविधानुसार आयोजन होता रहे, ताकि सबको खुलकर कहने का अवसर मिल सके। इससे एक-दूसरे के प्रति किसी प्रकार की दुर्भावना को विकसित होने जैसे विषवृक्ष पनपने नहीं पाएगा।

स्वाध्याय में प्रमाद न बरता जाए, यह शास्त्र वचन है। नित्य प्रति के कुसंस्कार जो प्रभाव हमारे चिंतन पर डालते हैं उन्हें श्रेष्ठ पुस्तकों, विचारों के साहचर्य से मिटाकर सोचने की शैली परिमार्जित की जा सकती है। साथ ही इसमें ज्ञानवृद्धि का सुयोग तो है ही। कषाय-कल्मषों के परिशोधन हेतु ऐसी ही उपयोगिता उपासना गृह की भी है। चाहे व्यक्ति किसी भी धर्म, संप्रदाय का हो साकार अथवा निराकार उपासना को मानने वाला हो, वह पारिवारिक जनों में आस्तिकता के बीजांकुर रोपने हेतु उपासना स्थलों की सहायता लेता रह सकता है।

यथा शरीरवस्त्रोपकरणानामथापि च।
पात्राणां भवनादेश्च स्वच्छता दैनिकी मता॥ २७॥
सदस्यानां कुटुंबस्य हृदयेषु चराण्यपि।
मालिन्यादीनि नित्यं हि विनाश्यानि शुभेक्षणे॥ २७॥
तेषां स्थाने सुसंस्कारान् स्थापयेदीदृशांस्तु ये।
व्यवहारेषु प्रत्यक्षं दृश्यंते क्वचिदेव तु॥ २९॥
कर्हिचित्तु परं पृष्ठेष्वितिहासस्य वा पुनः।
पुराणस्य च विद्यंते गाथाः स्वर्णाक्षरांकिता॥ ३०॥

टीका—जिस प्रकार शरीर, वस्त्र, बरतन, उपकरण, मकान, फर्श आदि की नित्य सफाई की जाती है, उसी प्रकार परिवार के सदस्यों के मनों पर जमने वाले नित्य के छाए गुबार की दैनिक सफाई ठीक समय पर होनी चाहिए। उसके स्थान पर ऐसे सुसंस्कार बोए जाने चाहिए, जो प्रचलन में प्रत्यक्ष तो कभी-कभी कहीं-कहीं ही दीखते हैं, किंतु इतिहास-पुराणों के पृष्ठ उनकी कथा-गाथाओं के स्वर्णाक्षरों से भरे पड़े हैं॥ २७-३०॥

अंत:करण की निर्मलता ही व्यक्ति को ऊँचा उठाती है। बाहर से कोई कैसा भी दीखे इससे क्या, मन साफ होना चाहिए। वातावरण के प्रभाव से कुसंस्कार अपनी प्रतिक्रिया निश्चित ही दिखाते हैं। इनकी नित्य प्रतिदिन सफाई होनी चाहिए एवं पवित्र श्रेष्ठ संस्कारों का बीजारोपण हो, इसके लिए परोक्ष रूप से प्रेरणाप्रद उदाहरणों को सामने रख उनसे शिक्षा ली जानी चाहिए। इसके लिए स्वयं को परिष्कृत करना पड़ता है। गलने के लिए सतत् तत्पर रहना होता है।

आदर्शानां प्रतिष्ठा तु गृहेष्वावश्यकी मता।
उपायः सरलश्चात्रादर्शवादि नृणां समे॥ ३१॥
श्रावयंतु जनान् स्वांस्तु चरितानि महांति हि।
यान्नराननुकर्तुं च नीतिरस्माभिरिष्यते ॥ ३२॥
एतदर्थं च सर्वेषु पूजास्थाने गृहेषु तु।
भवेदेवाप्यलंकारमञ्जुषेव गृहस्य सः ॥ ३३॥
पुस्तकालय एकस्तु यमाश्रित्य च शिक्षिताः।
आप्तवाक्यानि जानंतु श्रावयंत्वप्यशिक्षितान्॥ ३४॥
वस्त्राणां खाद्यवस्तूनां दैनिकी साऽनिवार्यता।
भवत्यपेक्षितैवं हि ज्ञानस्याऽस्मिन् हि मंदिरे॥ ३५॥
नित्यं सम्मिलितं तत्स्यात् साहित्यमुत्तमं मता।
जीवनस्य विकासाय स्वाध्यायस्यानिवार्यता॥ ३६॥
अस्याः पूर्त्यै स्थापना स्याद् गृहेष्वत्र समेष्वपि।
ज्ञानमंदिरसंज्ञानां पुस्तकालयरूपिणाम् ॥ ३७॥

टीका—घर में आदर्शों की प्रतिष्ठापना आवश्यक समझी जानी चाहिए और इसके लिए उपाय सरल यही है कि उन आदर्शवादी महामानवों की चरित्र गाथाएँ परिजनों के सामने प्रस्तुत की जा सकें, जिनके अनुकरण करने की बात सोची और रीति-नीति अपनाई जा सके। इस हेतु हर घर में पूजा स्थान, आभूषण रखने की पिटारी की भाँति ही एक घरेलू पुस्तकालय होना चाहिए, जिसके सहारे घर के शिक्षितों को, आप्तजनों के परामर्श से पढ़ने तथा अशिक्षितों को सुनाने के लए मिलते रहें। जिस प्रकार वस्त्रों की खाद्य पदार्थों की आवश्यकता आए दिन पड़ती है, इसी प्रकार के ज्ञान मंदिर कक्ष में भी नित्य सत्साहित्य सम्मिलित किया जाना चाहिए। स्वाध्याय जीवन विकास की महती आवश्यकता है। इसकी पूर्ति में घरेलू ज्ञान मंदिरों की स्थापना होनी चाहिए॥ ३१-३७॥

यहाँ पुरुषों की जीवन गाथाएँ आदर्शों के व्यावहारिक शिक्षण के लिए सर्वोत्तम हैं। उन्होंने जीवन में किस तरह कठिनाइयों के बीच से निकलते हुए विभिन्न परिस्थितियों का साहस से मुकाबला किया, किस तरह से प्रखरता अर्जित करते हुए वे वर्तमान स्थिति तक पहुँच पाए, इतिहास में यश-कीर्ति पा सके? यह घटनाओं के माध्यम से भली-भाँति हृदयगंम किया जा सकता है। हमारे दैनंदिन जीवन में जिस तरह शरीर को जीवित बनाए रखने के लिए खाद्य की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार मानसिक आहार के रूप में सत्साहित्य की व्यवस्था यदि होती चले, तो समग्र विकास संभव है। श्रेष्ठ विचारों की आवश्यकता को आत्मिक प्रगति

के लिए भली-भाँति समझते हुए हर घर परिवार में ऐसे शिक्षण की व्यवस्था की जा सकती है, हर परिजन में सत्साहित्य के प्रति रुचि जगाई जा सकती है।

कौटुंबिकाय नित्यं च सत्संगाय भवेदपि।
शुभः कथा प्रसंगस्तु शुभसंस्कारदायकः ॥ ३८ ॥
कथा श्रोतुं समाना वै रुचिः पुसां भवत्यलम्।
बालानामथवृद्धानां नारीणामथवा नृणाम्॥ ३९ ॥
व्यवस्थायाञ्च जातायामस्यामत्र भवत्यलम्।
मनोरञ्जनमस्त्येव कुटुंबस्य प्रशिक्षणम्॥ ४० ॥
दुश्चिंतन परित्यागसद्विचारग्रहस्य च।
शिक्षा प्रत्यक्षतो नैव लोके रुचिकरा नृणाम्॥ ४१ ॥
अत्र तेऽनुभवन्त्येव स्वापमानमिवाथ च।
अहंत्वात्सत्परामर्शं श्रोतुंस्वस्मिंश्च तुच्छताम्॥ ४२ ॥
अनुभवंति न सज्जन्ते तच्छ्रोतुं बोद्धुमेव वा।
लाभदाऽतः परोक्षेण शिक्षा साऽऽदर्शवादिनी॥ ४३ ॥

टीका—पारिवारिक सत्संग के लिए घर में नित्य का शुभ संस्कारमयी कथा-प्रसंग चलना चाहिए। कथा कहने-सुनने में बाल-वृद्ध, नर-नारी सभी को समान रूप से अभिरुचि होती है। इसकी व्यवस्था चल पड़ने पर उपयोगी मनोरंजन भी होता है। इसकी व्यवस्था चल पड़ने पर उपयोगी मनोरंजन भी होता है और प्रशिक्षण का सुयोग भी बनता है। दुश्चिंता न छोड़ने और सद्विचार अपनाने की प्रत्यक्ष शिक्षा लोगों को सामान्यतया रुचती नहीं। इसमें वे अपना अपमान अनुभव करते हैं। अहंकारवश वे सत्परामर्श सुनने में अपनी हेठी मानते हैं, उन्हें सुनने-समझने तक को तैयार नहीं होते। इसलिए आदर्शवादी शिक्षा को कथा-प्रसंगों के माध्यम से परोक्ष रूप से देने में ही लाभ है॥ ३८-४३ ॥

सत्संग ज्ञान गोष्ठी का सबसे अच्छा स्वरूप है कथानकों दृष्टांतों के माध्यम से सुसंस्कारों का शिक्षण। इसके दो लाभ हैं। सुरुचिपूर्ण एवं सुग्राह्य होने के कारण वे नीरसता न पैदा कर स्वस्थ मनोरंजन भी करते हैं, साथ ही परोक्ष रूप से शुभ प्रेरणाएँ भी देते हैं। किसी को सुधारने के लिए सीधे कोई नैतिक शिक्षा न देकर, उसके अहं को चोट पहुँचाए बिना, उसी बात को कथा-प्रसंगों के माध्यम से कह दिया जाए। यह शैली शिष्टाचार की दृष्टि से भी उचित है एवं देव संस्कृति की परंपरा का एक अंग होने के कारण सबको अनुकूल पड़ती है। सत्संग भी महापुरुषों का ही होना चाहिए अथवा उसकी पूर्ति सत्साहित्य के माध्यम से की जानी चाहिए, अन्यथा तथाकथित नाम वेशधारी बाबाओं, कुचालियों और वाक् जंजाल में उलझाने वाले व्यक्तियों का सत्संग तो उलझन और भ्रम ही पैदा करते हैं। ज्ञानार्जन के लिए सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन के लिए कथा-प्रसंगों का स्वाध्याय, श्रवण-मनन सबके लिए सर्वसुलभ पड़ता है। ज्ञान प्राप्त करने के लिए वर्ग एवं आयु का कोई निर्धारण नहीं, वह सबके लिए समान है।

गोलिकाऽप्यञ्जसा कट्वी निगीर्या शर्करावृता।
भवत्येव कथास्वत्र मनोरञ्जनमप्यलम् ॥ ४४ ॥
प्रशिक्षणं परोक्षेण भवत्यपि सुयोजितम्।
अनुभवाच्छिक्षितंलोकैर्व्यक्तित्वोत्कृष्टताविधेः ॥ ४५ ॥
कृते नैवास्ति कोऽप्यत्र सरलो विधिरुत्तमः।
प्रभावयुक्तो वा नूनमृते योग्य - कथाविधिम्॥ ४६ ॥
कारणं चेदमेवास्ति सूत-शौनकयोर्मुखात्।
अष्टादशपुराणानि ख्यातान्युपपुराणकैः ॥ ४७ ॥
यथा ताश्च भवन्त्येवं जनास्ताः प्रभवन्त्यपि।
अज्ञातायां दिशायां च वहन्त्यत्र बलादिव॥ ४८ ॥

टीका—कड़ुवी गोली को चीनी में लपेटकर देने से, उसे आसानी से गले उतार लिया जाता है। कथाओं में रोचक मनोरंजन भी होता है और परोक्ष प्रशिक्षण भी। इसलिए अनुभव ने यह सिखाया है कि व्यक्तित्व में उत्कृष्टता का समावेश करने के लिए उपयुक्त कथा-प्रसंगों से बढ़कर और कोई सरल एवं प्रभावी तरीका नहीं है। यही कारण है कि सूत-शौनक के मुख से अठारह पुराण और अठारह उपपुराण कहलाए गए। वे कथाएँ जैसी भी भली-बुरी होती हैं, दर्शकों पर वैसा प्रभाव भी निश्चित रूप से डालती हैं और व्यक्ति अज्ञात दिशा की ओर अनचाहे भी जबरदस्ती बहने लगता है॥ ४४-४८ ॥

सुसंस्कारों का उपार्जन, अभिवर्द्धन एक समय-साध्य कष्टकर प्रक्रिया है। ढर्रे को तोड़कर सत्प्रवृत्तियाँ अपनाना कोई सरल काम नहीं। इसी कारण आर्ष साहित्य के माध्यम से ऋषिगणों ने कथा-प्रसंगों पर अत्यधिक जोर दिया। इससे जटिल आध्यात्मिक प्रतिपादन भी जन साधारण के गले उतरते चले गए। १८ पुराण, १८ उपपुराण, पंचतंत्र की कथाएँ, ईसप की कथाएँ इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। पुरातन काल में ज्ञान संगम के रूप में विचार गोष्ठियाँ कथानकों के माध्यम से ही चलती थीं। इनका प्रभाव परोक्ष रूप से सुनने अथवा पढ़ने वालों पर अवश्य पड़ता है, इसलिए विचार परिवर्तन हेतु कथानकों का आश्रय लिया ही जाना चाहिए।

प्रज्ञापुराणमस्माच्च कथाग्रंथानुरूपगः ।
कालिकीनां स्थितीनां मार्गदर्शक उत्तमः॥ ४९ ॥
अस्य चाख्यायिकास्तस्मादैतिह्यादिकमप्यलम्।
गृहेषु वक्तुं युज्यंते यथा मातामही कथाः॥ ५० ॥
वयोवृद्धास्तु शृण्वंति श्रीमद्भागवतं तथा।
रामायणादिकं यच्च युवभ्योऽपि हि रोचते॥ ५१ ॥
व्यस्ता अपि च तच्छ्रोतुं पठितुं चोत्सुकाश्च ते।

परिवारस्तरं कर्तुमुच्चगं तस्य तेषु च॥ ५२॥
सदस्येषु विधातुं च शालीन्योदयमुत्तमम्।
क्रमः कथाप्रसंगानामत्र स नियमोभवेत्॥ ५३॥
प्रभवेद्दैनिकोऽभ्यासो जीवनं कर्तुमुन्नतम्।
दैनिकक्रममस्माच्च न कदाचित्परित्यजेत्॥ ५४॥

टीका—प्रज्ञापुराण सामयिक परिस्थितियों के अनुरूप मार्गदर्शन करने हेतु अत्यंत उपयोगी कथाग्रंथ है। इसकी कहानियाँ इसमें दिया गया इतिहास आदि घरों में उसी प्रकार कहा जाना चाहिए, जैसा कि छोटे बच्चों को नानी की कहानियाँ सुनाई जाती हैं। वयोवृद्ध रामायण, भागवत आदि की पुराणकथा पढ़ते-सुनते रहते हैं। युवा वर्ग को भी वे कम पसंद हों ऐसी बात नहीं, व्यस्त रहते हुए भी वे उन्हें पढ़ने-सुनने के लिए उत्सुक रहते हैं। परिवार का स्तर ऊँचा उठाने के लिए उसके सदस्यों में अधिक शालीनता का समावेश करने के लिए नियमित कथा-प्रसंगों का प्रवचन होना चाहिए। दैनिक अभ्यास ही जीवन को उन्नत बना सकता है, इसीलिए दैनिक कार्यक्रमों को कभी छोड़ना नहीं चाहिए॥ ४९-५४॥

परिवार संस्था में अच्छे संस्कारों का समावेश हो, नैतिक स्तर बने, इसके लिए अनिवार्य है कि कथा प्रसंगों को, जिनमें सामान्यतया सभी रुचि लेते हैं, नियमित रूप से परिवार में कहा जाता रहे। इससे बहिरंग जीवन की समस्याओं के हल निकालने एवं मन:स्थिति के परिमार्जन करने का पथ सतत् प्रशस्त होता चलेगा।

बालकेभ्योऽभिरोचन्ते पशुपक्षिकथास्तथा।
परलोकाप्सरश्चर्चां उत्सुकास्ते कुतूहलम्॥ ५५॥
श्रोतुं मनोविकासाय युवभ्यः प्राय एव च।
ससाहसाः समाधात्र्यः कथाः रोचंत उन्नताः॥ ५६॥
वृद्धेभ्य ऋषि संबद्धा देवताचरितानुगाः।
धर्मप्रयोजना नूनं रोचंते च प्रसंगकाः॥ ५७॥
कथाश्चेमाः परोक्षेण रोचंते त्रिभ्य एव च।
श्रवणेऽस्मिंश्च पुण्यं तन्मनोरञ्जनमप्यलम्॥ ५८॥
चिंतनस्य चरित्रस्य व्यवहारस्यापि शोधनम्।
प्रशिक्षणं परिष्कारकारकं यदवाप्यते ॥ ५९॥
अस्मिन्ननुभवेन्नैव कोऽपि स्वस्मिन् कदाचन।
कटाक्षादिकमेतस्या बाधा नास्त्यपमानजा॥ ६०॥
बोधोऽप्ययं भवत्येव परिस्थितिषु च कासु च।
किं कार्यं पुरुषैरत्र विपद्भ्यो रक्षितुं स्वयम्॥ ६१॥
कथ भाव्यं सतर्कैश्चाऽवाञ्छितेभ्यः कथं तथा।
दूरैर्भाव्यं तथात्मा च रक्षणीयः सदा नरैः॥ ६२॥

टीका—बच्चों को पशु-पक्षियों की परीलोक की कथाएँ अधिक रुचिकर होती हैं। उनका मानसिक विकास कौतूहल सुनने के लिए उत्सुक रहता है। युवकों और प्रौढ़ों को अनुभव साहस प्रदान करने वाली, समस्याएँ सुलझाने और ऊँचा उठाने वाली कथाएँ अधिक सुहाती हैं। वृद्धों को ऋषियों, देवताओं, धर्मप्रयोजनों से संबंधित प्रसंग रुचते हैं। ये कथा प्रसंग परोक्ष रूप से उपरोक्त तीनों ही वर्गों को सुहाते हैं। इस श्रवण में पुण्य भी माना जाता है, मनोरंजन भी होता है और सबसे बड़ा लाभ परोक्ष रूप से चिंतन, चरित्र और व्यवहार को परिष्कृत करने वाला प्रशिक्षण मिलते रहने के रूप में हस्तगत होता रहता है। इनमें किसी को अपने ऊपर कटाक्ष व्यंग्य होने तथा अपमान होने जैसी अड़चन भी नहीं पड़ती और यह भी बोध होता रहता है कि किन परिस्थितियों में क्या करना चाहिए, विपत्तियों से बचने के लिए किस प्रकार सतर्क रहना चाहिए, किन अवांछनीयताओं से किस प्रकार दूर रहना और कैसे पीछा छुड़ाना चाहिए?॥ ५५-६२॥

कथा साहित्य किस वय के लिए कैसा हो, यह बहुत कुछ मानवी मनोविज्ञान पर निर्भर है। लक्ष्य सभी वर्गों की दृष्टि से एक ही रहता है, अप्रत्यक्ष रूप से उनके गुण, कर्म, स्वभाव को बदलने योग्य मन:स्थिति बनाना। व्यक्ति के अचेतन को स्पर्श कर वे उसे उद्वेलित कर हर परिस्थिति के लिए समाधान निकालने की समझ विकसित करते हैं। यह संसार विभिन्न प्रकार के प्रपंचों प्रतिकूलताओं से भरा है। जीवन जीने की सही दिशा मूल मिल सके, कथानकों में यही मूल उद्‌देश्य सन्निहित होता है। बालकों को उनकी जिज्ञासा का समाधान करने वाली अंतर्बुद्धि को विकसित करने वाली मध्य वर्ग की वय वालों को जोश दिलाने वाली सत्साहस की प्रेरणा देने वाली, व्यावहारिक जीवन की दैनंदिन समस्याओं का समाधान बताने वाली तथा ढलती आयु वाले वृद्धजनों को धर्मदर्शन, जीवन के मूल उद्‌देश्य, समाज, आराधना जैसे विषयों पर प्रकाश डालने वाली कथाएँ सुनाई जानी चाहिए। यह चयन न केवल आयु विभाजन की दृष्टि से अपितु उनके मानसिक विकास एवं अभिरुचि को देखते हुए उपयुक्त हैं।

बच्चों के लिए वे ही कथानक चुने जाएँ, जो उनका मनोरंजन तो करें ही, उन्हें सद्‌गुण अपनाने हेतु प्रेरणा भी दें। यह घटनाक्रमों के माध्यम से भी समझाया जा सकता है एवं जीव-जंतुओं, प्रकृति के अन्यान्य घटकों को माध्यम बनाकर भी।

कथानकेषु चैतेषु नरोन्नतिकराणि च।
श्रेष्ठानामिह नृणां च तान्युदाहरणानि तु॥ ६३॥
इत्थं बुद्धौ तु चेष्टंते प्रत्यक्षं सम्मुखे समे।
तिष्ठंत इव कृत्यं स्वमुपदेशं दिशंति नः॥ ६४॥
परिवाराय चाऽस्माभिर्यथा स क्रियते व्ययः।
दीयते समयोऽथापि क्रियते श्रम उत्तमः॥ ६५॥
तथैवेयं व्यवस्थाऽपि भवेदेव मिलेदयम्।

सत्संगावसरो नूनं परिजनस्य कृते सदा॥ ६६॥
ज्ञानमंदिररूपाच्च स्वाध्यायः पुस्तकालयात्।
कथाप्रसंगात्सत्संगो लाभरूपेण सम्मतौ॥ ६७॥
यावदस्य कुटुंबस्य स्तर उन्नतिमाव्रजेत्।
आशास्यते समैर्योग्यकर्मैतत्कार्यमेव तु॥ ६८॥

टीका—इन कथानकों में ऊँचा उठने वाले, आगे बढ़ने वाले श्रेष्ठ व्यक्तियों के उदाहरण इस प्रकार मस्तिष्क में घूमने लगते हैं, मानो वे सामने ही बैठे और अपना क्रियाकृत्य अनुभव एवं उपदेश हमें प्रस्तुत कर रहे हों। परिवार के लिए जिस प्रकार बहुत खरच किया जाता है, समय दिया और श्रम किया जाता है, उसी प्रकार यह व्यवस्था भी होनी चाहिए कि परिजनों को स्वाध्याय एवं सत्संग का अवसर मिलता रहे। ज्ञान मंदिर पुस्तकालय से स्वाध्याय का और कथा-प्रसंग से सत्संग का लाभ मिलते रहने पर परिवार का स्तर हर दृष्टि से समुन्नत होने की आशा बँधती है। इसलिए यह कदम उठाए ही जाने योग्य हैं॥ ६३-६८॥

कथानकों का, जीवन चरित्र प्रसंगों का, सबसे बड़ा लाभ यह है कि जिन महापुरुषों के हमें अब दर्शन नहीं हो सकते, उनसे स्वाध्याय के माध्यम से प्रत्यक्ष भेंट का प्रयोजन सध जाता है। यह एक प्रकार से परोक्ष सत्संग है। उनके विचार सत्साहित्य के पढ़ने-सुनने से ही हमें मिलते हैं, जो प्रगति की दिशा में बढ़ने की दिशा धारा देते हैं। परिवार के सदस्यों का जीवन स्तर ऊँचा उठाने प्रगति पथ पर द्रुतगामी से आगे बढ़ाने के लिए महापुरुषों का प्रत्यक्ष या परोक्ष मार्गदर्शन आवश्यक है। परोक्ष मार्गदर्शन घरेलू ज्ञान मंदिर पुस्तकालय से सहज सुलभ हो सकता है। इसके लिए परिवार के प्रत्येक सदस्य को स्वाध्याय के प्रति रुचि जाग्रत करनी चाहिए।

सत्साहित्य का स्वाध्याय मात्र बौद्धिक विकास के लिए ही नहीं, आत्मिक विकास के लिए भी आवश्यक है। योग साधना में भी स्वाध्याय साधना को एक अभिन्न अंग माना गया है। वह शौच, संतोष, तप एवं ईश्वराधना इन चार के समान महत्त्वपूर्ण पाचवाँ नियम है। आस्थाओं के अभिवर्द्धन एवं दृढ़ीकरण तथा चरित्र निर्माण के लिए स्वाध्याय अनिवार्य है।

धौम्य उवाच-

सुसंस्कृतं कुटुम्बं यद् भवितुं वाञ्छति स्वयम्।
स्वाध्यायस्य प्रकर्तव्या सत्संगस्य व्यवस्थितिः॥ ६९॥
तेन तस्मिन् कुटुंबे च भोजनस्येव सम्मतम्।
नित्यकर्मेव चेदं तु नृणामावश्यकं परम्॥ ७०॥
अस्मान्न्यूने कुसंस्कारनिवृत्तिर्नैव संभवा।
साधनाऽऽत्मन आहारस्तं बिना महता नहि॥ ७१॥

टीका—धौम्य पुनः बोले, सुसंस्कृत बनने के इच्छुक प्रत्येक परिवार में स्वाध्याय और सत्संग की नियमित व्यवस्था होनी चाहिए। उन्हें भोजन, शयन की तरह आवश्यक नित्यकर्म माना जाना चाहिए। इससे कम में कुसंस्कारों से निवृत्ति किसी को भी नहीं मिल सकती। साधना आत्मा का आहार है। उसके बिना क्षुद्र को महान् के साथ जुड़ने का सुयोग ही नहीं बनता॥ ६९-७१॥

महर्षि धौम्य यहाँ सुसंस्कारिता उपार्जन का महत्त्व समझाते हुए पुनः ज्ञानार्जन को सत्साहित्य के पठन-मनन एवं सत्पुरुषों श्रेष्ठ वातावरण के सत्संग पर जोर देते हैं। ये दोनों ही ऐसे नहीं हैं कि इन्हें ऐच्छिक मानकर जीवन में जब अवकाश मिले, तब के लिए छोड़ दिया जाए। यह तो नित्य प्रति के जीवन में समावेश की जाने वाली गुण संपदाएँ हैं, जो व्यक्ति को सुसंस्कृत बनाती, पारस के स्पर्श से लोहे को स्वर्ण बनाने के समान उसे श्रेष्ठता की पराकाष्ठा पर ले जाती हैं। वास्तविक ज्ञान पाकर ही अंधकार से प्रकाश की ओर, असत्य से सत्य की ओर, अशांति से शांति की ओर और स्वार्थ से परमार्थ की ओर उन्मुख होता है।

इसी प्रकार अज्ञान के निवारण आत्मसत्ता को समष्टि में संव्याप्त परमात्म सत्ता से एकाकार करने हेतु साधना को भी जीवन में अति महत्त्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए। अनगढ़ को सुगढ़ बनाने हेतु साधना का अवलंबन अत्यंत अनिवार्य है। वह अज्ञान मिटाए बिना संभव नहीं। स्वाध्याय, सत्संग एवं चिंतन-मनन की त्रिपदा साधना ही उस ज्ञान की सिद्धि का सहज उपाय है।

साधनाभिः कुटुंबे च भवेद् वातावृतिः शुभा।
आस्तिक्यभावसंपन्ना धर्मश्रद्धास्थितेः समा॥ ७२॥
भावना मान्यता नृणामाकांक्षा गतयश्च ताः।
अधोगा नैव जायंते तस्मादत्र गृहे गृहे॥ ७३॥
युगशक्तैराद्यशक्तेः प्रतिमा स्थापिता भवेत्।
महाप्रज्ञाभिधायास्तु गायत्र्याश्छविरेव वा॥ ७४॥
भोजनात्पूर्वमेवात्र सदस्याश्च समेऽपि चेत्।
नमनं वन्दनं कुर्युर्जपं ध्यानमथाऽपि च ॥ ७५॥
स्वल्पेऽपि समये सा वै साधनाऽप्यल्परूपिणी।
भावनात्मकशुद्ध्यर्थं सिद्धत्येव सहायिका॥ ७६॥

टीका—साधना द्वारा परिवार में आस्तिकता का वातावरण बनना चाहिए। धर्म श्रद्धा बनी रहने से व्यक्ति की भावनाएँ, मान्यताएँ, आकांक्षाएँ एवं गतिविधियाँ अधोगामी नहीं बनने पातीं। इस हेतु हर घर में आद्यशक्ति, युगशक्ति, महाप्रज्ञा गायत्री की प्रतिमा अथवा छवि की स्थापना रहनी चाहिए। भोजन से पूर्व सभी उसका नमन-वंदन तथा जप ध्यान थोड़े समय भी कर लिया करें, तो वह स्वल्प साधना भी भावनात्मक

पवित्रता बनाए रहने में बहुत सहायक सिद्ध होती है ॥ ७२-७६ ॥

संस्कारयुक्त वातावरण हर परिवार में बना रहे, इसके लिए उनकी आस्तिकता को जीवंत बनाए रखने के लिए उपयुक्त पोषण और मार्गदर्शन मिलता रहना चाहिए।

आस्तिकता ईश्वर विश्वास मनुष्य पर एक ऐसा अंकुश है, जिसमें उसे दुष्कर्मों का प्रतिफल देर-सवेर से मिलने का भय बना रहता है। साथ ही यह भी निश्चय रहता है कि नियामक सत्ता आज नहीं तो कल परसों सत्कर्मों का परिणाम प्रदान करेगी। भले-बुरे कर्मों का तत्काल फल न मिलते देखकर लोगों का मन कर्मफल के बारे में अनिश्चित हो जाता है, फलतः न तो दुष्कर्मों से डरते हैं और न सत्कर्मों के संबंध में उत्साहित होते हैं। ईश्वर के अस्तित्त्व और उसके कर्मफल विधान की निश्चितता पर विश्वास दिलाना आस्तिकता का प्रथम उद्देश्य है। सच्चे आस्तिक की चरित्रनिष्ठा डगमगाने नहीं पाती।

उपासना का लक्ष्य है ईश्वर की महानता के समीप पहुँचना, घनिष्ठ बनना। अर्थात् अपने चिंतन और चरित्र में ईश्वरीय विशेषताओं को भरते बढ़ाते चले जाना। ईश्वर विराट् है। उसकी उपस्थिति प्राणिमात्र में, कण-कण में अनुभव करते हुए चेतना के प्रति सद्भाव रखना, सद्व्यवहार करना साथ ही पदाथ संपदा को ईश्वर की अमानत मानकर उसका श्रेष्ठतम सदुपयोग करना यही हैं वे प्रतिक्रियाएँ जो उपासक के अंतःक्षेत्र में स्वाभाविक रूप से उभरनी चाहिए। आस्तिकता के दो प्रतिफल हैं, चरित्रनिष्ठा और समाजनिष्ठा। सच्चे ईश्वर विश्वासी को उदात्त और सदय बनना ही चाहिए। आत्मा के स्तर को परमात्मा जैसा ऊँचा उठा, क्षुद्रता को महानता में परिवर्तित करना, उपासना की भाव-भरी प्रेरणा है। जिसे यह लाभ मिलेगा वह पुरुष से पुरुषोत्तम बनकर रहेगा। सच्ची आस्तिकता के अभाव में लोग पूजा के फलस्वरूप मनोकामना पूरी कराने की आस लगाए रहते हैं और छुटपुट क्रियाकृत्यों के बदले पाप दंड से बच निकलने एवं सस्ते मोल में ईश्वर की अनुकंपा के चमत्कारी लाभ पाने की कल्पना करते रहते हैं।

भावनात्मक पवित्रता बनाए रखने के लिए आत्मोत्कर्ष की दिशा में अग्रसर होने के लिए, उपासना का क्रियाकृत्य करने के लिए परिवार के हर सदस्य को प्रेरित किया जाना चाहिए। भले ही वह न्यूनतम ही क्यों न हो? इस संदर्भ में नमन-वंदन सबसे छोटा और सरल कार्यक्रम है। गायत्री युग शक्ति है, उसी का प्रज्ञावतरण सामयिक समस्याओं का समाधान और उज्ज्वल भविष्य का सूत्र-संचालन करेगा। गायत्री की ऋतंभरा प्रज्ञा सार्वभौम और सार्वजनीन है। सद्विचारणा और सद्भावना की अधिष्ठात्री गायत्री माता की अभ्यर्थना ही युग साधना है। इसके लिए समस्त परिवारों को अपने घर के सभी परिजनों को अभ्यस्त करना चाहिए। जो अधिक समय गायत्री उपासना कर सकें वे वैसा करें, अन्यथा इतना तो किया ही जाना चाहिए कि नित्यकर्म के उपरांत घर का हर सदस्य प्रतिष्ठापित गायत्री माता के चित्र के सम्मुख हाथ जोड़कर आँख बंद करके मानसिक जप और आत्म संस्थान में प्रकाश के अवतरण का ध्यान करे। इसके बाद ही भोजन एवं अन्य कर्म किए जाएँ।

प्रतिमा स्थापित की जाए, पर उससे व्यर्थ की अपेक्षा न की जाए। नहीं तो वह एक अंधविश्वास बन जाता है, जो व्यक्ति को श्रम से विमुख कर भाग्यवादी बना देता है।

परिवर्तनवेलायां युगस्यात्र नवस्य च।
सृजनाय गृहस्थस्य योगदानं समस्य तु॥ ७७॥
अंशदानमपीहस्यान्नियमितं सुनियोजितम्।
नरैर्ज्ञानघटः स्थाप्यः स्त्रीभिर्धर्मघटः पृथक्॥ ७८॥
सत्प्रयोजनहेतोश्च कर्तव्यस्य धिया तु यत्।
नित्यं नियमरूपेण विहितं महदेव तु॥ ७९॥
अल्पमप्युच्यते पुण्यदायकं महदेव तु।
सुखशांतिप्रदा चास्य परिणतिः सोभयत्र तु॥ ८०॥

टीका—युग परिवर्तन की इस पुनीत वेला में नव सृजन के लिए हर सद् गृहस्थ का योगदान, अंशदान नियमित रूप से नियोजित होते रहना चाहिए। इसके लिए पुरुष ज्ञान घट की और नारियाँ धर्मघट की स्थापना करें। कर्त्तव्य भाव से सत्प्रयोजन के लिए नित्य नियमपूर्वक दिया गया थोड़ा सा अनुदान भी महान् पुण्यफल दायक होता और उसके परिणाम इस लोक और परलोक में सुख-शांति प्रदान करने वाले होते हैं॥ ७७-८० ॥

साधना, स्वाध्याय और सत्संग हेतु प्रेरणा उभारने के बाद महर्षि हर सद्गृहस्थ को निर्देश देते हैं कि उन्हें अपनी उदार परमार्थ परायणता को विकसित कर योगदान, श्रम, समय प्रभाव, ज्ञान एवं उपार्जन का एक अंश समाज के उत्थान के लिए सेवा रूप से नियोजित करना चाहिए, क्योंकि समाज के अनुदानों से ही मनुष्य आगे बढ़ पाता है सुख-सुविधाएँ पाता है। यदि लोग समाज के कोष से लेते ही रहें कुछ दें नहीं ऋण चुकाए नहीं तो भंडार खाली हो जाएगा। सभ्य-सुसंस्कृत लोग पिछड़ों को सुशिक्षित करने, सभ्य बनाने, ऊँचा उठाने आगे बढ़ाने का प्रयत्न न करें, तो वह परिवार समाज और राष्ट्र रसातल की ओर खिसकने लगेगा। अतः आत्मकल्याण एवं लोकमंगल के लिए सेवा साधना का क्रम अपनाना नितांत आवश्यक है।

पुण्य परमार्थ, लोकमंगल, जनकल्याण, समाजहित आदि

सेवा-साधना के ही पर्यायवाची नाम हैं और इसी में मनुष्य जीवन की सार्थकता है। जिन व्यक्तियों ने भी इस पद्धति से जीवन सार्थकता की साधना की मनुष्य और समाज का स्तर ऊँचा उठाने के लिए योगदान दिया, सामाजिक सुख-शांति में बाधक तत्वों का उन्मूलन करने के लिए प्रयत्न किए, समाज ने उन्हें सर आँखों पर उठा लिया। महापुरुषों के रूप में आज हम उन्हीं नर-रत्नों का स्मरण और वंदन करते हैं।

महर्षि व्यास ने महाभारत में कहा है जीवन: सफलं तस्य य परार्थोद्यत: सदा अर्थात् उसी का जीवन सफल है, जो सेवा में परोपकार में सदैव प्रवृत्त रहता है। परोपकार: पुण्याय परोपकार ही पुण्य का जनक है।

इतना ही नहीं गोस्वामी तुलसीदास जी ने तो यहाँ तक कह दिया है

परहित सरिस धर्म नहीं भाई।
परहित बस जिनके मन माँही।
तिन कहुँ जग दुर्लभ कछु नाही॥

सेवा के अनेकों मार्ग हैं। इनमें श्रमदान, अंशदान, समयदान और ज्ञानदान प्रमुख हैं। श्रेष्ठ सत्कर्मों के लिए सामान्य जनों का श्रमदान, नवनिर्माण के प्रयोजनों पीड़ा निवारण के सत्प्रयोजनों के लिए वरिष्ठों और समर्थों का अंशदान साधनदान और समयदान तथा मनुष्यों की पतनोन्मुखी अधोगामी प्रवृत्तियों को परिष्कृत करके उन्हें उत्कृष्टवादी बनाने के लिए विभूतिवानों, प्रतिभावानों का ज्ञानदान जिसके पास जो विभूति हो, वह उसे ही उसके लिए नियोजित करते रहने का नियमित क्रम बना लें भले ही वह न्यूनतम एवं आंशिक ही क्यों न हो, तो इतना बड़ा कार्य हो सकता है कि इतिहास में उसे स्वर्णाक्षरों से लिखा जा सके।

उपदेशं तु धौम्यस्य श्रुत्वाऽद्यतनमद्भुतम्।
अन्वभूवन् समे तत्र महत्तां पुरुषाः स्वयम्॥ ८१॥
क्रीणन्तीह श्रमेणाऽथ लग्नभावतयाऽपि च।
निर्मूल्यं नैव चायाति सोपहार इव स्वयम्॥ ८२॥
सुसंस्कृतं विधातुं च कुटुम्बं क्रियते यदि।
धनांशकालयोर्दानं मनोयोगस्य संस्थितिः॥ ८३॥
पण्यता हानिदा नेयं चिंत्यमेतन्मुहुर्महुः।
स्वीकर्तव्यमिदं सर्वं स्वर्गमानेतुमत्र हि ॥ ८४॥
स्वाध्यायस्यांशदानस्य साधनाया अथापि च।
सत्संगस्यानुदानं च संततं कर्तुमेव तैः॥ ८५॥
निश्चितं परिवारस्य कर्तुं चाऽपि परंपराम्।
संकल्पपूर्वकं श्रद्धापूर्वकं भावनामयैः ॥ ८६॥
समापनं च कुर्वन्तः सर्वे कार्यक्रमं ततः।
प्रसन्नाः प्रययुर्वासानभिनंदनपूर्वकम् ॥ ८७॥

टीका—आज का उपदेश सुनकर सभी ने अनुभव किया कि महानता श्रम व लगन से खरीदी जाती है। किसी को भी बिना मूल्य उपहार की तरह नहीं मिलती। परिवार को सुसंस्कृत बनाने के लिए यदि थोड़ा समयदान, मनोयोग और अंशदान लगाना पड़ता है, तो यह किसी भी प्रकार घाटे का सौदा नहीं है। यह बार-बार सोचना चाहिए तभी स्वर्ग, पृथ्वी पर लाया जा सकता है। साधना, स्वाध्याय, सत्संग और अंशदान के नियमित अनुदान प्रस्तुत करने और उसे परिवार की परंपरा बनाने के लिए सभी ने संकल्पपूर्वक श्रद्धापूर्वक भावनामय होकर निश्चय किया। समापन कार्यक्रम पूरा करते हुए अभिनंदनपूर्वक सभी लोग प्रसन्नचित्त से विदा हो गए॥ ८१-८७॥

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,
श्री धौम्य ऋषि प्रतिपादिते सुसंस्कारिता संवर्द्धन, इति प्रकरणो नाम षष्ठोऽध्यायः॥

॥ अथ सप्तमोऽध्यायः ॥

विश्व-परिवार प्रकरण

धौम्यश्चिंतनलग्नोऽभूत्कुटुंबस्य मयाऽत्र तु।
बोधितायां महत्तायामियत्यां कर्हिचित्समे॥ १॥
श्रोतारो मागमन् भ्रांतिं गृहप्रचीरगानि नः।
कर्तव्यानि तथैतानि दायित्वानि तु संति वै॥ २॥
सीम्नि तस्यां जनैरल्पैः सहादानप्रदानयोः ।
व्यवस्थायां च लिप्तेऽस्मिन् मनुष्ये भवबंधनम्॥ ३॥
सीमाबंधनमेतत्स्यान्मानवस्य स्थितिस्तु तम्।
कूपमंडूकतामेषा नेष्यतीह न संशयः ॥४॥
तदा देशस्य धर्मस्य समानायाश्च संस्कृतेः।
विषये नहि कोऽप्यत्र चिंतयिष्यति मानवः॥५॥
भ्रमोऽयं च समुत्पन्नो यदि चित्ते तु कस्यचित्।
तं भ्रमं तु निराकर्तुं समायाताऽनिवार्याता ॥६॥

टीका—महर्षि धौम्य सोचने लगे, परिवार की इतनी महत्ता बताने के कारण कहीं श्रवणकर्त्ताओं को यह मतिभ्रम न होने लगे कि घर की चहारदीवारी तक ही उनके कर्त्तव्य उत्तरदायित्व सीमित हैं। उतनी ही परिधि में थोड़े से लोगों के साथ आदान-प्रदान करते रहने भर में यह मनुष्य लिप्त हो गया, तो फिर वह सीमा बंधन का काम करेगा मनुष्य की स्थिति कूप-मंडूक जैसी बना देगा, इसमें जरा भी संदेह नहीं। तब कोई देश, धर्म, समाज, संस्कृति की बात सोचेगा ही नहीं। यह भ्रम यदि मेरे प्रतिपादनों से किसी को हुआ हो, तो उसका निराकरण समय रहते करने की आवश्यकता है॥ १-६॥

गृहान् स्वान् परिवारं च मन्येतात्र नरः सदा।
विद्यालयमिवाथापि व्यायामभवनं पुनः॥७॥
क्षेत्रेऽस्मिंश्च लघावाप्ता उपलब्धीर्नियोजयेत्।
हिते लोकस्य चात्रैव विद्यते नरजन्मनः॥८॥
सार्थक्यं परमेशस्य निहिताऽत्र प्रसन्नता।
प्रसन्ने परमेशे च न किमप्यस्ति दुर्लभम्॥९॥
संसार एव ब्रह्मास्ति विराट्क्षेत्रेऽत्र मानवाः।
स्वशक्तेः पुण्यबीजानि मुक्तहस्तं वपंतु ते॥१०॥
विश्वसेदपि चैतत्स्यात् सहस्त्रं परिवर्द्धितम्।
श्रेयसां परिणामे च यन्नैरिष्य ते सदा॥११॥
धौम्योऽथ निश्चिकायैतद्दातुं प्रोत्साहनं तथा।
परामर्शं तु तान् सर्वान् सदस्यान् भवितुं स्वतः॥१२॥
विश्वस्य परिवारस्य व्यवस्था विषयेऽस्य च।
योगदानं विधातुं स्यादपूर्णं यद्विना त्विदम्॥१३॥
तेन चापूर्णभावेन भ्रांत्युत्पत्तेरथापि च।
प्रगतेरवरोधस्य भयं तत्रोदितं महत् ॥१४॥
उपस्थिताँश्च जिज्ञासून् प्रतिगंभीरमुद्रया।
धौम्यः स्वकथनञ्चैवं प्रारब्धं स व्यधाच्छुभम्॥ १५॥

टीका—घर परिवार को व्यायामशाला, पाठशाला के समान माना जाना चाहिए। उस छोटे क्षेत्र में उपार्जित उपलब्धियों को लोकहित में नियोजित करना चाहिए। इसी में मनुष्य जन्म की सार्थकता और ईश्वर की प्रसन्नता सन्निहित है। परमेश्वर के प्रसन्न होने पर कुछ भी दुर्लभ नहीं है। यह संसार ही विराट् ब्रह्म साकार परमेश्वर है। इसके खेत में अपनी क्षमताओं को जी खोलकर बोना चाहिए और बदले में हजार गुने श्रेय सत्परिणामों का विश्वास रखना चाहिए और मानव मात्र का अभीष्ट भी यही है। आज धौम्य ने विश्व परिवार का नागरिक रहने विश्व-व्यवस्था को सँभालने में भाव भरे योगदान देने के लिए परामर्श प्रोत्साहन देने का निश्चय किया। इसके बिना सत्र का शिक्षण अधूरा ही रह जाता। उस अधूरेपन के कारण भ्रांति उत्पन्न होने, प्रगति उत्पन्न होने और रुक जाने का भी भय था। धौम्य ने उपस्थित जिज्ञासुओं की ओर उन्मुख होकर गंभीर मुद्रा में अपना मंगलमय कथन आरंभ किया॥ ७-१५॥

चिंतन की परिधि यदि अपने पारिवारिक परिजनों तक ही सीमित रहे, तो व्यक्ति समुदाय का एक अंग होते हुए भी अपने दायित्वों का अहसास न होने के कारण उपार्जन-उपभोग में ही जीवन किसी तरह काटकर अपने कर्त्तव्यों की इतिश्री समझ लेता है। वस्तुस्थिति यह है कि समाज के एक-एक घटक ने परिवार संस्था के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। एकाकी कोई नहीं जी सकता, न ही पनप सकता है। ऐसे में इक्कड़, स्वार्थप्रधान जीवन जीने वाले व्यक्ति संस्कृति, समुदाय, विश्ववसुधा के लिए कलंक ही सिद्ध होते हैं।

गृहस्थ जीवन, नारी, शिशु एवं वृद्धजन प्रकरणों को अपने तर्क सम्मत विवेचन द्वारा प्रस्तुत करने वाले महर्षि धौम्य का यह अनुमान सत्य ही है कि जानकारी के अभाव में कहीं भ्रांतियाँ न पनपने लगें। इसी कारण वे विचारते हैं कि परिवार के सदस्यों को बताया जाना चाहिए कि उनका कार्यक्षेत्र कितना विशाल है। जिन गुणों का अभ्यास गृहस्थाश्रम में करने हेतु उन्हें प्रेरित किया गया, उन्हें समष्टि में संव्याप्त विराट् ब्रह्म रूपी विश्व परिवार में भी लागू किया जाना चाहिए यह समझे बिना सारा प्रतिपादन अधूरा है। किसान अपने खेत में थोड़े से गेहूँ के दाने बोकर पूरे खेत में लहलहाती फसल काटता है। यही बोने व काटने की प्रक्रिया हर व्यक्ति को सत्प्रवृत्ति विस्तार के माध्यम से समग्र समाज पर लागू

करनी चाहिए। आराधना की यह प्रक्रिया प्रकारांतर से उसकी विश्व ब्रह्मांड के सभी घटकों के प्रति उऋण होने के रूप में संपन्न होनी चाहिए। इसी में उसका गौरव और बड़प्पन है।

धौम्य उवाच–

पारिवारिकभावं तु जानीयात्संगमं शुभम्।
समन्वयकृतं यत्र धार्मिकत्वमथापि च ॥ १६॥
आध्यात्मिकत्वमास्तिक्यं तत्त्वत्रयमपि स्थितम्।
साधनोपासनाऽऽराधनानां सिद्धिर्यतो भवेत्॥ १७॥
एनमाश्रित्य व्यक्तेश्च चरित्रं चिन्तनं तथा।
व्यवहारस्तरोऽभ्येति नित्यमेवोन्नतिं स्थिराम्॥ १८॥
परिवारस्तु प्रत्यक्षं शोधशालेव वर्तते ।
तत्र सम्मिलितैः सर्वैः सदस्यैराप्यतेऽनिशम् ॥ १९॥
कालः कौटुंबिकान् सर्वानादर्शाञ्ज्ञातुमप्यथ।
व्यवहर्तुं यदाश्रित्य पद्मायंते कुटुंबगाः॥ २०॥
सञ्चालयंति ये तस्य सूत्रं तेषां गुणेऽथ च।
स्वभावे कर्मणीहास्ति विशेषा हि परिष्कृतिः॥ २१॥
उन्नतस्तरमेतच्च परिवर्तनमद्भुतम् ।
प्रवृत्तिमेनां स्वीकृत्य मानवो बुद्धिमत्तमः ॥ २२॥
समर्थः प्रोन्नतश्चात्रापेक्षया ह्यन्यप्राणिनाम्।
जातः कारणमस्यास्ति परिवारिकपद्धतिः ॥ २३॥
नाभविष्यदिदं तस्मिन् वैशिष्ट्यं तर्हि सोऽपि तु।
जीर्णप्राणिस्थितौ प्राणानकरिष्यद्धि यापितान्॥ २४॥

टीका—धौम्य ने कहा, पारिवारिकता को एक ऐसा समन्वय संगम समझना चाहिए, जिसमें आस्तिकता, आध्यात्मिकता और धार्मिकता के तीनों ही तत्वों का समावेश है। इसे सही रूप से अपनाने पर उपासना, साधना और आराधना के तीनों ही प्रयोजन पूर्ण होते हैं। इसके सहारे व्यक्ति का चिंतन, चरित्र और व्यवहार का स्तर ऊँचा उठता है। परिवार एक प्रत्यक्ष प्रयोगशाला है, उसमें सम्मिलित रहने वाले सदस्यों को पारिवारिकता के आदर्शों को व्यवहार रूप में समझने, अपनाने का अवसर मिलता है। यही वह आदर्श है, जिसे अपनाने पर परिवार के सदस्य कमल पुष्प बन, विकसित होते हैं। जो उसका सूत्र संचालन करते हैं, उनके गुण, कर्म, स्वभाव में उच्चस्तरीय परिवर्तन परिष्कार संभव होता है। इस प्रवृत्ति को अपनाकर ही मनुष्य अन्य प्राणियों की तुलना में अधिक समर्थ, बुद्धिमान एवं प्रगतिशील बन सका, इसका प्रमुख कारण उसकी पारिवारिकता अपनाने वाली प्रवृत्ति ही है। यदि यह विशेषता न रही होती, तो उसे भी अन्य दुर्बलकाय प्राणियों की तरह गई-गुजरी स्थिति में जीवन व्यतीत करना पड़ता॥ १६-२४॥

परिवार संस्था एक ऐसा संगठन है, जिसमें मनुष्य अध्यात्म दर्शन एवं व्यवहारिक जीवन साधना के महत्त्वपूर्ण सोपानों को सीखता, जीवन में उतारता एवं उन्हें समाज परिवार में क्रियान्वित कर अपना मनुष्य जीवन सार्थक करता है। आस्तिकता अर्थात् निराकार परमसत्ता को विश्व ब्रह्मांड रूप में समाएँ होने की मान्यता को स्वीकार करना, आध्यात्मिकता अर्थात् स्व के संबंध में अपनी परमात्मा के वरिष्ठ पुत्र होने की स्थापना को परिपक्व बनाना एवं धार्मिकता अर्थात् विश्व उद्यान को श्रेष्ठ समुन्नत बनाने हेतु अपने सत्कर्मों को नियोजित कर देना। ये तीनों ही उपादान परिवार में रहकर भली-भाँति संपन्न होते रह सकते हैं। प्रकारांतर से ये ही उपासना, साधना, आराधना के क्रमशः पर्यायवाची हैं। इन्हीं से व्यक्ति महान् अथवा दुर्बल बनता है। पारिवारिकता एक दर्शन है, जिसे अपनाकर व्यक्ति स्वयं अपने चिंतन, चरित्र एवं व्यवहार को परिष्कृत करता एवं अपने माध्यम से अन्य अनेकों को ऊँचा उठाता, प्रगति पथ पर बढ़ाता है।

कुटुम्बं स्वं गृहस्थस्य सीमितं परिधौ सदा।
तिष्ठतीह तदाधारं कुलं तच्च कुटुंबकम् ॥ २५॥
विद्यंते तस्य नूनं च महत्ताऽथोपयोगिता ।
आवश्यकत्वमत्रैवं दायित्वं मौलिकं शुभम्॥ २६॥
परं ज्ञातव्यमेतन्न पारिवारिक एष च ।
आदर्शः सीमितः क्षेत्रे लघावियति केवलम्॥ २७॥
व्यापकः स च धर्मस्य दर्शनस्येव विद्यते।
परिधौ मीयते तस्य जगदेतच्चराचरम् ॥ २८॥
समाजरचनाऽप्येषा जाता सिद्धांततो भुवि।
परिवारस्थितिः वीक्ष्य राष्ट्राणां घटनं तथा॥ २९॥
सिद्धांतोऽयं धरायां च सम्यग्रूपेण संस्थितः।
यावत्तावद् भुवि स्वर्गतुल्या वातावृत्तिः स्थिता॥ ३०॥
ये मनुष्याः सदादर्शमिमं जानंत एव च।
व्यवहारे यथाऽगृह्णन् महत्त्वं ते तथाऽऽप्नुवन्॥ ३१॥
विभूतीरधिजग्मुस्त उत्तमोत्तमतां गताः।
साधु विप्रस्तरा वानप्रस्थस्तरगताः समे ॥ ३२॥
ओतप्रोता नरा आविर्भावनाभिर्निरंतरम् ।
सर्वान् स्वान् मन्वते ते च पश्यन्तीह स्वयादृशा॥ ३३॥
निरीक्षंते च यत्राऽपि दृश्यंते स्वे समेऽपि च।
आत्मभावोऽयमेवात्र कुटुंबत्वस्य लक्षणम्॥ ३४॥

टीका—निजी परिवार घर गृहस्थी की परिधि में सीमित रहता है। उसका आधार वंश कुटुंब है। उसकी भी अपनी महत्ता, उपयोगिता, आवश्यकता एवं जिम्मेदारी है, पर यह न समझना चाहिए कि पारिवारिकता का आदर्श इतने छोटे क्षेत्र में ही सीमित होकर रह जाता है। उसकी परिधि में यह सारा चराचर संसार समा जाता है। समाज की सरंचना परिवार सिद्धांत पर हुई है। राष्ट्रों का गठन भी इसी आधार पर हुआ है। यह सिद्धांत जब तक सही रूप में अपनाया जाता रहा,

तब तक इस धरातल पर स्वर्गोपम सतयुगी वातावरण बना रहा। जिन मनुष्यों ने इस आदर्श को जितना समझा और व्यवहार में उतारा, वे उसी अनुपात में महान् बनते चले गए। उन्हें एक से एक बढ़कर महान् विभूतियाँ उपलब्ध होती रहीं। साधु, ब्राह्मण, वानप्रस्थ स्तर के परमार्थ परायण व्यक्ति इसी भावना से ओत-प्रोत होते हैं। वे सबको अपना मानते हैं। आत्मीयता की दृष्टि से देखते हैं। जिधर भी आँख परसारते हैं सभी अपने दीखते हैं। यह आत्मभाव ही पारिवारिकता का प्रधान लक्षण है ॥ २५-३४ ॥

जो पारिवारिकता के दर्शन को अपने दैनंदिन जीवन व्यवहार में उतारते हैं, वे बदले में उतना ही प्रेम, श्रेय, सम्मान पाते हैं। सब अपने हैं, हम सबके हैं। दूसरों का दु:ख कष्ट ही हमारा दु:ख है। यदि ये भावनाएँ जीवंत रहें तो सारी वसुधा ही अपना परिवार लगती है। अपना कार्यक्षेत्र सारा समाज, राष्ट्र एवं विश्व वसुधा हो जाता है। परिवार के परिजनों, विशेषकर वानप्रस्थों के लिए तो यह आदर्श जीवन साधना का एक अनिवार्य अंग है।

व्यक्ति जिस वंश परिवार में जन्म लेता है, उसी तक उसके दायित्व हैं, यह मान्यता त्रुटिपूर्ण है। इस संबंध में व्याप्त भ्रांतियों को मिटाया जाना चाहिए, ताकि लोगों की उदार परमार्थ-परायणता विकसित हो एवं वे अपनी कार्य परिधि का विस्तार करें।

गतिशीलसमाजानां रचना घटनं तथा।
परिवारे विशाले च भवतोऽत्रानुशासनम् ॥ ३५ ॥
नियमाश्च विधीयंते तदाश्रित्य नरैः सदा।
वितरणस्य रक्षायाः क्रमोऽनेन चलत्यलम् ॥ ३६ ॥
सिद्धांतमिममाश्रित्य तथा राष्ट्रमपीदृशः।
व्यवस्था प्रमुखो नूनं समाजो विद्यते स्वतः ॥ ३७ ॥
दत्त्वा विश्वकुटुंबस्य मान्यतामग्रिमेषु च।
दिनेषु नियमाः सर्वे तथा निर्धारणानि च ॥ ३८ ॥
निर्मेयानि समानश्च सोऽधिकारो नृणामिह।
वसुमत्यां तथाऽस्याश्च खनिजेषु समेष्वपि ॥ ३९ ॥
क्षेत्रजासु च सीमासु संकोचमधिगत्य यः।
क्रमो विश्वविभूतेस्तु केषांचिद्धि नृणां कृते ॥ ४० ॥
बाहुल्यत्वेन केषांचित् स्वल्पत्वेन च सांप्रतम्।
चलत्येष भवेन्नायमागामिदिवसेषु तु ॥ ४१ ॥
संयुक्ता संपदाऽत्रास्ति कुटुंब उपयुज्जते।
यां समेप्यनिवार्याणां व्ययानां च प्रसंगतः ॥ ४२ ॥
नहि कश्चिद् विशेषं स्वमधिकारं वदत्यथ।
वञ्चितो नहि कश्चिच्च जायतेचाधिकारतः ॥ ४३ ॥

टीका—प्रगतिशील समाजों की सरंचना और संगठन विशाल परिवार के रूप में होता है। उसी आधार पर नियम अनुशासन बनते हैं। वितरण और संरक्षण का क्रम भी इसी सिद्धांत को ध्यान में रखते हुए चलता है। राष्ट्र भी व्यवस्था प्रधान समाज ही है। विश्व परिवार की मान्यता अपनाकर ही अगले दिनों नवयुग के समस्त नियम निर्धारण बनेंगे। धरातल और उसकी खनिज संपदा पर मानव समाज के समस्त सदस्यों का समान अधिकार होगा। क्षेत्रीय सीमाओं में बँधकर विश्व संपदा को किन्हीं के लिए बहुत और किन्हीं के लिए नगण्य होने का जो क्रम इन दिनों चल रहा है, वह अगले दिनों न रहेगा। परिवार में संयुक्त संपदा होती है और उसका उपयोग सभी अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप कर सकते हैं। न कोई विशेष अधिकार जताता है और न किसी को वंचित रहना पड़ता है ॥ ३५-४३ ॥

यहाँ आध्यात्मिक साम्यवाद की रूपरेखा स्पष्ट करते हुए ऋषि कहते हैं कि सभी का हित इसमें है कि सब मिल-जुलकर एक विशाल कुटुंब के परिजन के रूप में विकसित हों। परिवार राष्ट्र की एक छोटी इकाई है। ऋषि सत्ता का यह संकल्प है कि पारस्परिक मतभेद विग्रह मिटें एवं सारे विश्व में एक कौटुंबिक भावना का विकास हो। जो भी कुछ उपार्जन है, सबका मिलकर है, वह किसी एक की संपदा नहीं, यह स्पष्ट जान लेना चाहिए। विश्व परिवार में उपभोग हेतु सभी स्वतंत्र हैं। जैसे कि किसी परिवार में सभी सदस्य अपनी-अपनी सीमा मर्यादा में रहकर जिम्मेदारी भी निभाते हैं एवं उपार्जन का आनंद भी लेते हैं, उसी प्रकार बृहत्तर परिवार के रूप में, कम्यून के रूप में संस्थाएँ विकसित होनी चाहिए। इसी में विश्व मानवता का कल्याण है। इसके लिए अंत: की सदाशयता तो विकसित करनी ही होगी परस्पर एक दूसरे के चिंतन से संगति बिठाते हुए अपने व्यवहार को भी लचीला बनाना होगा। सारे पूर्वाग्रह, दुराग्रह मिटाकर अपने चिंतन के दायरे को विस्तृत करना होगा, ताकि विश्व परिवार की परिकल्पना साकार रूप ले सके।

इस समन्वयवाद का मूल वेदों में स्पष्ट रूप से मिलता है। ईशोपनिषद् के प्रथम मंत्र में ही मानव जीवन की सफलता, सार्थकता का जो मार्ग बतलाया गया है, उसमें समन्वय का सार आ गया है। ऋषि कहते हैं

ईशावास्यामिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

अर्थात् इस विश्व में जो कुछ भी दिखाई पड़ता है, वह सब ईश्वर से व्याप्त है, इसलिए उसका उपयोग त्यागपूर्वक करो, धन किसी एक का नहीं हो सकता।

शास्त्रों में स्पष्ट कहा गया है कि यह समस्त संसार भगवान् का है, किसी एक व्यक्ति का नहीं, अत: इसकी वस्तुओं पर अनुचित रीति से अधिकार न जमाकर उसे समाज

हित में सदुपयोग किया जाए। समाज के हित में ही अपना हित समझा जाना चाहिए। सामूहिकता की भावना को विकसित करके ही समष्टि में विश्व विराट् में विस्तार पाना सुनिश्चित है।

परिवारे समर्थाश्चासमर्थाः सर्व एव हि।
यथाशक्ति श्रमं कृत्वा लाभं यान्ति तथेप्सितम्॥ ४४॥
भवत्येष कुटुंबस्य स्तरश्च समतां गतः ।
भेदः संपन्नतायाः स दारिद्र्यस्याऽपि नास्ति च॥ ४५॥
संयुक्ताऽस्ति समेषां च संपत्तिः समये तथा।
विशेषे पूर्यते वाञ्छाऽनिवार्या तत एव च ॥ ४६॥
निर्वाहः स च सामान्यः सर्वेषां भवतीह च।
आगामिषु दिनेष्वेतत् भवेत् प्रचलनं सदा ॥ ४७॥
संपदा स्यात्समाजस्य समैर्नागरिकैः स्तरः।
समान एव स्वीकार्यो निर्वाहस्य भविष्यति॥ ४८॥
न कश्चिद् धनवान्नैव निर्धनो वा भविष्यति।
धरित्र्याश्च सुताः सर्वे महतो मनुजन्मनाम् ॥ ४९॥
कुटुंबस्य सदस्यत्वं गताः प्राप्स्यंति निश्चितम्।
साधनानि समानानि सम्मानं सममेव च ॥ ५०॥

टीका—परिवार में समर्थ-असमर्थ अपनी क्षमता के अनुरूप श्रम करते और आवश्यकता के अनुरूप लाभ लेते हैं। पूरे परिवार का स्तर एक जैसा होता है। इनमें किसी मे भी दरिद्र या संपन्न होने जैसा भेदभाव नहीं देखा जाता। संपत्ति सब की संयुक्त होती है। विशेष अवसरों पर उसी संचय में से सबकी विशेष आवश्यकताएँ भी पूरी होती रहती हैं। सामान्य निर्वाह तो सबका एक जैसा होता है। अगले दिनों यही प्रयत्न चलेगा। संपदा समाज की होगी। सभी को औसत नागरिक स्तर का निर्वाह अपनाना पड़ेगा। न कोई धनी बन सकेगा और न निर्धन रहेगा। धरती माता के सभी पुत्र एक विशाल मानव परिवार के सदस्य बनकर एक समान सम्मान एक समान साधन उपलब्ध करेंगे॥ ४४-५०॥

वृहत् परिवार में असमानता नहीं होनी चाहिए। किसी को, अधिक सुविधा मिले, किसी को कम, यह नीति हर दृष्टि से असंतोष विग्रह पैदा करती है इसलिए परिवार संस्था में सभी को आवश्यकतानुसार समान रूप से साधन उपलब्ध रहते हैं। विशेष रूप से यह तैयारी मानसिक धरातल पर एवं अंत:करण के स्तर पर अभी से ही हो जाना चाहिए। हर व्यक्ति एक दूसरे के प्रति अधिक से अधिक उदार हो, अपने प्रति कठोर हो एवं सादगी अपनाता हो, तो वह परिवार संस्था आदर्श रूप में विकसित होती है। आने वाले समय को दृष्टि में रखते हुए यह प्रचलन अभ्यास रूप में अभी से लाया जाना अनिवार्य हो गया है। इसी में सबकी भलाई है।

लघूनां परिवाराणां भाषा संस्कृतिरेव च ।
भवत्येकैव विश्वस्मिन् भाषाऽऽगामि दिनेषु तु॥ ५१॥
प्रयुक्तास्यादि हैकस्या मानव्याः संस्कृतेरथ।
अनुरूपं चिन्तनं स्याद् भवेच्च चरितं तथा ॥ ५२॥
एक एव च धर्मः स्याद् विश्वस्मिन सकलेऽपि ते।
नियमास्तु समानाः स्युर्मानवेषु समेष्वपि ॥ ५३॥
निर्विशेषं च ये तत्र प्रभविष्यंति पूर्णतः ।
अनुशासनमप्येवं निर्विशेषं भविष्यति ॥ ५४॥
अवसरस्तत्र भेदानां कृते नैव भविष्यति ।
यमाश्रित्य समर्थानां हस्तगाः सुविधाः समाः॥ ५५॥
भवेयुस्तेऽसमर्थाश्च दुर्भाग्याय तथाऽऽत्मनः।
द्रुह्यन्तु रोगशोकार्तिपीड़िताः संतु जीवने ॥ ५६॥
क्षेत्राणां च निजानां वा वर्गाणां च कृतेऽधुना।
संति प्रचलनान्यत्र निर्मीयंतेऽपि यानि च॥ ५७॥
संसारपरिवारे च निर्मिते स्युर्न ते क्वचित्।
व्यवस्था वाऽथ मर्यादा स्यातामत्र विनिर्मितिः॥ ५८॥
उभे भुवः क्वचित्कोणे वसत्सु नृषु पूर्णतः।
वंशजात्यादि भेदाच्च रहिते प्रभविष्यति ॥ ५९॥
तत्र वर्गविशेषस्य हितानां न भविष्यति ।
ध्यानं विश्वव्यवस्थायाः सौविध्यस्यैव केवलम्॥ ६०॥

टीका—छोटे परिवार की भाषा एवं संस्कृति एक होती है। अगले दिनों विश्व भर में एक भाषा बोली जाएगी। एक मानव संस्कृति के अनुरूप सभी का चिंतन और चरित्र ढलेगा। एक धर्म पलेगा। समस्त संसार पर मनुष्य मात्र घर लागू होने वाले एक जैसे नियम अनुशासन बनेंगे। ऐसे भेदभावों की कोई गुंजाइश न रहेगी, जिनकी आड़ में समर्थों के हाथ में विपुल सुविधा रहे और असमर्थ दुर्भाग्य को कोसते रहें तथा जीवन भर रोग-शोक दु:ख से पीड़ित रहें। अपने-अपने क्षेत्रों और वर्गों की सुविधा के लिए इन दिनों जो प्रचलन बनते और चलते हैं, वे विश्व परिवार बनने पर कहीं भी दृष्टिगोचर न होंगे। जो भी व्यवस्था या मर्यादा बनेगी वह धरती के किसी भी कोने में रहने वाले किसी भी जाति वंश एवं लिंग के व्यक्ति के ऊपर समान रूप से लागू होगी। उसमें विशेष वर्गों के विशेष हितों का नहीं, विश्व व्यवस्था और सर्वजनीन सुविधा का ध्यान रहेगा॥ ५१-६०॥

हम अमुक समाज के राष्ट्र के निवासी हैं। हमारे दायित्व देश की सीमा तक ही सीमित हैं। नीति-अनीति जैसी भी बने देश के हित के लिए किया जाना चाहिए। राष्ट्रों की इस संकीर्ण स्वार्थपरतायुक्त नीति के कारण ही परस्पर विग्रह खड़े होते हैं और तनाव बढ़ते हैं। स्वस्थ राष्ट्रीय भावना देश के विकास के लिए उपयोगी भी है और आवश्यक भी, किंतु यह भावना जब इसी परिधि तक सीमित हो जाती है तो विश्व शांति को आघात पहुँचता है, एवं वसुधैव कुटुंबकम् की

स्थिति नहीं आने पाती।

प्रज्ञा युग में जो आने वाले समय की एक सुनिश्चित संभावना है, सभी लोग विश्व को अपने एक विशाल घर के रूप में देखते हुए विश्वव्यवस्था में अपना भाव भरा योगदान देंगे। प्रचलनों के प्रति दुराग्रह मिटेंगे एवं सब ओर सभी में एकता, समानता और बंधुत्व की भावना जागृत होकर विश्वव्यापी बनेगी और समाज-शिल्पी ऋषियों की वह अमृतमय वाणी स्थान-स्थान पर जन-जन के मन में गुंजित, मुखरित, प्रतिध्वनित और कार्यान्वित होती देखी जाएगी जिसमें उन्होंने हमें आदेश देते हुए कहा है

संगच्छध्वम् संवदध्वम् तुम्हारी गति और वाणी में एकता हो। समानो प्रजा सहवोऽन्नभागः तुम्हारी खाने-पीने के स्थान व भाग एक जैसे हों। समानो मंत्रः समितिः समानी तुम्हारी सभी समितियाँ एक समान हों और तुम्हारे विचारों के सामंजस्य में एकरूपता हो। समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः। तुम्हारे हृदय के संकल्प व भावनाएँ एक सी हों।

अज्येष्ठासोऽकनिष्ठासः सं भ्रातरो वावृधु सौर्भगाय हम सब प्रभु की संतान एक दूसरे के भाई-भाई हैं। हममें न कोई छोटा न कोई बड़ा। हम सब एक हैं, यह उत्कृष्ट भावना ही मनुष्य को विश्व विराट में समाकित करने वाली और अविजेय बनाने वाली है। भेदभावों का मिटना इस दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम है।

सेनया विश्वराष्ट्रस्य कार्यं सेत्स्यति चैकया।
मतभेदा निरस्ताः स्युः पञ्चायतननिर्णयात् ॥ ६१ ॥
युद्धानि विश्वसेना च रोत्स्यति सर्वतः स्वयम्।
तत्तत्स्थानव्यवस्था तु कृता स्याद्राजपूरुषैः ॥ ६२ ॥
ईदृश्यां च स्थितावत्र सैन्यसाधनसंभवः।
व्ययोऽनपेक्षितः स्यात्सहितमेतन्महन्नृणाम् ॥ ६३ ॥
प्रयोजनेषु चैतेषु राशिर्यो विपुलोऽधुना।
व्ययमेत्यवशिष्टं तं शिक्षायां स्वच्छताविधौ ॥ ६४ ॥
स्वास्थ्य उद्योग एवं च कृषिसिञ्चनकेऽथवा।
उत्पादनेष्वनेकेषु चोपयोक्ष्यंति पूर्णतः ॥ ६५ ॥
ईदृश्यां च दशायां हि संकटाभावविग्रहाः।
दृग्गोचरा भविष्यंति नैव कुत्राऽपि कर्हिचित् ॥ ६६ ॥
दरिद्राः पतिता रुग्णा उद्विग्ना मानवा नहि।
द्रष्टुं शक्या धरायां तु कुत्रचित्केनचिद्ध्रुवम् ॥ ६७ ॥
पारिवारिकभावे च याते व्यापकतां तथा।
सर्वत्र स्वीकृते सत्ययुगः स आगमिष्यति ॥ ६८ ॥
प्रत्येकस्मिन् मनुष्ये च द्रक्ष्यते दैवमुत्तमम्।
औत्कृष्ट्य विपदो जाता समस्याभीतयस्तथा ॥ ६९ ॥
व्यग्रभावादतश्चात्र कुटुंबादर्शस्वीकृतौ।
अवाञ्छितेभ्य एतेभ्यो रिक्तं स्थानं न संभवेत् ॥ ७० ॥

टीका—विश्वराष्ट्र की एक सेना रहने से काम चल जाएगा। मतभेदों को पंचायतों के माध्यम से सुलझाया जाएगा। युद्धों को विश्व सेना रोकेगी। स्थानीय व्यवस्था भर के लिए क्षेत्रीय पुलिस से काम चल जाया करेगा। ऐसी दश में सैन्य साधनों पर होने वाले खरच की तनिक भी आवश्यकता न रहेगी और यह मनुष्यों का बहुत बड़ा हित होगा। उस प्रयोजन के लिए इन दिनों जो विपुल राशि खरच होती है, उसे बचाकर शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वच्छता, सिंचाई, उद्योग, विविध उत्पादन आदि में लगाया जा सकेगा। ऐसी दशा में न कहीं अभाव, संकट और विग्रह दृष्टिगोचर होंगे और न मनुष्यों को दरिद्र, पतित, रुग्ण स्थिति में देखा जा सकेगा। पारिवारिकता की विधा व्यापक बनने और सर्वत्र अपनाई जाने पर फिर सतयुग की वापसी संभव हो सकेगी। हर मनुष्य में देवताओं जैसी उत्कृष्टता के दर्शन होंगे। विपत्तियाँ, समस्याएँ और विभीषिकाएँ तो आपा धापी के कारण उत्पन्न हुई हैं। पारिवारिकता का आदर्श अपनाने पर इस अवांछनीयता के लिए कहीं कोई स्थान रह नहीं जाएगा॥ ६१-७० ॥

ऋषि श्रेष्ठ यहाँ सतयुग की, प्रज्ञायुग की एक झाँकी दिखाते हुए व्यक्त करते हैं कि वर्तमान विपत्तियों से भरी परिस्थितियाँ तभी मिटेंगी, जब विश्व में एकत्व एवं ममत्व के आधार पर पारिवारिकता की पृष्ठभूमि बनने लगेगी। जब हर व्यक्ति एक दूसरे में स्वयं को ही प्रतिबिंबित देखेगा, दूसरों का दुःख दर्द अपना लेगा, तो विग्रह एवं अभावजन्य विभीषिकाओं के घटाटोप स्वयं ही दूर हो जाएँगे। मनुष्य का देवत्व जगेगा एवं धरती पर स्वर्गोपम परिस्थितियाँ विनिर्मित होंगी।

सहृदयता की अंतःस्थिति व्यापक बनने पर उद्धत महत्वाकांक्षाओं के कारण होने वाले, क्षेत्रीय परिधि के विस्तार को लेकर लड़े जाने वाले युद्ध स्वतः रुक जाते हैं एवं करुणाशक्ति प्रज्ञा उसका स्थान ले लेती है।

विनाशसंकटाश्चात्र महाप्रलयसदृशाः।
दृश्यंते वर्द्धमानास्तु गर्जंतः सर्वतो भुवि ॥ ७१ ॥
पारिवारिकतावायौ चलतीह न कुत्रचित्।
सत्ताज्ञानं भवेदेषा प्रातर्जातेऽरुणोदये ॥ ७२ ॥
तिरोहितं तमो नृणां पश्यतां जायते यथा।
तथा विश्वकुटुंबस्य भावनायाः शुभोदये ॥ ७३ ॥
जातेऽथापि व्यवस्थायां निर्मितायां भवेन्नहि।
त्रास उद्विग्नको येन दैन्यगाः स्युर्नरा बलात् ॥ ७४ ॥

टीका—महाप्रलय जैसे विनाश संकट इन दिनों पृथ्वी में सर्वत्र घुमड़ते-गरजते दीखते हैं। उनमें से एक का भी पारिवारिकता का पवन चलते ही कहीं पता न चलेगा। प्रातःकाल का अरुणोदय होते ही अंधकार देखते-देखते ही तिरोहित हो

जाता है। उसी प्रकार विश्व परिवार की भावना जगने और व्यवस्था बनने पर वैसा कोई त्रास रहेगा नहीं, जो मनुष्य को खिन्न, उद्विग्न करे और उसे गई गुजरी स्थिति में रहने के लिए विवश करे॥ ७१-७४॥

यहाँ ऋषि प्रवर जन सामान्य को आश्वासन देते हैं कि इन दिनों पृथ्वी पर सर्वत्र संव्याप्त विभीषिका महाप्रलय जैसे विनाश संकट जो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहे हैं, वह मानवीय सद्बुद्धि विवेक के जागृत होते ही तिरोहित हो जाएँगे। विश्व परिवार, विश्व बंधुत्व की भावना जागृत होने और तदनुरूप व्यवस्था बनाने पर सभी एक दूसरे की प्रगति उत्थान के लिए ही कार्य करते देखे जाएँगे। गायत्री मंत्र के अंतिम चरण में अपनी निज की ही नहीं, समस्त समाज की प्राणी मात्र की यथार्थ प्रगति की कामना की गई है और परम सत्ता से प्रार्थना की गई है कि सर्वतोमुखी प्रगति की आधार शिला सद्बुद्धि विवेक को हम सबके अंत:करण में प्रतिष्ठापित करें। ऋतंभरा प्रज्ञा की शरण में हमारी अंत:चेतना को नियोजित कर दें। सन्निकट एवं सुनिश्चित संभावी प्रज्ञायुग में उसी को प्राप्त करने के लिए जन-जन के मन में उत्कट-उत्कृष्ट आकांक्षा, आतुरता एवं तत्परता की भावना दिखाई देगी और लोग वसुधैव कुटुंबकम् की भावना से ओत-प्रोत होकर कार्य करेंगे, तब समस्त समाज में अमन-चैन एवं सुख-शांति का वातावरण बनेगा।

केवलं न मनुष्या हि विश्वस्य परिवारगाः।
पशवः पक्षिणश्चात्र संगताः संति पूर्णतः॥ ७५॥
निर्दयत्वस्य चाऽनीतेरंतः स्याच्च तदैव तु।
तेषामपि ययोरत्र व्यवहारस्तु तैः सह ॥७६॥
क्रियते मनुजैः क्रूरैर्यदास्युर्भावनाः शुभाः।
कौटुंबिकस्य सर्वत्र विस्तृतास्तु गृहे गृहे॥ ७७॥
विश्वकल्याणमेतच्च संबद्धं ज्ञायतां ध्रुवम्।
अविच्छिन्नतयामर्त्यकल्याणस्यातिशायिनः॥ ७८॥
पारिवारिकता भावैः प्रक्रियां व्यापिकां ततः।
विधातुं यतनीयं च मर्त्यविश्वकुटुंबजाम्॥ ७९॥
भविष्यदुज्ज्वलं चैतत्सम्बद्धं च यया सह।
अजस्रं सुखशांत्योश्च यत्रावतरणं तथा॥ ८०॥

टीका—विश्व परिवार में मात्र मनुष्य ही नहीं, पशु पक्षी भी सम्मिलित होते हैं। उनके साथ बरती जाने वाली अनीति, निर्दयता का अंत भी पारिवारिकता की भावनाओं का विस्तार होने पर ही बन पड़ेगा। विश्व कल्याण अति व्यापक मानव कल्याण की पारिवारिकता की भावना के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ समझा जाना चाहिए। विश्व परिवार की मानव परिवार की उस प्रक्रिया को व्यापक बनाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए, जिसके साथ उज्ज्वल भविष्य और अजस्र सुख-शांति का अवतरण अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है॥ ७५-८०॥

विश्व परिवार की परिधि बहुत विशाल एवं व्यापक है। उसमें समस्त प्राणिजगत आ जाता है। मनुष्यों, जीव-जंतुओं, पशु-पक्षियों, वृक्ष-वनस्पतियों आदि का समुच्चय मिलकर एक विशाल परिवार का स्वरूप बनता है। अब नियंता की व्यवस्थानुसार चराचर में कौटुंबिक भावना का विस्तार होगा, तब न कहीं कलह रहेगी न विग्रह। सब एक दूसरे को प्यार करेंगे, सम्मान देंगे एवं परस्पर प्रतिद्वंद्विता छोड़कर एक दूसरे को ऊँचा उठाने, आगे बढ़ाने का प्रयास करेंगे। बदली हुई मन:स्थिति से वर्तमान में संव्याप्त विभीषिकाओं का घटाटोप निरस्त होता चला जाएगा और पारिवारिकता की विश्व वसुधा के हर जीवधारी को अपना मानने की भावना विकसित विस्तृत होगी, तब सतयुग की, प्रज्ञायुग की संभावनाएँ निश्चित ही साकार होने लगेंगी। चारों ओर सुख-समृद्धि के साथ शांतिमय वातावरण दृष्टिगोचर होगा और समस्त दिशाओं में शास्त्रोक्त वाणी

सर्वे भवंतु सुखिनः सर्वे संतु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यंतु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्॥

की शुभकामना जन-जन के अंत:करण से प्रस्फुटित, प्रतिध्वनित और कार्यान्वित होती सुस्पष्ट देखी जा सकेगी। अत: आवश्यकता इस बात की है कि लोग तदनुरूप मन:स्थिति बनाकर नियंता के सृष्टि संचालक के विश्व वसुधा को समुन्नत बनाने में अपना भावभरा योगदान प्रस्तुत करें।

सत्रं साप्ताहिकं यस्मिन् परिवारप्रशिक्षणम्।
कृतं धौम्येन तत्त्वद्य समाप्तं विधिपूर्वकम् ॥८१॥
कुंभस्नानार्थिनां नृणां कार्यकालोऽपि निश्चितः।
पूर्ण आरण्यकं गन्तुं महर्षेरपि चेप्सितम् ॥८२॥
विसर्जनं ततश्चास्य ज्ञानयज्ञस्य निश्चितम्।
कर्तुं विवशता जाता महर्षेः करुणात्मनः ॥८३॥
श्रोतारः स्वेषु चेतः सु सत्रसंयोजकस्य ते।
भावपूर्णं व्यधुः सर्वेऽप्यभिनंदनद्य तु ॥८४॥
आत्मानं कृतकृत्यं चाप्यनयाऽमृतवर्षया ।
मेनिरे चित्तमेषां च श्रद्धा भावभृतं ह्यभूत् ॥८५॥
श्रुतं ज्ञातं च यत्तत्तु करिष्यामः क्रियान्वितम्।
प्रयोजनस्य सिद्धिः सा क्रियाधीनैव वर्तते॥ ८६॥
उपदेशः परामर्शः केवलं मार्गदर्शनम् ।
उत्साहस्याथ सञ्चारे समर्थास्तु भवन्तु ते ॥८७॥
कथनाच्छ्रवणान्नैव कार्यं सिद्ध्यति कस्यचित्।
संकल्पानन्तरं कार्यं कुर्यादेव क्रियान्वितम्॥ ८८॥

टीका—महर्षि धौम्य का एक सप्ताह का परिवार शिक्षण सत्र आज विधिपूर्वक समाप्त हुआ। कुंभ स्नान के लिए आए

हुए लोगों का निर्धारित कार्यकाल भी पूरा हो गया। महर्षि को भी अपने आरण्यक आश्रम में जाना था। अस्तु, परमकारूणिक ऋषि को उस ज्ञान यज्ञ को समापन करने की विवशता थी। श्रोताओं ने मन ही मन सत्र संयोजक ऋषि का भाव-भरा अभिवंदन किया और अपने को इस अमृत वर्षा से कृतकृत्य हुआ माना। सभी का मन इस भाव श्रद्धा से भरा हुआ था कि जो सुना समझा है, उसे कार्यान्वित भी करेंगे। प्रयोजन की सिद्धि तो करने से होती है। उपदेश परामर्श तो मात्र मार्गदर्शन करते और उत्साह भरने तक के काम आते हैं। कथन श्रवण भर से कुछ काम नहीं चलता। कार्य को, संकल्प के बाद क्रियान्वित करना अनिवार्य है॥ ८१-८८॥

भविष्यति च कुत्रस्यात्सत्रमेवं विधं कदा।
पुलकिता गमनोत्कास्ते पप्रच्छुः सादरं ततः॥ ८९॥
उदतारीदृषिः सर्वे भवंतः पर्वजेषु हि।
आयोजनेषु सर्वत्र संगताः स्युः सदैव तु॥ ९०॥
ईदृशी लोकशिक्षाया व्यवस्था तत्र प्रायशः।
भवतीति समैस्तत्र लाभः प्राप्तव्य उत्तमः॥ ९१॥
समापन समारोहे सर्वैरेव विशेषतः।
उत्साहो दर्शितस्तत्र महर्षेर्दिव्य चक्षुषः॥ ९२॥
प्रयोजनाय दिव्याय चानुदानानि तैर्नरैः।
प्रस्तुतानि निजान्यत्र भावपूर्णानि विह्वलैः॥ ९३॥
अभिवादनकार्यस्य क्रमस्तत्राशिषामपि।
चचालाभूत्समाप्तश्च जयघोषपुरस्सरम्॥ ९४॥
ज्ञानयज्ञः समेषां च विश्वमेतच्चराचरम्।
परिवारगतं साक्षाद् बुद्धावुद्बुद्धतां गतम्॥ ९५॥
प्रस्थितानां गृहास्तेषां जाता वृक्षा क्षुपा अपि।
पारिवारिकतां याता गोप्तारो जीवनस्य च॥ ९६॥

टीका—भविष्य में ऐसा सत्र कब और कहाँ होगा? यह प्रश्न पुलकित मन से विदा लेने वाले आदर सहित पुछने लगे। ऋषि ने कहा, आप लोग पर्व आयोजनों में सम्मिलित हुआ करें। वहाँ प्रायः ऐसे ही लोकशिक्षण की व्यवस्था रहती है। अतः सभी को वहाँ उत्तम लाभ प्राप्त करना चाहिए। सभी ने समापन समारोह में विशेष उत्साह दिखाया। ऋषि प्रयोजन के लिए अपने भाव भरे अनुदान भी विह्वल होकर प्रस्तुत किए। अभिवादन और आशीर्वाद का क्रम चला। जयघोष के साथ उस ज्ञानयज्ञ का समापन हो गया। सभी को समस्त चराचर विश्व अपनी बुद्धि में एक परिवार के रूप में उद्बुद्ध सा होने लगा। घर लौटते हुए सभी को पेड़-पौधे तक अपने जीवन रक्षक पारिवारिक सदस्यों के समान दृष्टिगोचर होने लगे॥ ८९-९६॥

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः, श्री धौम्य ऋषि प्रतिपादिते विश्वपरिवार, इति प्रकरणो नाम सप्तमोऽध्यायः॥